'साहित्यिकी' डा० व्रज किशोर मिश्र स्मारक ग्रन्थमाल

युगमनु - प्रसाद

सम्पादक

डा० व्रज किशोर मिश्र

[illegible]

प्रकाशक
सुखदेव प्रसाद महरोत्रा
प्रभाकर, साहित्यरत्न,
प्रतिभा प्रकाशन,
मुरादाबाद

प्रथम संस्करण, प्रसाद जयन्ती १९६३

मूल्य ८ रु० २५ न० पै०

मुद्रक :
अर्जुन स्वरूप मेहरोत्रा
प्रतिभा प्रेस, मुरादाबाद
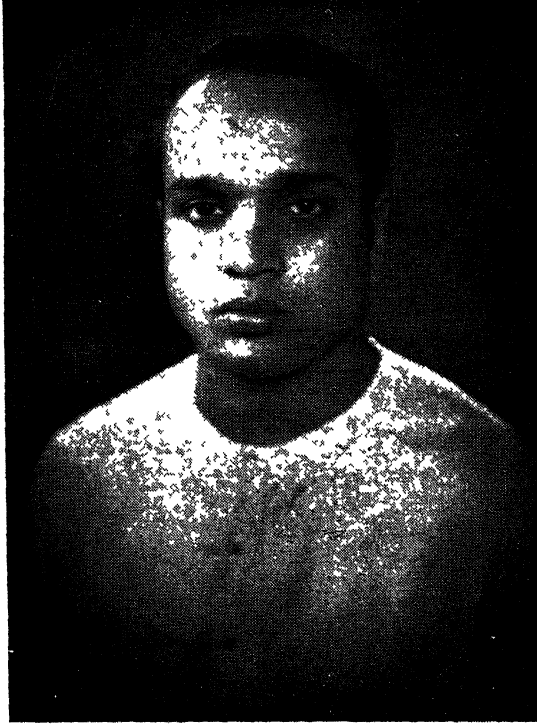
समर्पण:-

श्री रत्न शकर प्रसाद
आत्मज
स्व० जयशकर 'प्रसाद'
को सप्रेम

—गिरीश चन्द्र त्रिपाठी

"स्वगत"

१८८५ ई० मे भारतेन्दु ने जीवन से अवकाश लिया और १८८९ ई० मे प्रसाद ने धरती पर पाव रखा। तभी युग ने भी अपना चरण बदला।

प्रसाद ने अभी अपने चारो ओर के ससार को ठीक से देखा-परखा भी न था कि नियति की एक के बाद दूसरी अनेक चुनौतिया उन्हे स्वीकार करनी पडी। प्रसाद की १२ वर्ष की अवस्था मे उनके पिता, तीन बर्ष उपरान्त माता एव उसके दो वर्ष पश्चात् बडे भाई दिवगत हुए। ससार के "मूक शिक्षक श्मशान" के मानो वह प्रिय शिष्य बन गए। कोई आश्चर्य नही यदि बडे होकर दार्शनिक प्रसाद ने जब जीवन की व्याख्या की तो वेदना की मुरली से ही आनन्द का स्वर निकाला। अनुभवहीन, अपरिपक्व-बुद्धि प्रसाद जीविकोपार्जन एव मुकदमे-बाजी के भवरो से जूझते हुए अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये सघर्ष करने लगे। उन्हे अस्तित्व की ही यदि चिंता होती तो 'युद्धस्व विगत ज्वर' के अनुसार प्रसाद जीवन-समर मे योद्धा तो थे ही किन्तु प्रसाद के व्यक्तित्व के परिवार मे एक अबोध शिशु था जिसका नाम था 'कवि'– प्रसाद को सबसे अधिक चिन्ता उसकी थी। "एक कान से तलवार और दूसरे कान से नूपुरो की झनकार" सुनने वाले प्रसाद ने उस शिशु की स्वच्छ आखो के प्रकाश मे एक बदली भी न आने दी।

प्रसाद का जीवन शृगार, वीर एव करुण रसो की त्रिवेणी बन गया।

समाज मे प्रसाद का व्यक्तित्व अत्यन्त मधुर तथा स्नेहशील था। उनकी भारतीयता उन्हे मर्यादावाद, अतिथि-सत्कार, सहिष्णुता तथा दार्शनिकता के ढाचे मे ढाल चुकी थी। गीता, उपनिषद् तथा धर्मग्रन्थो का अध्ययन करने वाला कर्मयोगी, रहस्यवादी, फिर भक्त, अन्त मे आनन्दवादी बन गया। जीवन उनके लिये एक आनन्दमयी क्रीडा थी, जिसमे किसी प्रकार की निराशा नही थी, विकार नही था। विषाद के अवसरो को वह अपनी दार्शनिकता से सुलझा लिया करते थे। सपत्ति-विपत्ति और सुख-दुःख को समान रूप से भोगने का उन्हे अभ्यास था। प्रेम उनके जीवन का मूलमत्र था, किन्तु वियोग उनके जीवन का आधार था। आनन्द मे आत्मविभोर होना वह जानते थे किन्तु विषाद उनके लिए आनन्द का उद्गम-स्थल था। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व अद्भुत समन्वय-भावना से आपूर्ण था।

इन्द्रिय माध्यम से जीवन को आत्मगत करने की इच्छा ने प्रसाद की कविता को चित्रात्मक, मधुर सङ्गीतमय और स्पर्श-सवेद्य बना दिया है। अन्तर्भावनाओ

का आरोप कर देने के कारण प्रकृति कवि के साथ बातचीत करती तथा उसके मन मे विविध प्रकार की सवेदनाएँ, आकाक्षाएँ और आशाएँ उत्पन्न करती है। कवि अपने को प्रकृति मे विलीन कर देता है। कवि की पीडा के साथ हमारी आत्मीयता है।

प्रारम्भ मे 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' के कवि के रूप मे उनमे एक प्रकार की झिझक है। यद्यपि इस झिझक की प्रतिध्वनि आसू मे भी सुनाई देती है। इस काव्य मे प्रथम वार ही कवि का वैयक्तिक पक्ष पूर्ण रूप से विकसित हो पाया है।

'आसू' जिससे कवि को साहित्य-क्षेत्र मे सच्ची प्रतिष्ठा मिली वह मानवीय भावो की मूल गाथा का मार्मिक पक्ष उद्घाटित करता है। इसमे हृदय की भावुकता के साथ गहरी करुणा है। मिलने का सुख और विछोह का दुख और अनुभव की हुई पीडा है और है हृदय के तार झकृत कर देने वाला सगीत। यह दुख के पलो मे स्मृति का सम्बल है। समस्त ससार के मगल की भावना भी इस काव्य मे है।

"सब का निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा
आँसू इस विश्व सदन मे"

तुलसी और प्रसाद दोनो ही विराट-प्रतिभा के कलाकार थे। जिस प्रकार तुलसी के युग के काव्य मे एक प्रयोजन निहित है उसी प्रकार इस नवीन युग मे प्रसाद एक प्रयोजन लेकर उपस्थित हुए है और वह प्रयोजन है अति गूढ। कामायनी मे इस प्रयोजन की अभिव्यक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुँची। तुलसी और प्रसाद दोनो ही इस देश के सास्कृतिक आन्दोलनो के अग्रदूत रहे है और साथ ही सदेश-वाहक भी इस धरती की दार्शनिक विभूति के।

जिस प्रकार भक्तिकाल मे रामचरित-मानस एक चमत्कार है ठीक उसी प्रकार आधुनिक-युग मे कामायनी भी।

'मानस' के आरम्भ मे गोस्वामीजी ने "भवानी शकरौ वदे श्रद्धाविश्वास-रूपिणौ" की चर्चा की है। वास्तव मे श्रद्धा और विश्वास ही गोस्वामीजी के काव्य का सम्बल है।

प्रसादजी ने इसी श्रद्धा और विश्वास की व्याख्या अपने महाकाव्य कामायनी मे करके मानो गोस्वामीजी की बात को एक नया रूप प्रदान किया है :—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग–पग तल मे

पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल मे

'लहर' के गीतो मे उनका दर्शन अपनी पूर्ण स्वस्थता और गम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुआ है। इसकी पूर्ण परिणति कामायनी मे हुई है जिसमे जीवन की करुणा है, आशा और आनन्द का सदेश है और है मानवता का शखनाद। दार्शनिक रूप मे 'आसू' प्रसाद की आधारशिला है और कामायनी उस पर बना हुआ भव्य प्रासाद।

प्रसाद भारतीय नारी के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। उन्हे नारी के अन्तर की पहचान अत्यधिक गहरी थी। अपने समस्त साहित्य मे नारी के प्रति उनकी दृष्टि अत्यधिक उदार रही है। इसका एकमात्र कारण यह है कि नारी समाज की वह वीणा है जिसका स्पर्श करते ही एक ऐसा स्वर निकलता है जिसमे केवल करुणा झकृत होती है। उसमे विवशता है, त्याग है।

कवि का कार्य जनता के जीवन को जाग्रत करना है। उन्होने अपने आशावादी दृष्टिकोण से सदैव ही नवचेतना नवजाग्रति की सृष्टि की। उनके आदर्श पात्र केवल महान त्याग और सेवा के आधार पर जीवित ही नही, शक्तिवान रहते है। स्कन्दगुप्त की देवसेना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

'चन्द्रगुप्त' मे प्रसादजी की दृष्टि अत्यधिक उदार तथा राष्ट्रीय भावना के सच्चे रूप को उद्घाटित करने वाली हो उठी है। विभिन्न प्रान्तीय भेदभाव को भूल कर यदि हम एक हो जाये और राष्ट्र के उत्थान का कर्त्तव्य-पालन करे, तभी उद्देश्य की प्राप्ति हो सकेगी।

चाणक्य कहता है :—

"तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नही होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी मिलेगा।"

उनका कथा-साहित्य उनके काव्य की शैली से नितान्त भिन्न, अपनी सरलता और यथार्थता के दो आभरणो के बीच अलग ही मुस्कराता है।

'प्रसादजी' के निबन्ध भारतीय परम्परा के दर्पण है।" आचार्य पण्डित विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र ने प्रसादजी के निबन्धो के सम्बन्ध मे अपने गम्भीर विचारो को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"निबन्ध-लेखन की प्रसादजी की पद्धति निश्चय ही नितराम्बन्धवाली है। उसमे कसावट पूरी हैं। शुक्लजी निबन्ध को बौद्धिक श्रमसाध्य मानते है। प्रसादजी के यह निबन्ध सचमुच बौद्धिक श्रमसाध्य है। यह दूसरी बात है कि विषय की स्थापना के लिये उन्होने अनुसन्धानात्मक प्रवृति सर्वत्र दिखाई है। निबन्ध-लेखन की कसावट वाली शैली मे विषयान्तर के लिये स्थान नही है। इसी से इनके

विचार सुविभक्त है और किसी प्रकार का फालतू विस्तार कही नही है। सर्वत्र भेद-भाव शून्यता, राष्ट्रीय विचार की पोषणता और परम्परा की नूतन मान्यता का ही प्रयत्न दिखाई देता है।"

वास्तव मे प्रसादजी के नाम मे राष्ट्र-भाषा की सास्कृतिक समृद्धि समाहित है। यह तो प्रसादजी के व्यक्तित्व और कृतित्त्व के सम्बन्ध मे मैंने अपने विचारो को वाणी दी है। प्रसादजी को मैने कैसे जाना इसकी भी एक कहानी है। स्वप्न की भाँति वह अर्थहीन और अर्थशील दोनो है।

१६ नवम्बर, १९३७ का प्रभात था। उन दिनो मै बालक ही था। न मालूम क्यो उस दिन मैने हिन्दुस्तान दैनिक को पलटा। उस पर छपे एक चित्र ने मुझे अपनी ओर खीच लिया। मैने वह चित्र काट लिया। उसे अपनी अलमारी मे चिपका दिया। पूजा-घर से दो फूल लाकर उस चित्र पर चढा दिये तथा दो अगरबत्ती उस चित्र के सम्मुख जला दी। यह सब कौतुहल ही था। मेरी पूजा का आधार मेरे लिये पूर्ण अज्ञात था। इसका ज्ञान मुझे आठवी कक्षा मे हुआ। यह थी उनकी 'कानन-कुसुम' मे प्रकाशित पहली कविता "विमल इन्दु की विशाल किरणे प्रकाश तेरा बता रही है।"

प्रसाद-साहित्य का अध्ययन सर्वप्रथम मैने गुरुवर श्री विश्वम्भर 'मानव' के द्वारा किया। प्रसाद के चित्र से परिचय था ही, पर उस चित्र मे जो कवि छिपा था उससे 'मानव' जी ने ही परिचय कराया। एम० ए० करने के पश्चात् शोध का द्वार मेरे लिये उन्मुक्त हुआ। काशी गया। प्रसाद 'मन्दिर' के दर्शन किये। वह दिन मेरे लिये पुण्य-पर्व था।

लखनऊ लौटकर प्रसाद जयन्ती के पुण्य पर्व पर 'साहित्यिकी' सस्था का शुभारम्भ हुआ। सस्था के निर्माण के पश्चात् मेरे मन मे प्राय बचपन मे की गई पूजा का दृश्य सजीव हो उठता था। मेरे आदरणीय बन्धु प० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी ने बाबू साहब के सम्बन्ध मे ऐसी सूचनाये दी कि कवि के प्रति मन मे अपार श्रद्धा हो गयी।

बचपन मे की गई पूजा के उन पुष्पो को जीवित रखने की इच्छा मन मे बार-बार होती थी। इस सग्रह के अधिकाश लेख विशेष रूप से इसके लिये ही लिखे गये है। कुछ का आकलन 'साहित्यकी' की विभिन्न गोष्ठियो के अवसरो पर पढे गये निबन्धो से किया गया है। कुछ निबन्ध पूर्व प्रकाशित है जिनके प्रकाशन की अनुमति उनके लेखको से प्राप्त की गई है। इस प्रकार 'युग–मनु–प्रसाद' का निर्माण हुआ है।

सग्रह का नामकरण कविवर श्री सुमित्रानन्दनजी पन्त ने किया है। कविवर पतजी की तथा जिन महानुभावो ने अपने निबन्धो के माध्यम से 'युग-मनु-प्रसाद' के निर्माण मे सहयोग दिया है, उन सबकी "साहित्यिकी" सदा आभारी रहेगी।

'युगमनु-प्रसाद' के प्रकाशन में प्रतिभा प्रकाशन, मुरादाबाद के मेहरोत्रा बन्धुओ ने अपना पूरा सहयोग दिया है। उनके सम्बन्ध मे कुछ कह कर मैं अपने और उनके सम्बन्धो मे औपचारिकता नही लाना चाहता।

आज इस बात से मेरा मन बोझिल हो जाता है कि ग्रंथ के प्रकाश मे आने के पूर्व ही 'साहित्यिकी' सस्था के सस्थापक गुरुवर डा० व्रजकिशोरजी मिश्र सहसा इस ससार से चले गये। प्रसाद-साहित्य के वह विशेषज्ञ थे। साथ ही उन्हे कवि हृदय मिला था। प्रसादजी पर बोलते-बोलते वह सहसा खो से जाते थे। उनकी आलोचना मे सम्मोहन की शक्ति थी। इस सकलन के निर्माण मे मुझे डा० मिश्र का महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला था। 'युग-मनु-प्रसाद' के प्रकाशन से उनकी आत्मा को सतोष मिलेगा, इसी विश्वास से यह ग्रथ अब प्रकाश मे आ रहा है।

मेरा विश्वास है कि हिन्दी-जगत 'युग-मनु-प्रसाद' का मूल्यङ्कन हमारे श्रद्धा सङ्कल्प के आधार पर ही करेगा।

प्रसाद जयन्ती
५ फरवरी, १९६३
''जानकी निकुज''
पुराना किला
लखनऊ

गिरीश चन्द्र त्रिपाठी

अनुक्रमणिका

सस्मरण

काव्य

कामायनी

नाटक

उपन्यास, कहानी

निबन्ध

भाषा

विशेष

प्रसादजी, रत्नाकर
रसिक-मण्डल, काशी में—

बाये से दाये —

१. श्री लक्ष्मीकात झा,
२ श्री सॉवलजी नागर
३ श्री प्रसादजी
४. श्री दिनेशदत्त झा
५. स्वर्गीया श्रीमती कमला नेहरू
६ प० जवाहरलाल नेहरू
७. श्री रुद्र काशिकेय
८. डा० सम्पूर्णानन्द
९ स्वर्गीय श्री बल्देव प्रसाद मिश्र
१० श्री रामानन्द मिश्र
११ श्री कृष्ण देव प्रसाद गौड 'बेढब बनारसी'
१२. आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल
१३. श्री प्रेमचन्दजी
१४ श्री जैनेन्द्र
१५ श्री भवेश दत्त झा

संस्मरण

प्रशस्ति

(महाकवि 'प्रसाद' की पुण्य स्मृति में)

दुर्गादत्त त्रिपाठी

बचपन, यौवन और जरा का चक्कर
पूरा करने पर आवागत प्राणी
जैसे फिर बचपन लखने को आता,
जग के नातों की मति पाकर यौवन—
पुनः जरा—प्रतिकला उसी यौवन की—
पुन निधन पिछले सम्वरण-सरीखा
और पुनः आवागत के नव बन्धन,
या जैसे हो पास लाल होने के
अष्टचन्द्र की गोट किन्तु मर जाये
और खिलाडी हतमति-सा रह जाये—
उधर जीत द्वन्द्वों की, प्रश्न इधर हो
पुन. दबे-धसके साहस से चलना,
ठीक ठीक ऐसी ही गति है मेरी।

कितने आघातों के विप्लुत मनको
कितने द्वन्द्वों के छीजे जीवन को,
चिरविषण्ण नत उदर-भरण क्षमता को,
और मनमरी मानमरी मेधा को
मार चले तुम मात्रकाव्यसहभोगी,
बाबू जयशङ्कर प्रसाद, असमय ही।
कितनी सुखमय सन्ध्याएँ कीं काली
उस नरियल बजार वाली बैठक मे।
पान और सुरती की पृष्ठपटों पर
कैसी कैसी रचनाएं मेधा की,
वह 'अजातशत्रु' की कथा, 'आँसू' के
रस-रञ्जक पद, 'स्कन्दगुप्त' की भाषा,
'तितली' की वस्तु-स्थिति चित्रण-शैली,

'कामायनी'-सुधा-सरिता का जीवन,
'आँधी'-'छाया'-'एकघूट'-प्रतिलेपन,
स्फुट कहानियों की गद्यान्वित कविता,
अलिखित नाटक के गीतो की वाणी,
और कभी 'ककाल' आदि के परिचय,
इसी भाँति उनकी दुकान पर बैठे
कितनी कृतियो के असुलभ-रस-वाहन
सुन्दर अवतरणो मे दस बज जाते।
उनके घर तक तार उन्ही बातो का
रहता। वहाँ पहुँच वह थोडा भोजन
करते, और बौद्ध-ग्रन्थो-सूत्रो के
व्यस्त अध्ययन मे तुरन्त लग जाते।
पौन बजे तक मै अपने घर आता,
या उनकी बैठक मे ही पड़ रहता।
असित उषा के उठने पर भी, धूमिल
दीवट के आलोक-चक्र को छूता,
उस महर्षि का छाया-चित्र विमोहन,
पान कचरते मुख का छायान्दोलन,
काव्योन्नत ललाट की छाया पड़ती,
और पलटना पन्नों का सुन पडता।

अन्तरिक्ष कहता, तू कवि सर्वोपरि,
हो कृतार्थ तुम शीश झुका लेते थे,
भार सौंप कर उस यश का कर्ता को।
लम्बलोम-वक्षस्थल के अन्तर मे
एक कुलन यह थी कि अधिकतम जनमत
हृदयहीन, रसहीन, मदिरमति क्यो है?
श्रोता सुन्दर से सुन्दर कृतियों पर
क्यो नाक-भौं सिकोड़े रह जाते है?
क्यों तुकबन्दों को सङ्कुर कृतियो पर
लोटपोट हो फूले न समाते है?
क्यों धनिकों ने बन्द मुट्ठियां कर लीं?
क्यों मरखप कर कलाकार श्रमजीवी

बिना मान बेचे न प्रकाशन पाये ?
अपनी स्त्री, बच्चों की रोटी काटे
और बचाकर पैसा करे प्रकाशन
अपने ग्रन्थों का, न किन्तु बिक पाये
सौ प्रतियाँ भी, क्योंकि कला की कीलक
विविध बेड़ियों मे है विज्ञापन भी ।
क्यो महानमानव की गतकोलाहल-
मति, साधन निरपेक्ष, निरीह प्रपीडित ?
क्यो समस्त लोको के ताप, परीक्षण-
हृदयदहन, उत्साहदहन छल लाञ्छन,
निर्धनता का दशन, फिर उस पर भी
मोल-भाव शोषक प्रकाशको द्वारा ?
निर्धन लेखक लिखे, किन्तु क्या खाकर,
जब उसकी रोटी समृद्ध खा जाते,
और भूख से व्याकुल उसके बच्चे
रो रो मरते । वह महान क्षण भर को
सभी महत्ता भूल परमकातर हो,
कहता, विभु बूढ़े हो चले, इसी से
सठा न्याय भी उनका उनकी मति-सा ।
क्षण भर पीछे पुनः पराजित मति हो,
वही विवश प्रज्ञा से शीश झुकाता,
क्षमा माँगता विभु से कहे-करे की,
किन्तु क्या हुआ यदि तुमने जग-नायक,
अमितबली हो एक अबल जन कवि को
अवसर दिया विरोधवाद का पहले,
पीछे अपने सर्वशक्त हाथो से
अक्रिय कर अपने चरणों मे डाला ।
विभुता केवल यही कि जनसाधारण
रोकर झुकता, कवि हँसकर झुकता है ।

यह क्या तुमने किया ? ग्लानि क्या जग से
इतनी तुम्हें हुई कि रुग्ण होने पर
हाय चिकित्सा भी न प्रचुर होने दी ?

युगमनु-प्रसाद

पता न घर वालो को दिया महीनो,
पीछे स्वजनो का मन समझाने को
कभी होमियोपैथिक औषध कोई
खा लेते या सिरहाने रख लेते ।
पता चला कब सम्बन्धी, स्वजनो को ?
जब आखे धँस चली गढो मे । उचकीं
गालो की हड्डिया और छाती की
सारी ठठरी उभरी । शोणित सूखा,
और देह हलदी के रँग मे रँग ली ।

प्राञ्जल आशय, सङ्कृतिशीला शैली,
प्रबल निवेदन, मृदु समवेदन, सुस्वन,
जग-जडता पर कवि का मानस-मन्थन,
मार्गपेशी जगहित दिशि-निर्देशन,
ऐसे उनके ग्रन्थ, सूक्तियाँ उनकी,
गूज गूज कानो मे बसी जगत के ।
और मुझे तो कभी कभी वह उनका
देव-दिव्य शिशु-सुलभ हँसी से हँसना,
लाल लाल होठो का हास-नियोजन,
और मन्द स्वर से गा गा कानो मे
कविताएँ ढालना स्मरण होते हीं,
छायावाही जगमग दृग-तारक पर
उन्ही दिनो सी कोई सन्ध्या आकर
मुझे रमा लेती है अपने सुख मे ।
किन्तु गृहस्थी के कोलाहल सहसा
मायिक आवेशो के जाल बिछा कर
बन्दी कर लेते सत्त्वाशय मन को ।
दृग खुलने पर पलक-पाणि मल मल कर
अपना सा मुँह लिये हाय, रह जाते ।

अब न दिखाई देगी वैसी मेधा,
वैसी धृति-व्यञ्जना, साधना, क्षमता ।
अब न मिलेगा कुछ, जग को रोने से
उनकी स्मृति मे, क्योकि उन्होने समझा

जीवित कवि को तो साधारण मानव,
यद्यपि अब अधिमानव पडा समझना ।
हाय, आज का गौरव यदि वह आँखें
अपनी आँखो लख पाती तो कहती,
अब भी अधिशतवत्सर इन्हें लगेंगे
मेरी कृतियो के अन्तर्दर्शन मे ।

गये, गये तुम, सुयश प्रसाद, तुम्हारा
युग युग की स्मृतियो के संध्याम्बर मे
स्वर्ण-दण्ड-सा एक हिरण्य-प्रदर्शन
विश्व-व्योम का पूर्व प्रकाशित करने
जा पहुँचा नक्षत्रो की टोली मे ।
पाँव नही उठते अब तो उस पथ पर,
लुटा हुआ सा लोक दिखाई देता,
कुटी पिटी सी कातर अभिलाषाएँ
घोट घोट अधमरी उमगो के मुँह,
क्रन्दन हो क्रन्दन उर मे भर देती ।
डोर प्रतीक्षा की कट गई सदा को,
जो उनके पत्रो, ग्रन्थों के दर्शन
यदा कदा मेरे सुदूर निवसन की
एकाकी उन्मनता को देती थी ।
रोया कर, ओ होन विश्व अब कवि को,
समुचित दण्ड यही है अहृदयता का ।
तेरा क्रन्दन तुझे बना दे कर्मठ,
जिससे जीवित कविरत्नो की आभा
पार्थिवप्रियता धूल डाल कर अपनी
कर न सके अप्रतिभ । सुधा की बूँदें
युग-योजक कवियो के सत्वरसो से
रहें सींचती मृत्यु-शुष्क मानवता ।

प्रसादजी की जीवन-चर्या

रत्न शंकर प्रसाद

उनके साहित्यिक-जीवन और घरेलू-जीवन का एक ही सत्य था। वह था सामरस्य का सत्य। किसी नन्हे परिवार की लोकयात्रा हो अथवा आतंकग्रस्त विश्व का विपुल संघर्ष, सभी का कल्याण वे इसी सत्य की प्रतिष्ठा मे मानते थे। वे आज के मनुष्य के सम्मुख उपस्थित सभी जटिलताओ को मूलस्थ विषमताओ का विपाक मानते थे, चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक अथवा आर्थिक। कामायनी मे विश्वजननी का मानव-पुत्र के प्रति आदेश किंवा कामायनी का सन्देश भी इसी सत्य का निर्घोष करता है 'सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत सुन माँ की पुकार।' वह उनकी जीवन-चर्या मे कैसा घुला था उन्हे निकट से जानने वालो को भलीभाँति विदित था। अवश्य ही जिन्होने संकीर्ण विचारो अथवा अन्य किन्ही कारणो से इस सत्य को नही देखना चाहा उनकी कथा और है।

अरुणोदय के पूर्व ही प्रातःकालीन कृत्यो से निवृत्त हो निकट के बेनिया-बाग मे टहलने जाया करते। उस समय वहाँ कुछ और लोगो का भी साथ हो जाता जिनमे अधिकतर साहित्यिक होते। मुंशी प्रेमचन्द और श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड भी नियमित टहलने वालो मे थे। वहाँ से लौटकर थोडा दूध पीकर अपने सुर्ती-ज़र्दा के प्राचीन आनुवंशिक व्यवसाय की देखभाल मे लग जाते। अपने कर्तव्यो के प्रति, साहित्यिक हो अथवा व्यावसायिक, वे समान रूप से सचेष्ट थे। कामायनी की पाण्डुलिपि खुली कलम सहित सम्मुख रहती और वे इत्रो एवं मसालो का मजमूआ भी तैयार करते जाते। उनके अवधान कितने सजग थे इसका यह उदाहरण हो सकता है कि कुछ देर तक मसालो और सुर्तियो का काम करते-करते वे सहसा कलम पकड लेते और कामायनी की जिल्द मे सहज प्रवाह से दस-बीस छन्द ढल जाते और फिर कलम यथास्थान चली जाती तथा हाथो मे काँटा, बटखरा या मेज़र-ग्लास आ जाता एवं मजमुओ के गन्ध परिपाक का क्रम गतिशील हो उठता। गन्ध परिपाक के साथ हृदय और मन, भावनाओ की अभिव्यक्ति के लिए छन्दो से भर उठते और क़लम हाथ मे आ जाती। ऐसी स्थिति मे उन्हे कोई खीझ न होती और समरसता मे दोनो ही कार्य चला करते। यह बात कदाचित कम लोगो को विदित होगी क्योंकि व्यावसायिक रहस्यो की नितांत गोपनीयता के कारण वे कार्य एकान्त मे ही होते थे। यदि मैं भूलता नही तो लगभग आधी कामायनी और कितनी ही स्फुट कविताएँ इसी भाँति सुंघनी साहु के कारखाने मे लिखी गयी हैं। गन्ध सम्मिश्रण के कार्य मे कितनी

गम्भीरता और सूक्ष्म प्राविधिकता होती है विशेषज्ञ इसे जानते है, यदि एक रत्ती या एक बूद का भी अन्तर पड गया तो गन्ध की परिणति भिन्न होकर समूची लागत ही नष्ट हो जाती है। वे विश्वासपूर्वक वस्तु निकालते और कहते देखो यह तौल मे इतनी है और वास्तव मे तौलने पर उसे उतनी ही पाता, अनेक बार ऐसा अवसर आया। एक बार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के केमिस्ट्री के तत्कालीन प्रोफेसर गाडबोले साहब ने एक गन्ध सम्मिश्रण प्रस्तुत कर उनसे पूछा कि बताइये इसमे कौन-कौन से द्रव पडे है और उनसे सभी वस्तुओ के नाम सुनकर वे चकित हो गए। साथ ही उन्होने यह भी कहा कि विशेष ध्यान देने पर वस्तुओ का परिमाण भी बताया जा सकता है। हम सुर्ती के व्यवसायी बहुमूल्य यन्त्रो की लेबोरेटरी का काम गन्ध तन्मात्रा से ही निकाल लेते है। यह उनकी सर्वतोमुखी समरस अवधानता का परिचायक था।

वे किसी कार्य को नीचा नही मानते थे। एक बार उन्होने कारखाने के एक उच्च वेतन कर्मचारी को कम तनख्वाह पाने वाले मजदूर से क्षमा-याचना करने को बाध्य किया। कारण यह था कि उच्च वेतन-भोगी कर्मचारी ने पानी लाने मे देर करने के कारण मजदूर पर पानी फेक दिया, जिससे उसके कपडे भीग गये। ब्राह्मण का आदर करते हुए शूद्र का असम्मान वे निन्दनीय मानते थे। स्वय भी वे भट्टी पर सुर्ती गलाने से लेकर पुडिया बाँधने और बहीखाता लिखने तक का काम कुशलता-पूर्वक कर लेते थे। विशेषत मुझे उन सबकी शिक्षा देने के सिलसिले मे कर दिखाया भी था। वे अपना काम अपने हाथो करने और जानने के पक्षपाती रहे। वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि होकर बाहर-भीतर से स्वाधीन जीवन को ही लोक-यात्रा मे सफल मानते थे। व्यावसायिक कामो से निवृत्त होकर वे लगभग एक घटा नियमित रूप से मालिश कराते। उस समय निकट के कुछ बाल्य-सहचर एव कुछ साहित्यिक व्यक्ति एकत्र हो जाते एव सभी प्रकार की चर्चायें होती।

इस भाँति उनका थोडा मनोरजन कुछ साहित्यिक हलचलो से परिचय और कभी-कभी साहित्य के चरित्रो का चयन भी हो जाता था। उन पात्रो मे कुछ हमारे निकट के और जीवित व्यक्तियो की छाया मिलती है जिन्हे उन्होने रचनाओ मे अपने अनुकूल ढाल लिया है। उनकी बैठको मे भाग लेने वाले कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्हे भ्रमवश लोग उनके अन्तरग और घनिष्ट के रूप मे जानते है जिनके शील सस्कारादि उनसे नितान्त भिन्न थे। मन मे खिन्न रहकर भी अपने निर्लेप स्वभाव की मृदुता के कारण उनके मिलने-जुलने मे कभी हिचकते नही थे। कहा करते भूतभावन की गोष्ठी मे ब्रह्मा-विष्णु के साथ पिशाच-वेताल भी रहते है। स्नान के अनन्तर थोडासा व्यायाम कर भोजन करते और कुछ देर वामकुक्षी। भोजन उन दिनो अत्यन्त नपातुला और पथ्य जैसा ही था। मूग की दाल, हरे शाक, दो फुल्के और

थोडा-सा चावल। कभी-कभी तरकारी स्वय तैयार करते और उसे अधिकाधिक स्वादिष्ट बनाने का प्रयत्न करते। दिन मे थोडा-सा सो लेना उनके लिये आवश्यक भी था क्योकि यह नही कहा जा सकता था कि लिखने-पढ़ने मे मन रम जाने पर रात मे कितनी देर तक जागते रह जाएगे। कभी-कभी प्रातःकाल निकट आ जाता और उनका लैम्प जलता रहता, फिर प्रत्यूष-वेला की भैरवी सन्ध्या मे वे कभी न सोते और श्रुति-साहित्य के कुछ भावग्राह्य स्थल गुनगुनाते नित्य-क्रिया मे लग जाते।

अपराह्न मे थोड़ी देर बहीखाते का काम देखकर थोड़ा-सा वेदाने का रस पी लेते और सायकाल होते-होते स्नानादि से निवृत्त हो नरियल बाजार की दूकान चले जाते। वहाँ भी साहित्यिकों का एक अच्छा जमघट लगता। उसमे कहकहे लगते, नाना प्रकार की वार्तायें होती। छन्द सुनायी पड़ते और बेचारा बैजनाथ तमोली पान लगाते-लगाते थक जाता। उनके देहावसान के अनन्तर उसने लोगो के आग्रह पर भी वहाँ बैठकर पान लगाना स्वीकार नहीं किया और अपना व्यवसाय ही बदल दिया। लोक-यात्रा में वे कितने समरस थे और साधारण एव उनकी कला से अपरिचित व्यक्ति भी उनके प्रति कितना स्नेह सजोते थे इसका यह एक उदाहरण हो सकता है। वहाँ बैठकर वे सूक्ष्म दृष्टि से ग्राहकों और कर्मचारियो और व्यावसायिक आलापों का भी अध्ययन करते जाते। लगभग १० बजे घर लौटकर चार पूरियाँ, थोड़ी तरकारी और एक गिलास दूध पीकर लेटते और पढ़ने लिखने मे लग जाते। यह उनके जीवन के पिछले दस वर्षों या कामायनी-काल की दिनचर्या थी।

•

प्रसादजी की स्मृति

गोविन्द बल्लभ पन्त

प्रसादजी ने हिन्दी के रगमच को एक-प्रवेशी नाटकों का स्थापत्य नही दिया, यह सच है, पर किसी रगमच से सबद्ध न होते हुए भी उन्होने अपनी कृतियो मे जो नाटक के तत्व उभारे है, वे सर्वथा सराहनीय और उनके कल्पना-कौशल के साक्षी हैं।

यह सब १६१७ ई० की बात है, तब मैं बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू कॉलिज का विद्यार्थी था और कमच्छा के हॉस्टल मे रहता था। साहित्य की अभिरुचि पहाड पर ही पनप गई थी और अभिव्यक्ति का पहला माध्यम 'छन्द' ही हाथ लग गया था। प्रसादजी की सन्निधि मे आने का यही मुख्य कारण बना।

कमच्छा से गोवर्धन सराय का मुहल्ला अधिक दूर नही था, जहाँ प्रसाद जी रहते थे। मेरे हॉस्टल के सहवासी मित्र स्वर्गीय कुसुम को भी साहित्य से प्रेम था। उन्हे प्रसादजी का परिचय प्राप्त था। जब उन्होने प्रसादजी के कवि के साथ-साथ उनके सौजन्य-शील की भी प्रशसा की तो एक दिन हम दोनो अपनी-अपनी कविताओ को लेकर उनके यहाँ जा पहुँचे।

समय की धूसर पडी हुई दूरी मे आज भी उनकी वह उदार और सहज हास्य से प्रभावित मुद्रा चमक रही है। हिम-उज्ज्वल ढीली बाँह का कुरता और धोती पहने वे कई मित्रो से घिरे एक तखत पर बैठे थे। मेरा परिचय पाकर बडा बन्धुत्व उनके भीतर प्रकट हो उठा। बडे सकोच के साथ मैंने अपनी कविताएँ उनकी तरफ बढाकर उनके सशोधन माँगे। मेरी साधारण कृतियो के लिये उन्होंने मेरा जो उत्साह बढाया, उसने मेरी साहित्यिक प्रगति के वास्ते मार्ग ही नही प्रकाश भी दिया। जब तक बनारस में रहा बराबर उनके सत्सग को प्राप्त करता रहा।

बयालीस वर्षों की दूरी मे अदृश्य हुए उस दृश्य को जब याद करता हू तो एक दुमजिले मकान के निचले भाग मे कुछ मजदूर हाथो मे बडे-बडे लट्ठ लिये खिड़कियो से होकर मेरी आँखो के आगे आते हैं। उनकी नाक, मुँह और अशतः आँखे कपडे से बँधी हुई—वे तमाखू की पत्तियो को कूटते थे। तमाखू की धूल उनके अङ्ग और कपडो पर जमी हुई उनका विचित्र रूप दिखाती थी। वहाँ से घूमकर मैं प्रसादजी की बाहरी बैठक के सामने आता था, जो नीचे की मजिल में अवस्थित थी। बडी सरल साज-सज्जा थी वहाँ। छोटे बडे हर स्थिति के व्यक्तियो मे बैठे, प्रत्येक से बडे ममत्व और समत्व से मैं उन्हे बाते करते हुए पाता था।

किसी के साथ साहित्य-चर्चा करते थे, किसी से गृह-प्रबन्ध की बातचीत। कोई व्यवसाय के लिए आदेश माँगता था, कोई उपदेश चाहता। कोई अपनी कठिनाई का हल लेने आता उनके पास। कभी धूप मे गमछा पहने हुए तखत पर बैठकर तेल मालिश कराते हुए पाता था मैं उन्हे। सौजन्य और सहृदयता की प्रत्यक्ष मूर्ति थे प्रसादजी। कभी उनकी बातो या व्यवहार मे मैंने उनमे बनावट या ओछापन नही पाया। अपनी बडाई या दूसरे की निन्दा मे रस लेते हुए कभी नही सुना उन्हे। नौकर-चाकरो के साथ भी बडी प्रीति और प्रतीति के साथ वर्ताव करते हुए देखा। कभी किसी पर असतुष्ट या असतुलित नही पाया।

कॉलिज की नाटक-समिति मे मैं भूमिकाये लिया करता था। कभी-कभी उसके लिये थोडा-बहुत कुछ लिखता भी था। प्रसादजी ने मेरी नाट्य-चेतना को विकसित करने के लिये मुझे नाटक लिखने के लिये उत्साहित किया। उन्होने मुझसे अजातशत्रु पर नाटक लिखने के लिये ही नही कहा, बल्कि उसका तमाम कथानक बनाकर भी मुझे दिया था। तब उस गुरु भार के लिए मैंने सर्वथा अपने को अक्षम पाया। मैंने वह कथानक उन्हे लौटा दिया, उस पर उन्होने फिर स्वयं ही लिखा।

प्रसादजी के यहाँ हिन्दी के अनेक साहित्य-सेवियो के साथ मेरा परिचय हुआ, जिनमे कुछ के नाम याद आते है—कलाविद् रायकृष्ण दासजी, वेदान्त-शास्त्री श्री रामगोविन्द त्रिवेदी, हिन्दी के पुराने कथाकार श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा, नये कथा-शिल्पी श्री विनोद शकर व्यास, इन्दु के सम्पादक-प्रकाशक श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त से भी मेरा परिचय वही हुआ। वे प्रसादजी को मामा कहते थे। प्रसादजी की रचनाये "इन्दु" मे छपती थी और उनकी प्रारम्भिक कई पुस्तके भी उन्होने प्रकाशित की थी।

प्रसादजी के एक घोडे की गाडी याद आती है। सध्या को नियमित समय पर उनका कोचवान गाडी को वहाँ ले आता था। प्रथा के अनुसार उसमे लोटा, डोर रखा जाता था, पान-तमाखू का डिब्बा भी। प्रसादजी के यहाँ का पान विशेष स्वादु होता था। बनारस का पान स्वतः ही प्रसिद्ध है, फिर सुँघनी साहु के यहाँ का! सारा वायु-मण्डल वहाँ सुगन्धि से व्याप्त मिलता था। सुगन्धि से सश्लिष्ट और एक नाम याद आता है, वह उनकी सेविका थी, उसका नाम था सोना, बहुधा वही पान बनाकर लाती थी।

प्रसादजी की गाडी पर उनके साथ घूमने को जाने का सुअवसर मुझे भी मिला था। कई बार सारनाथ तक भी गया था और भारत के इतिहास का वह स्वर्ण-पृष्ठ मेरे मन मे गढ गया। तब वह सारा मृगदाव बडी दयनीय दशा मे था। एक छोटी-सी नयी बनी इमारत मे कुछ प्रमुख भग्न मूर्तियाँ और टूटे अवशेष सग्रहीत कर सुरक्षित हो गए थे—शेष बहुत-सा बाहर ही पडा था। वह सिहो की मूर्ति जो

हमारे गण-तन्त्र का प्रतीक होकर आज सारे ससार मे प्रसिद्ध हुई है, उसका पौलिश से चमकता हुआ आधार स्तम्भ तब बाहर ही धरती पर पडा लोट रहा था ।

प्रसादजी की बैठक के भीतर जो कमरा था, वहाँ एक स्टैंड पर काँच के केस मे सुरक्षित एक शिला या ब्राज का बस्ट था, कदाचित उनके पिता या पितमह का । दाहिने हाथ की तरफ जो कमरा था, उसमे उनके सुँघनी व्यवसाय के सुगन्धि-द्रव्य या अन्य योग सुरक्षित थे । नुस्खे सर्वत्र ही गुप्त रखे जाते है । प्रसादजी को जब कोई नुस्खा मिलाना होता तो काँटे के आगे लकडी का स्टैंड रखकर वे अपने व्यवसाय के रहस्य (ट्रेड सीक्रेट) को लोगो से छिपा लेते थे ।

और एक बार की बडी याद है मुझे—प्रसादजी का वह प्रसन्न मुख तब घने विषाद से भर गया था, उनकी वाणी का उल्लास गहरी वेदना मे रुद्ध ! पत्नी वियोग की मर्मान्तिक चोट उन्हे पहुँची थी । उस समय की उनकी बातो से जान पडता था, कि वे साहित्य-साधना को समाप्त कर काव्य-सन्यास ग्रहण कर लेगे । बादामी कागज के फूलस्केप अठपेजी साइज मे पिन किये हुए आठ पेज उन्होने मुझे देते हुए कहा—"लो, मेरा मन ठीक नही है, इसे तुम रख लो और पूरा कर लेना ।" उन पेजो मे दो उनके लेख से युक्त है, शेष खाली है । एक कहानी का आरम्भ है वह, जिसमे काली माता की मनौती मानी हुई एक ग्रामवासिनी, माता, पूजा के उद्देश्य से काली मन्दिर को ले जा रही है । पिछले लगभग चालीस वर्षो से वे पृष्ठ बडी सावधानी से मैंने सँभाल कर रखे है ।

सन् १९२० ईसवी मे असहयोग आन्दोलन को निमित्त बनाकर कॉलिज छोड मैं मेरठ की व्याकुल नाटक-कम्पनी मे भर्ती हो गया था । कम्पनी का पहला प्रयोग बुद्धदेव था । पारसी नाटक कम्पनियो के दूषित प्रभाव से वह नाटक भाषा, भावना, सदेश, परिच्छद और स्थापत्य की सार्थकता लिये था । वह नाटक-कम्पनी दिल्ली, मेरठ, लखनऊ आदि होती हुई बनारस पहुँची । प्रसादजी को हिन्दी नाटक के लिये उत्कट प्रेम था । मैं उन्हे बाँस-फाटक के थियेटर पर बुद्धदेव का नाटक दिखाने ले गया । उन्होने दो बजे रात तक वह नाटक देखा । महानिष्क्रमण के दृश्य पर मैंने उन्हें विह्वल होकर आँसू बहाते हुए पाया । इसके बाद फिर मेरी-उनकी कभी भेट नही हो पायी । कुछ पत्र-व्यवहार हुआ । एक पत्र उनका मेरे पास सुरक्षित है और सुरक्षित है उनके लिखे हुए वे दोनो पेज, जिनसे प्रेरणा पाकर उस कहानी को पूरा करने की एक इच्छा है और है प्रसादजी की वह सम्पत्ति उन्हें लौटा कर उनसे उऋण हो जाने की एक लालसा ।

प्रसादजी

मैथिलीशरण गुप्त

चालीस बयालीस वर्ष हुए मैं काशी गया था। एक सम्भ्रान्त कुटुम्ब के अतिथि के रूप मे यह मेरी पहली दूर की यात्रा थी। हॉ, दूर की। इसके पूर्व मै अपने सम्बन्धियो के यहॉ आता जाता था। परन्तु उस आने-जाने की सीमा दस बीस कोस से अधिक न होती थी। बचपन मे अयोध्या, काशी, प्रयाग और चित्रकूट की तीर्थ-यात्राएँ अपने गुरुजनो के साथ मे कर चुका था, परन्तु किसी के अतिथि के रूप मे नही।

राय कृष्णदासजी मेरे अतिथेय थे। उन्होने बडे स्नेह से मुझे अपने यहॉ ठहराया था। स्वर्गीय बार्हस्पत्यजी से मुझे कुछ काम था और उन दिनो वे काशी मे ही थे। उन्ही दिनो स्वामी सत्यदेवजी अमेरिका से शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे और देश मे घूमकर व्याख्यान दे रहे थे। इसी क्रम मे काशी आये थे। नागरी-प्रचारिणी सभा मे उनका भाषण था। भाई कृष्णदास मुझे भी वहॉ ले गये।

स्वामी सत्यदेवजी के लेख "सरस्वती" में छपा करते थे और मैं उन्हे चाव से पढा करता था। उनका भाषण भी वैसा ही प्रभावशाली था। प्रसादजी सभा मे आये थे और पहले पहल वही मैंने उनके दर्शन किये। भाई कृष्णदास से उनकी घनिष्ठता थी। उन्होनें ही मुझे उनसे मिलाया। उनके व्यवहार मे बडी शिष्टता दिखाई दी। मैने समझा, मेरी रचनाओ के कारण ही प्रसादजी इतने सम्मान-पूर्वक मिल रहे है। परन्तु वह मेरी भूल थी। आगे चल कर मुझे पता चला, वे मुझे कवि नही, पद्यकार मात्र मानते है। भले ही पद्यकार के पहले प्रतिष्ठित शब्द और जोड देतें हो, इससे अधिक नही।

एक कविता-सग्रह मे, जिसमे तथा-कथित छायावादी रचनाएँ थी, मेरी भी दो तीन कृतियॉ रख दी गयी थी। यह बात उन्हे ठीक नही लगी। सग्रहकार सोच में पड गये। मैने उनसे कहा — मेरी रचनाएँ न रहने से मेरी कोई हानि नही, प्रसादजी सतुष्ट हो जायेंगे, यह लाभ है। इसलिये उन्हे छोड देना चाहिये। परस्पर स्नेह वृद्धि हो जाने पर सम्भवत. मेरी रचनाओ के सम्बन्ध मे भी उनके विचारों मे कुछ परिवर्तन हो गया था। इसके पूर्व उन्होने मेरी एक ही कृति की प्रशसात्मक चर्चा की थी। वह थी 'केशो की कथा'।

जो हो, एक बार मिल कर उनसे मिलने की इच्छा रही। दूसरे दिन मै उनके यहाँ जाने को था कि वे स्वय कृष्णदासजी की कोठी पर आगये। ठिंगना

परन्तु गठा हुआ सुदर शरीर, विशाल भाल और गौर वर्ण। मुह मे पान और अधरो मे मुस्कान। धोती-कुरता और कौशेय की चादर। आकर्षक व्यक्तित्व। स्वल्प समय मे ही मुझे ऐसा लगा मानो हम लोग चिर-परिचित है।

जब जब मैं काशी जाता प्राय प्रतिदिन उनसे मिलना होता और घटो बैठक जमती। कभी कृष्णदास की कोठी पर, कभी उनके बगले पर, कभी प्रसादजी के घर और कभी उनकी दूकान पर। कितना आमोद-विनोद होता, कह नही सकता। बीच बीच खान-पान भी। पान, धूम्र तक ही ! तब मै तम्बाकू पीता था। खाने के विविध प्रकार और प्रत्येक बार नये नये। वे स्वय पाक-पटु थे। वैसे ही जैसे वाक-पटु। एक बार ही मैने हास-परिहास मे उन्हे क्षुब्ध होते देखा। होली के दिन थे। इस पर्व पर लोग अपने इष्ट मित्र और व्यवहारियो के यहाँ आते है और एक दूसरे पर रग गुलाल से होली खेलते है फिर बैठ कर हास परिहास करते है। उस दिन हम लोग भी प्रसादजी के यहाँ गये थे। साथ मे कृष्णदास के प्रमुख कर्मचारी श्री गुरुधनसिह भी थे। बातचीत मे बहुत शिष्ट। हजूर हजूर कह कर उन्होने भी व्यग-विनोद मे भाग लिया। बात कुछ बढ गई। उत्तर प्रत्युत्तर ने वाद-विवाद का रूप धारण कर लिया। एक बार कुछ हतप्रभ से होकर प्रसादजी ने एक अप्रिय बात कह दी। मैंने साग्रह उन्हे शान्त किया। गुरुधनसिहजी रग-कुरग देख कर पहले ही मौन हो गये थे। प्रसादजी का मुख लाल हो गया। उस दिन छनी भी कुछ गहरी थी। एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके अभिजात्य को ठेस लगी हो। अन्ततः गुरुधनसिहजी कृष्णदास के वेतन-भोगी थे और प्रसादजी उनके अन्तरग बन्धु। इसी समय वहाँ स्वर्गीय महामहोपाध्याय पडित देवीप्रसाद कवि चक्रवर्ती आ गये। मैं उनके विषय मे सुन चुका था और स्वयं उनसे मिलना चाहता था। प्रसादजी ने परिचय कराया, मैं नही जानता था कि वे हिन्दी मे भी कविता लिखते हैं। कितने ही कवित्त पढ कर उन्होने नया वातावरण उत्पन्न कर दिया। आज भी उसकी गूज मेरे मन मे उठती है।

"एक पग नाव एक पग है कगारे पै"

प्रसादजी काशी के प्रतिष्ठित नागरिक थे और वहाँ सब लोग उनका आदर करते थे। उनके टोने के लोग तो उन्हे अपना अग्रवर्ती ही मानते थे। उनसें वे प्रायः भोजपुरी मे ही इस प्रकार आत्मीयता पूर्वक बातचीत करते थे कि मैं बार बार उसे सुनने को उत्सुक रहता था। साहित्यकारो का भी एक दल उनका अनुगत था। एक बार हँस कर उन्होने कहा था, किसी की आलोचना प्रत्यालोचना का रस लेना हो तो मुझसे कहो और तटस्थ होकर कौतुक देखो। कहने को तो यह बात उन्होने कही परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ, ऐसा कौतुक न तो उन्होने स्वय देखा, न दूसरों को दिखाया।

अपने भानजे स्वर्गीय अम्बिकाप्रसाद के द्वारा अपनी आर्थिक सहायता से 'इन्दु' नामक एक मासिक पत्र उन्होने निकलवाया था। अधिकतर वे उसी मे लिखा करते थे। अम्बिकाप्रसादजी के आग्रह से मैने भी दो एक रचनाएँ उसके लिये भेजी थी। सम्भवत: प्रसादजी ने भी ब्रजभाषा मे लिखना आरम्भ करके अन्त मे बोलचाल की भाषा को ही अपना लिया था।

परिचय बढ कर स्नेह मे परिणत हो गया। यह मेरा सौभाग्य ही था कि कवि के रूप मे आहृत न होने पर भी मै उनका स्नेह-भाजन बन गया। मेरे काशी पहुचने का समाचार उन्हे पहले ही से मिला रहता। वे ब्राह्मण के हाथ की बनाई हुई कच्ची रसोई न खाते थे। इसलिये कुछ पहले ही दोपहर का भोजन करके वे अपनी पालकी गाडी मे बैठ कर कृष्णदास के बगले पर आ जाते और रात तक वही रहते। कभी कभी हम साथ ही नगर मे जाते और प्राय: आधी रात तक मै और कृष्णदास बगले लौट पाते।

बडो बड़ो को भी एक बार आर्थिक सङ्कट का सामना करना पडता है। उस समय लोग बहुधा अपना मानसिक सतुलन खो बैठते है, परन्तु प्रसादजी ने बडी धीरता और बुद्धिमत्ता से अपना काम-काज सँभाला। ऋण चुकाने के लिये शीघ्र ही उन्होने अपना एक गाँव बेच दिया। घोडागाडी भी नही रक्खी। इस विषय की चर्चा मे मैंने उनकी बडी सराहना की और कहा— यदि ऐसा न किया जाता तो ब्याज मे ही सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती। मै स्वय भुक्तभोगी था और एक एक के आठ आठ तक देने को विवश हुआ था। उनकी दूर-दर्शिता सचमुच प्रशसनीय थी। पूछने पर वे किसी विषय मे बहुत अच्छी राय दे सकते थे।

मै समझता हू, आर्थिक दृष्टि से प्रसादजी की और प्रेमचन्दजी की एक तुलना की जा सकती है।

प्रेमचदजी अपने जीवनकाल मे प्रसादजी की अपेक्षा अधिक अभावग्रस्त रहे। परतु इन दोनो बडे साहित्यकारो के साहित्य का लाभ इन्हे नही, इनके भाग्यशाली पुत्रो को ही मिला। कृष्णदास ने ठीक ही कहा था, प्रसादजी की कृतियाँ आज की नही, आगामी काल की है।

प्रसादजी के साथ न जाने कहाँ कहाँ की बाते हुआ करती थी। परंतु अपनी अपनी रचनाओ के विषय मे कभी भूले भटके ही हम लोग चर्चा करते। हाँ, कभी कभी वे अपनी रचनाओ की पाडुलिपियाँ अवश्य मुझे दे जाते थे और मुझे इस बात का गर्व है कि छपने के पहले ही मैंने उनका रसास्वाद पा लिया था।

उनकी दूकान नरियल बाजार मे है। सध्या को प्रसादजी वहाँ जाते और दूकान के सामने एक दासे पर बैठा करते। उनके मित्र और मिलने वाले भी वहाँ पहुच जाते और छोटी मोटी गोष्ठी हो जाती। वहाँ के आस पास के लोग भी

उनका बहुत सम्मान करते थे। प्रसादजी कोरे कवि ही नही थे, कुशल व्यवहार-बुद्धि भी रखते थे। गोष्ठी मे भिन्न भिन्न चर्चाएँ होती थी। कभी कभी वाद-विवाद भी हो जाता था। परतु अधिकतर अट्टहास ही गूजा करता। बीच बीच मे ऊपर रहने वाली वेश्याएँ भी चौक कर नीचे झाँका करती।

एक बार निरालाजी और नवीनजी के काशी आने पर उन्होने कुछ लोगो को व्यालू के लिये घर बुलाया। स्वर्गीय मुशी अजमेरी भी मेरे साथ थे। हम लोग सध्या को ही जा जमे। निरालाजी सुदर गायक भी है। अजमेरी का कहना ही क्या। बालकृष्णजी का भी कण्ठ मधुर है। कविता और गान दोनो से वातावरण गूज उठा। निरालाजी से भी कोई हिन्दी व बगला गीत गाने को कहा गया तो उन्होने कहा, मै क्या गाऊँ? मृदग न सही, तबला बजाने वाला भी तो कोई हो। साज बजाने वाला कोई साहित्यिक वहाँ न था। प्रसादजी चाहते तो तुरत किसी को बुला सकते थे। परतु वे मुसकरा कर रह गये। नवीनजी ने भृकुटी-भग किया। मैने समझा, निरालाजी के मन मे उमग नही है। नही तो—

मन मे आई हुलक।
का खंजरी का ढुलक॥

एक दो बार फिर निरालाजी से कहा गया— ऐसे ही होने दीजिये। परतु वे गुरु गम्भीर बन कर अपनी ही बात दोहराते रहे। नवीनजी से न रहा गया, सहसा बोल उठे— बडे गवैये बने है। अजमेरीजी बिना तबले के गा सकते है, तुम नही गा सकते तो ...

क्षण भर सन्नाटा हो गया। निरालाजी पहले हँसे, फिर तुरन्त उन्होने गाना आरम्भ कर दिया।

भिन्न भिन्न प्रकार के आठ काठ इकट्ठे करके कभी कभी कुटिल हँसी हँसते हुये प्रसादजी आनन्द उठाते थे। बात बढ जाती तब अपनी कुशलता से वे सबको शान्त भी कर दिया करते थे।

सस्कृत की एक उक्ति है, जिसका अर्थ है, भूखा व्याकरण नही खाता और प्यासा काव्यरस नही पीता। यह सर्वथा सत्य है। एक दिन हम लोग सवेरे ही स्वर्गीय केशवप्रसादजी मिश्र से मिलने भदैनी चले गये थे। उन दिनो चाय पानी भी नही करते थे। वहाँ बातो मे कुछ विलम्ब हो गया। लौटते हुये रत्नाकरजी को भी जुहारना था। कवि को श्रोता से बढ कर और क्या चाहिये। रत्नाकरजी कविता सुनाने लगे तो रग मे आकर अक्षय भडार ही खोल बैठे। वे जैसा सुन्दर लिखते थे वैसा ही पढते भी थे। बहुत समय तक हम लोग रस मे मग्न होते रहे। परन्तु अन्त मे भौतिकता हमारी मानसिकता को आक्रान्त करने लगी। वाह,वाह करते हुये भी हम आपस मे भेद भरी आँखो से देखने लगे। सहसा प्रसादजी बोल उठे—

रत्नाकरजी हमे तो आपका वह कवित्त अच्छा लगता है—

चुप रहो ऊधो सूधो पथ मथुरा को गहो।

बस, अन्त मे, उसे और सुना दीजिये। सब लोग हँस पडे। रत्नाकरजी भी मुसकरा गये। फिर भी उन्होने वह छन्द सुना दिया। मार्गमे हम लोगो ने प्रसादजी की पीठ ठोकी।

एक दिन हम लोग अजमेरीजी का गाना सुन रहे थे। उन्होने एक दादरे की पहली पक्ति सुनाई—

पी लई राजा, तुमारे सग भगिया।

मधुर कण्ठ से गाते हुये उन्होने कहा, इसका अन्तरा नही सुना। कुछ समय उपरात प्रसादजी ने कहा, मुशीजी, यह अन्तरा कैसा होगा—

न जाने कब सारी सरक गई और दरक गई अगिया।

सुन कर अजमेरी प्रसन्न होगये। वाह वाह करके प्रसादजी की उन्होने सराहना की।

एक बार बातचीत मे कालिदास की चर्चा आगई। कालिदास गुप्तकाल मे हुये अथवा ईसा के पूर्व, इस विवाद का समाधान करते हुये उन्होने कहा— दो कालिदास मान लेने से यह विवाद मिट सकता है। मैं यही समझता हू, काव्यकार कालिदास चौथी पाँचवी शती मे हुये और नाटककार कालिदास ईसा के पूर्व। मैंने कहा— जब तक पक्का प्रमाण न हो तब तक ऐसा कहना कालिदास के महत्त्व को घटाना है। मैं नही जानता, प्रसादजी का वास्तव मे यही मत था अथवा मुझे चिढाने के लिये विनोद मे उन्होने ऐसा कहा था।

उनका 'आँसू' काव्य पहले मेरे ही यहाँ प्रकाशित हुआ था। उसके किसी प्रयोग पर मैंने कहा— यह प्राचीन के विरुद्ध है। क्षण भर रुक कर वे बोले, हाँ, परतु मुझे यह ठीक लगता है। उनके कहने मे आत्म-विश्वास की झलक थी।

मेरी एक दुर्बलता है। यदि कविता अनुप्रास रहित हो तो कोई बात नही। परतु सानुप्रास रचना मे अनुप्रास का उचित निर्वाह न होना मुझे खटकता है। जैसे 'कामायनी' के आरम्भ मे ही—

..बैठ शिला की शीतल छाँह,
..देख रहा था प्रकृति प्रवाह।

एक बार उन्होने मुझे बताया— लोग बार बार मुझसे मेरी रचनाओं के आशय पूछ कर मुझे अस्थिर किया करते है। एक ऐसे ही जिज्ञासु मे मैंने कह दिया— जिस मूड मे आकर मैंने वह कविता लिखी थी, उसी मे मैं जब तक न जाऊँ तब तक कैसे समझाऊँ। हम दोनो हँसने लगे। ऐसी ही बात भगवान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठर से कही थी, जब महाभारत के युद्ध के अंत मे शोकाकुल होकर युधिष्ठर ने उनसे प्रार्थना की थी कि मुझे भी एक बार गीता का उपदेश देने की कृपा कीजिये।

प्रसादजी ने इसी प्रसग मे एक बार कहा था, कभी कभी कोई भाव अस्पष्ट रूप मे सामने आता है तो उसे भी हम ले लेते है, छोडते नही। सम्भव है आगे चल कर लोग उसे विकसित करके सुदर रूप मे व्यक्त कर सके। मुझे यह देख कर सतोष हुआ था कि 'कामायनी' मे भी एक सर्ग गीतमय है और उसमे भी सूत कातने की बात कही गई है। 'साकेत' मे सीता के मुख से कातने बुनने की बात सुन कर एक समालोचक टीका टिप्पणी करने से नही चूके थे।

अतुकान्त कविता के लिये उन्होने पहले अरिल्ल छन्द चुना था। उस पर मेरा मत भी जानना चाहा था। मैने कहा— सुकुमार भावो के लिये ही यह छन्द मुझे उपयुक्त लगता है। घनाक्षरी सब रसो के उपयुक्त समझकर उसी के एक भाग को मैने ले लिया था और उसी मे 'मेघनाद-बध' का अनुवाद किया था। कहने की आवश्यकता नही कि बगला के पयार छन्द की भाँति यह भी वर्ण वृत्त है। सस्कृत का अनुष्टप भी वर्ण वृत्त है। सियारामशरण ने मेरे प्रयुक्त छन्द को और भी विभक्त करके नये रूप मे उसका प्रयोग किया है। मैं नही कह सकता मेरे स्नेह के कारण अथवा उपयुक्तता के कारण प्रसादजी ने भी उस छन्द मे कुछ लिखा है।

प्रसादजी रवीन्द्रनाथ की बगला रचनाओ से प्रभावित थे, इस कथन का उन्होने मुझसे यह कह कर विरोध किया था कि मै बगला भाषा जानता ही नही हूँ। यह ठीक बात है। एक बार एक बगला पुस्तक के कुछ अ श उन्होने मुझसे सुने थे और अपनी समझ के अनुसार मैने उनका अर्थ भी उन्हे बताया था। बगला जानना उनके लिये सरल था, परतु जान पडता है, उस ओर उन्होने ध्यान ही नही दिया।

एक बार स्वर्गीय प० पद्मसिह शर्मा काशी आये थे। कृष्णदास के शान्ति-कुटीर मे छोटी-सी गोष्ठी हुई। रत्नाकरजी और प्रसादजी भी थे। मैने पण्डितजी के आदेश पर 'साकेत' का अष्टम सर्ग पढ कर सुनाया। उसके अन्त मे उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन सम्बन्धी दो तीन पद्य है। उन्हे सुन कर प्रसादजी ने मुझसे कहा था— तुमने प्रसङ्ग तो बडा मार्मिक और सुन्दर छेडा परतु उसम तुम्हारी असमर्थता भी झलकती है। बहुत थोडे मे तुमने उसको समाप्त कर दिया। मैंने उत्तर मे कहा— तुम्हारी बात ठीक हो सकती है। परतु मुझे तो ऐसा लगता है कि मैंने फिर उसे छेडा और वह फूल की भाँति झड कर बिखरा। यह मेरी असमर्थता है तो उसे स्वीकार करने मे मुझे आपत्ति नही। उन्होने फिर कहा— अरे एक आलिगन भी नही ? धुत् !

एक दिन मिलते ही उन्होने मुझसे कहा— आज रत्नशकर से किसी ने पूछा— तुम्हारे पिता ने 'आँधी' लिखी है, तुम क्या लिखोगे ? उसने छूटते ही उत्तर दिया— 'अन्धड'। मैने हँस कर कहा— प्रभु करे ऐसी ही हो। पुत्रादिच्छेत् पराजयम्। आयुष्मान रत्नशकर को यह बात स्मरण रखनी चाहिये।

मेरे लिये यह गौरव की बात है कि उन्होने मुझे अपनी कुछ अन्तरग बाते भी बता दी थी। परतु किसी की गोपनीय बात कहना उसके प्रति विश्वासघात करना है। यहाँ सत्य की दुहाई मिथ्या है।

केवल एक बार ही उन्हे मेरे विषय मे सदेह हुआ था फलस्वरूप कुछ दिन वे मुझसे खिचे रहे। एक समीक्षक ने उनके विरुद्ध बहुत कुछ लिखा। लिखने वाले मुझसे सम्बन्धित थे। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि उस कार्य मे मेरा हाथ जान पडा। इसके लिये मै उन्हे दोष दू। मैंने आलोचक से कहा भी था कि इसका दोष मुझ पर आवेगा। वे बोले— आप कहिये तो मैं अपना निबन्ध न छपाऊँ परतु इससे मेरे अन्तरात्मा को कष्ट होगा और मै अपने को कर्त्तव्यच्युत समझूगा। मैने कहा— ऐसी बात है तो मै आपको कैसे रोकू। मेरा जो होना होगा, होगा।

इसके कुछ दिन पश्चात् मै काशी गया। दूसरे दिन प्रसादजी कृष्णदास की कोठी पर पहुचे। उस समय मैं कोठी के नीचे ही गङ्गास्नान के लिये गया था। वे कोठी पर न रुक कर गङ्गा तट पर पहुचे। मैं पानी मे था। उन्हे देख— ललक कर मैने उनसे कहा, आओ, तुम भी स्नान कर लो। उनका सेवक भी धोती, तौलिया और तेल की शीशी लिये उनके साथ था, परतु उन्होने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नही किया। मैने कहा— सीधे नही आओगे तो मै पानी उछाल कर भिगो दूगा। उन्होने व्यग से कहा— और क्या करोगे तुम ? जितना चाहो, पानी और कीचड उछालो। यह कहते कहते उनका मुह तमतमा गया और जब तक मैं कुछ कहूँ, अवज्ञा-पूर्वक मुह फेर कर वे चल दिये। मै स्तब्ध रह गया। मुझे भी पीडा हुई, परतु मैं क्या करता ?

कृष्णदास ने यह घटना स्वय देखी अथवा मैने उन्हे सुनाई थी, मुझे स्मरण नही। वे दोनो ओर के समाचार भले चाहने वाले थे किंतु उस समय इस सम्बध मे उन्होने मौन रहना ही उचित समझा। हो सकता है, उन्हे भी मेरे प्रति कुछ सदेह रहा हो।

दूसरे लोगो की बात मै नही जानता, श्रीवाचस्पति पाठक इस विलगाव पर हृदय से व्यथित हुये। मेरा मन भी उस बार काशी मे न लगा और मै वहाँ अधिक न ठहरा।

कुछ दिन पश्चात् मैने देखा— 'आज' पत्र मे 'साकेत' को लेकर अनेक बार टिप्पणी की गई। मेरे मन मे कभी यह बात नही आई कि इस व्यग-विद्रूप के प्रेरक प्रसादजी हो सकते है। हाँ, यह हो सकता है कि लेखक ने यह समझा हो कि इससे प्रसादजी प्रसन्न होगे।

पाठकजी तब तक काशी से प्रयाग नही गये थे और समय समय पर इस

भ्रम के निराकरण की चेष्टा भी वे अवश्य करते रहे होगे। अन्त मे उनका प्रयत्न सफल हुआ। मै फिर काशी गया और पाठकजी के उद्योग से हम दोनो पुन शाँति-कुटीर मे मिले। आवेग से मेरे आँसू आगये और धृष्टता क्षमा हो, यह कहते हुये कि तुमने मेरे साथ न्याय नही किया, मैने उन्हे एक थप्पड मारी और उनसे लिपट गया। वे मुझे थपथपाते रहे। पाठकजी के अनुग्रह से मैने इस बार अपने को पहले से भी अधिक प्रसादजी के निकट अनुभव किया।

लखनऊ मे एक बडी-सी प्रदर्शिनी थी। और भी कुछ आयोजन किये गये थे। हिंदुस्तानी एकेडेमी की बैठक भी उस बार वही हुई थी। एक कवि-सम्मेलन का भी प्रबन्ध किया गया था। ओरछा के महाराज वीरसिंह देव उसका उद्घाटन कर रहे थे। प्रसादजी भी लखनऊ आये थे। कवि-सम्मेलन के सयोजक से मैने कहा— प्रसादजी के स्थान पर जाकर आपको उनसे सम्मेलन मे आने के लिये आदरपूर्वक आग्रह करना चाहिये। सयोजक ने कहा— निमत्रण तो भेज दिया गया। मैने कहा— यह पर्याप्त नही। आपको स्वय वहाँ जाना चाहिये। वे जानते थे कि प्रसादजी के और मेरे बीच एक तनाव हो चुका है। सम्भव है वह अब भी शेष हो। स्वय भी वे प्रसादजी से कुछ अनख मानते थे और अपने आपको किसी से न्यून नही समझते थे। परतु यह तो साधारण शिष्टाचार की बात थी। उन्होने कहा— अच्छी बात है, मै स्वय जाता हूँ। वे गये भी परतु न जाने कहाँ ? प्रसादजी के स्थान पर नही गये। जब मै सम्मेलन के मण्डप के द्वार पर पहुचा तब मैंने उनसे फिर पूछा— आप प्रसादजी के यहाँ हो आये। उन्होने कहा— नही जा सका, कहाँ कहाँ जाऊँ ? मैं इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता था कि कवि-सम्मेलन मे सम्मिलित न होऊँ। मैने यही किया। पीछे प्रसादजी ने मुझे बताया कि कवि-सम्मेलन मे लोगो ने मेरे और तुम्हारे लिये बडा कोलाहल मचाया। तुम क्यो नही गये।

यही प्रश्न मै उनसे न कर सका। मैंने क्षुब्ध होकर कहा— पागल हुये हो। प्रसादजी हँस गये और उनकी आँखे चमक उठी। हम दोनों प्रदर्शिनी देखने चले गये। वहाँ एक महिला लेखिका मिल गयी। बोली— कहाँ घूम रहे है ? चलिये देखने की वस्तुएँ मै दिखाऊँ यह कह कर वे एक ऐसी दूकान पर ले गयी जहाँ स्त्रियो के व्यवहार की अनेक वस्तुएँ थी। हँस कर उन्होने कहा— घर जाने के पहले जो लेना हो यहाँ ले लीजिये। प्रसादजी ने भी वैसी ही हँसी हँस कर कहा— यहाँ तो आप ही ले सकती है।

लखनऊ से मै उन्ही के साथ काशी गया। मार्ग मे उन्होने कामायनी के कुछ अश स्वय मुझे सुनाये। डिब्बे मे वे, उनके एक मित्र और मैं, यही तीन जन थे। उस दिन का आनद मैं नही भूल सकता। उस बार भारतेन्दु भवन मे

डा० मोतीचद्र के साथ हम लोगो ने मिल कर अतिम बार भोजन किया।

प्रसादजी के व्यायाम, आहार, विहार और पौरुष की बातें सुनकर सचमुच कौतूहल होता था। मनो बादाम खाने से सुना है, उन्हे अत मे भयानक प्रतिक्रिया का सामना करना पडा। बादामो का विष धीरे धीरे उनके शरीर मे व्याप्त होता रहा और अत मे घातक रोग के रूप मे प्रकट हुआ। अनेक प्रकार की चिकित्सा हुई। पीछे उन्होने होमियोपेथिक चिकित्सा का आश्रय लिया। चिकित्सक श्री राजेन्द्र नारायण शर्मा उनके मित्र थे। उनकी चिकित्सा पर उन्हे विश्वास भी था। अन्य डाक्टरो की राय थी कि उन्हे पहाड पर जाना चाहिये। मै यह नही मानना कि अर्थाभाव उसमे बाधक हुआ। यही जान पडता है, ये जीवन से निराश हो गये थे और अत मे काशी नही छोडना चाहते थे। उनके शरीर की दशा देखकर मै अपने आँसू न रोक सका। उन्ही दिनो राजर्षि टण्डन काशी आये। मुझे साथ लेकर वे प्रसादजी को देखने गये। प्रसादजी खाट से लग थे और अस्थि-चर्म ही उनमे शेष रह गये थे। ऐसा लगता मानो शय्या पर एक चादर ही पडी है और कुछ नही। फिर भी उनके मुह पर निश्चित दृढता दिखाई देती थी। मुसकरा कर ही उन्होने अभिवादन के लिये हाथ जोडे। मुझे पता था कि इस बार का मगलासप्राद पुरस्कार उन्हे दिया जायगा। जब हम लोग उनके कक्ष से बाहर निकले तब मैंने टण्डन जी से कहा— आप कहे तो मैं यह बात उनसे कह आऊँ। सम्भव है, इससे उन्हे कुछ सतोष हो। टण्डनजी ने अनुमति दे दी और मैं फिर उनके कक्ष मे गया। प्रश्न-सूचक दृष्टि से उन्होने मेरी ओर देखा। मैने कहा— इस बार का मगलाप्रसाद पुरस्कार तुम्हे देने का निश्चय हुआ है। तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओ। मैं भी उसे लेने के समय तुम्हारे साथ चलूगा। उन्होने उत्तर मे कुछ न कह कर दोनो हाथो से मुझे पकड लिया। मैंने देखा, उनकी आँखे छलछला आई है और वे गद्गद् हो रहे है।

इसके पश्चात् ? मुझे अपनी पहली बात ही फिर कहनी पडती है—

जयशकर कहते कहते ही, अब भी काशी जावेंगे।
किन्तु प्रसाद न विश्वनाथ का, मूर्तिमंत हम पावेंगे।
तात, भस्म भी तेरे तनु की, हिंदी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते जाते थे, रोते आवेंगे।

प्रसाद— मेरी दृष्टि में

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आजकल प्रसादजी हिन्दी के श्रेष्ठ कवि और नाटककार के रूप मे सर्वत्र परिचित है। उनके पुराने आलोचको ने भी अब उनकी प्रतिभा का लोहा मान लिया किंतु हिन्दी-साहित्य मे एक ऐसा समय भी गया है जब इस अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न कवि को व्यगो, कटूक्तियो और प्रतिकूल समालोचनाओ की बौछार सहनी पडी थी। प्रसादजी की काव्य-साधना इन्ही व्यगो और कटु समालोचनाओ के बीच शान्त और स्निग्ध गति से चलती रही। उन्होने कभी कटु आलोचनाओ का उत्तर देने की चिन्ता नही की, यद्यपि मुझे ऐसा लगता है कि वे उनसे थोडा-बहुत प्रभावित अवश्य होते रहे। प्रसादजी जीवन की गहराई मे से रस ले सकते थे जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष ग्रीष्म की धधकती ज्वाला की बौछार सहकर भी शीतल और सरस बना रहता है, क्योकि वह गहराई मे से रस खीचता है, उपरले स्तर की ज्वाला उसके लिये कोई खास महत्त्व नही रखती, उसी प्रकार प्रसादजी भी जीवन के गम्भीरतल से रस-सग्रह कर सकते थे। फेन-बुदबुद की भाँति क्षण-क्षण मे उद्‌भूत और विलीन होने वाले और ईर्ष्या, द्वेष या अज्ञान से पुष्टि पाने वाले सामयिक कटु उद्‌गारो को उन्होने कोई महत्त्व नही दिया।

प्रसादजी के बहुत निकट सपर्क मे आने का अवसर मुझे कभी नही मिला। एक विचित्र प्रकार मे उनके काव्य से मेरा प्रथम परिचय हुआ। मै उन दिनो सस्कृत का विद्यार्थी था और हिन्दी की नवीन कविता के प्रति मेरे मन मे पूर्ण रूप से अश्रद्धा थी। कभी कभी मै हिन्दी मे तुकबन्दी कर लिया करता था, पर कवि-सम्मेलनो मे सुनाने का कभी साहस नही कर सका। मैं राजशेखर के उस प्रथम श्रेणी के कवि के समान था जिसका काव्य घर मे ही रह जाता है— 'एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यम्'। परतु एक बार मेरी एक तुकबदी सयोग से भाई सोहनलालजी द्विवेदी को मिल गई, सोहनलालजी उदार और सहृदय कवि थे, वे भी उन दिनो काशी विश्व-विद्यालय मे पढ रहे थे, उन्होने दिल खोल कर मेरी कविता की प्रशसा की और प्रसादजी की एक पुस्तक भेट की। पुस्तक सम्भवत 'झरना' थी। भाई सोहनलालजी का अनुमान था कि उस पुस्तक की कविताओ को पढ कर मै आधुनिक कविता का प्रशसक हो जाऊँगा। मैने पुस्तक को यथा-सम्भव बडे ध्यान से से पढा, समझने का प्रयत्नभी किया और इस नतीजे पर पहुँचा कि इन कविताओ का कोई मतलब ही नही होता। मुझे ऐसा लगा कि

कवि ने कलम की नोक पर जो भी शब्द आये है और छन्द के अनुकूल पडे है उन्हे बिना विचारे रख दिया है। इन पक्तियो से यदि कोई अर्थ निकले तो वह बुद्धिमान् पण्डित की करामात ही होगी, परतु इतना लाभ अवश्य हुआ कि मुझे मालूम हो गया, इसी काशी मे जयशकरप्रसाद नाम का कोई हिन्दी कवि है, जिसके प्रति भाई सोहनलाल द्विवेदी जैसे सहृदय हिन्दी-प्रेमी युवको की अपार श्रद्धा है। मैं धीरे-धीरे प्रसादजी की रचनाओ को पढने लगा, परन्तु उनकी ओर मेरा सच्चा आकर्षण उनके नाटको के कारण ही हुआ, कविता के कारण नही। नई हिन्दी-छायावादी कविता के प्रति मेरी श्रद्धा कुछ आगे चल कर कविवर पत के 'पल्लव' नामक काव्य-सग्रह के द्वारा हुई। यह पुस्तक भी मुझे एक दूसरे अत्यन्त सहृदय मित्र प० शिवकुमार शुक्ल की कृपा से प्राप्त हुई थी। अस्तु सन् १९३० ई० तक मैने प्रसादजी के प्रकाशित प्राय सभी नाटक पढ डाले। इसी समय मुझे प्रत्यक्ष रूप से इन्हे देखने का अवसर भी मिल गया। वे एक कवि-सम्मेलन मे पधारे थे, कोई कविता उन्होने नही पढी। आदि से अन्त तक वे शात गभीर भाव से बैठे रहे। कभी- कभी हॅस अवश्य देते थे, परतु अधिकाश वे स्थिर भाव से चुपचाप ही बैठे रहे। जहॉ तक मुझे स्मरण है, उनके शरीर पर एक शुभ्र महीन चादर थी, जो उनके व्यक्तित्व मे एक विचित्र गरिमा भर रही थी। मैं उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ था और उसके बाद उनके काव्य को और भी निष्ठा से समझने का प्रयत्न करने लगा था। परन्तु सन् १९३० मे काशी छोडने के बाद भी मेरा यही मत था कि उन कविताओ से अर्थ निकालना कठिन काम है। अब मै यह तो मानने लगा था कि प्रसादजी जैसा बहुश्रुत व्यक्ति निरर्थक शब्द-योजना नही कर सकता, लेकिन उनकी रचनाओ की दुरुहता अब भी मेरे लिये ज्यो की त्यो बनी हुई थी। स्पष्ट बात यह है कि अब पहले की तरह प्रसादजी की कविताओ की दुरूहता को उनका दोष न मान कर अपनी समझ का दोष मानने लगा था।

इस बीच एक विचित्र सयोग से प्रसादजी को भी मेरे बारे मे कुछ पूछ-ताछ करने की आवश्यकता महसूस हुई। मैने एक लेख लिखा था, जो सम्भवतः १९२९ ई० की 'सुधा' के किसी अङ्क मे प्रकाशित हुआ था। लेख का शीर्षक था 'मेरु कहॉ है' प्रधानरूप से ज्योतिष के ग्रन्थो के आधार पर ही मैंने इस विषय का प्रतिपादन किया था। लगभग उसी समय इसी विषय पर प्रसादजी का भी एक लेख प्रकाशित हुआ। मुझे ठीक स्मरण नही कि किस पत्रिका मे वह लेख निकला था। सम्भवत वह प० हरिभाऊ उपाध्याय के सम्पादकत्व मे निकलने वाली 'त्याग-भूमि' मे प्रकाशित हुआ था। प्रसादजी ने ज्योतिष-शास्त्रीय प्रमाणो का अधिक उपयोग नही किया था। 'सुधा' वाले लेख को पढ कर उन्हे मेरे बारे मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई और मेरे एक परिचित मित्र से मेरे बारे मे उन्होने पूछ-ताछ

की। यदि मैं काशी मे रह गया होता तो कदाचित् उनके निकट पहुँचने का अवसर मुझे मिल जाता; परन्तु मुझे बाहर चला जाना पडा, और व्यक्तिगत सम्बन्ध अधिक नही बढ पाया।

प्रसादजी के नाटको से भारतवर्ष की भूली हुई, और अधभूली हुई प्राचीन सस्कृति का सिहद्वार अनावृत हो गया है। महाभारत से लेकर गुप्तकाल तक के अनेक प्रसङ्गो की अवतारणा करके उन्होने अपने देश की पुरानी सस्कृति को अपने नाटको के द्वारा सजीव रूप मे उपस्थित कर दिया है। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके नाटको को पढ कर मेरे मन मे बौद्ध-साहित्य को पढने की प्रबल लालसा जाग्रत हुई थी। यद्यपि मैं इन नाटको से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था और कभी-कभी मेरे चित्त मे इसी प्रकार के प्रयास करने की प्रेरणा भी उत्पन्न हुई थी, तथापि मै प्रसादजी के केवल दो गुणो पर ही अधिक मुग्ध था—एक तो गम्भीर अध्ययन के द्वारा प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के ढूहो मे से ऐसे प्रसङ्गो के चुनने की दक्षता जो अपने आप मे ही महान् होते थे, और दूसरा चुने हुए छिन्न सूत्रो द्वारा निर्मित ककाल को सप्राण और मोहक बनाने का उनका अद्भुत रचना-कौशल।

इनके नाटको को पढ कर मै चकित भाव से सहस्रो वर्ष पुराने भारतवर्ष को जीवन्त रूप मे देखने की दृष्टि पाता था। सुदूर अतीत के नर-नारियो का जीवन-चित्र, प्रतापी नरपतियो के उत्थान-पतन, सामतो और महन्तो के कूट-नीतिक दाँव-पेच, प्रेम और घृणा के घात-प्रतिघात और षडयत्र और विस्फोटो का रोमाञ्चकर दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता था। रह-रह कर मेरे मन मे यह बात भी उठती थी कि प्रसादजी जरूरत से ज्यादा षडयत्रो और जालसाजियो की योजना करते है। मुझे ऐसा लगता था कि अपनी वाल्यावस्था के पढे हुये तिलस्मी उपन्यासो, जासूसी कहानियो और ऐतिहासिक उपन्यास के नाम पर चलने वाले सनसनीखेज किस्सो का असर उनके ऊपर रह गया था। वे अपने को उस प्रभाव से बचा नही सके थे। किसी-किसी नाटक मे वे पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो के प्रभाव से भी मुक्त नही हो सके थे, परतु सब मिलाकर प्रसादजी की विराट् कल्पना का वह भारतवर्ष जो महाशोण से कुभा और वक्षु तक फैला हुआ है, और जिसकी पवित्र सस्कृति का महानद अनादिकाल से मनुष्यता का जयोद्घोष करता हुआ आगे बढता जा रहा है मुझे अभिभूत और चकित कर देता था। उस समय मुझे हिन्दी मे ऐसा कोई दूसरा साहित्यकार नही दीखता था जो भारतवर्ष को इस प्रकार देश और काल मे प्रसारित करके देख सके, और उसकी सनातन-सस्कृति के महान् तत्वो को सजीव बनाकर प्रत्यक्ष करा सके।

यह कहना गलत होगा कि मै इन नाटको मे केवल गुण ही गुण देखता

था, मुझे दोष भी दिखाई देते थे। प्रसाद के अनेक आलोचको की भाँति मै भी मानता था, कि ये नाटक अभिनय के योग्य नही है। उनकी भाषा वैसी नही है, जैसा कि उसे होना चाहिये था। बहुत से लोग मस्कृत-शब्दो के बहुल प्रयोग को ही प्रसाद की भाषा का दोप बताते थे, परतु मेरा विचार था कि उनका प्रधान दोष यह है कि वे पात्र और प्रसङ्गो के अनुकूल बन जाने योग्य लोच नही रखती।

इस प्रमङ्ग मे एक मनोरजक कहानी याद आती है। यद्यपि, जैसा कि मैने ऊपर कहा है कि प्रसादजी की भाषा से मेरी शिकायत थी, परतु कभी-कभी परिहास मे काशी का विद्यार्थी होने के कारण मुझे प्रसादजी की ओर से मित्रो को जवाब भी देना पडता था। 'विशाल-भारत' के यशस्वी पत्रकार प० बनारसीदास चतुर्वेदी से कई बातो मे मै आजतक सहमत नही हो सका, फिर भी उनके ऊपर मेरी बडी श्रद्धा है, क्योकि मै जानता हूँ कि वे अत्यन्त उदार, सच्चे और ईमानदार सहृदय है। जो बात उनकी समझ मे नही आती उसे वे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार करते है। जो बात उन्हे अच्छी लगती है, उसे वे सहज-सरल शैली मे कह देते है, और जो बुरी लगती है उसे भी बिना किसी व्यक्तिगत कटुता के बढाये साफ साफ कह देते है। उन्हे देख कर मैने यह समझा है कि सत्य कितना भी कठोर हो, जब ईमानदारी के साथ प्रकट किया जाता है, तब उसमे कटुता नही आने पाती। जो आलोचक सचाई के नाम पर जहर से बुझे वाक्यो का प्रयोग करते है, उनमे ईमानदारी नही होती, तो प० बनारसीदास चतुर्वेदीजी बराबर यह मानते रहे है कि प्रसादजी को भाषा लिखनी नही आती थी। इस लपेट मे उन्होने पूरब के सभी साकिनो को घसीट लिया था। परिहास मे वे कहा करते थे कि कानपुर के पूरब मे रहने वालो को हिन्दी-भाषा लिखनी आती ही नही। एक बार ऐसा हुआ कि उन्होने परिहास मे कहा कि बनारस वालो को तो भाषा लिखनी आती ही नही। प्रसग प्रसादजी की भाषा का था। उस विनोद के प्रथम लक्ष्य प्रसादजी थे और दूसरा मै। मैने कहा, कि पडितजी आज बनारस की चाहे जोभी अवस्था हो गयी हो, आज से पचास वर्ष पूर्व बनारस के प्रति लोगो की ऐसी श्रद्धा थी कि पिता अपने पुत्र का नाम बनारसीदास रखने मे गोरव अनुभव करता था। चतुर्वेदीजी खूब हँसे और आजतक उस मजाक की चर्चा किया करते है।

अस्तु, यह तो आवन्तर बात हुई। प्रस्तुत प्रसग यह है, कि सन् १९३५–३६ ई० तक मेरी धारणा थी कि प्रसादजी की प्रतिभा का गौरव उनके नाटको के कारण है। यद्यपि इन नाटको की भाषा मे और भी सुधार अपेक्षित जान पडता था। इन नाटको की दृश्य-योजना मे शिथिलता मालूम पडती थी। उनके नाटको मे कोई न कोई महिला-पात्र ऐसी मिल जाती है जो या तो प्रेम के अनादृत होने के कारण भीषण हो उठती है या किसी स्वार्थवश कूटनीति-यत्र का सचालन करने लगती है। मुझे ऐसी योजना का बाहुल्य यथार्थ का कुछ अतिरेक जान पडता है,

फिर उनके नाटको मे अचानक अप्रत्याशित घटने वाले प्रसगो से या जटिलता प्रकट करने वाले पात्र की अचानक मृत्यु से कथानक को सरल बनाने का प्रयत्न है। यह बात भी मुझे बहुत उचित नही जान पडती। मुझे ऐसा लगता था और अब भी लगता है, कि प्रसादजी के नाटको के दृश्याशो का और भी ठोस सघठन सम्भव है। इन नाटको मे प्रसादजी कभी कभी कवित्वपूर्ण वातावरण उत्पन्न करने के मोह मे पडकर कथानक की स्वाभाविक गति को व्याहत भी कर देते है। इस प्रकार विशुद्ध नाटक की दृष्टि से मुझे ये नाटक सदोष दिखते थे और मेरे विचार आज भी बहुत अधिक परिवर्तित नही हुए है। परतु साथ ही मैं इस सत्य को नही भुला सका था और न आज भुला सका हूँ, कि प्रसादजी के नाटको ने मनुष्य के गूढ चरित्र मे प्रवेश करके इतिहास के विस्रस्त खण्डो से अनेक अविस्मरणीय चरित्रो की सृष्टि की है। उनके नाटको के पढने से नि सशय रूप मे ऐसा अनुभूत होता है कि सुदूर अतीत से वर्तमान काल तक अविराम चली आती हुई मानव-धारा मे हमे अभिभूत, चालित और प्रेरित करनेवाले सैकडो मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से आमने-सामने खडे हो गये है। ऐसी विशाल प्रतिभा से मण्डित कवि को देश कभी भुलाना बर्दाश्त नही करेगा।

प्रसाद—साहित्य के मेरे अध्ययन का एक बडा भारी विरोधाभास यह था, कि मैं कविता से तो प्रभावित नही हुआ पर नाटको से प्रभावित हुआ था, और फिर भी मैं मानने लगा था, कि प्रसाद के नाटको का प्रधान आकर्षण उनका कवित्वमय वातावरण ही है। धीरे-धीरे मैं प्रसादजी की कविता भी समझने लगा। यह तो मैं स्वीकार करूँगा, कि मैं प्रसादजी की कविता का सहज रसिक पाठक नही हूँ। बहुत थोडे कवियो की रचना मैं बिना किसी प्रयोजन के सिर्फ अपने आनन्द या प्रेरणा पाने के लिये, पढता हूँ। परतु मेरे जैसे व्यक्ति सिर्फ आनन्द या प्रेरणा के लिये कविता नही पढते, बल्कि कविता पढना भी उनका पेशा या व्यवसाय है। इस व्यवसाय के कारण आज बहुत से कवियो की चर्चा होने लगी है, और बहुत से गडे मुर्दे उखाडे जाने लगे है। साहित्य-चर्चा यदि मेरा व्यवसाय न होती, तो कदाचित् मैं प्रसादजी की कविता पढता ही नही। इसका यह मतलब नही, कि मैं यह मानता हूँ कि प्रसादजी की कविता मे प्रेरणा या आनद देनेवाला तत्त्व नही है। उल्टे, मैं ऐसा मानता हूँ कि कविता मे ऐसे तत्त्व प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। प्रश्न रुचि और अवसर का है। कालिदास, भवभूति और बाणभट्ट की रचनाओ को मैं जिस प्रकार बिना किसी स्थूल प्रयोजन के पढता हूँ, उसी प्रकार प्रसाद को नही पढता। प्रसाद को पढने के लिये कोई बहाना ढूढना पडता है जब यह बहाना मिल जाता है, तो नि'सदेह छककर रस-पान करता हूँ। इससे मैं प्रसादजी की कविता की कोई अवहेलना नही मानता।

बहाना नही मिलने पर मै वाल्मीकि की रचना भी नही पढ पाता, परतु कवि के रूप मे बाल्मीकि का गौरव मेरे मन मे बहुत अधिक है, अस्तु ।

सभवत. सन् १९३७-३८ की बात है, उस समय कामायनी नई प्रकाशित हुई थी, और प्रसादजी बीमार थे। प० बनारसीदास चतुर्वेदी ने कामायनी की एक प्रति भेजी, और अनुरोध किया, कि 'विशाल-भारत' के लिये उसकी एक समालोचना लिख दूँ। चतुर्वेदीजी ने उदार और स्नेह-परायण हृदय के अनुरूप ही पत्र मे यह भी लिखा, कि 'विशाल-भारत' मे प्रसादजी के विरुद्ध छपता रहा है, परतु वे इस समय बीमार है, और उनका स्वास्थ्य बहुत ही नाजुक स्थिति मे है, इसलिये कामायनी की आलोचना करते समय अपने स्पष्ट विचारो को तो अवश्य लिखूं, परतु कही भी कोई ऐसा कडा वाक्य न लिख दूँ, जिससे रुग्ण प्रसादजी को रच-मात्र भी कष्ट पहुँचने की सभावना हो। चतुर्वेदीजी ने और भी लिखा कि प्रसादजी के गुणो की भी चर्चा उदारतापूर्वक अवश्य होनी चाहिये, और अन्त मे यह भी लिख दिया, कि ये मेरे विचार है, आपको जैसा उचित जान पडे, वैसा करे।

मैने कामायनी पढना शुरू किया। एकाध जगह अटका लेकिन रुका नही, और कई जगह तो दरेरा देकर निकल गया। मैने सोचा, कि क्या सचमुच यह उसी कवि का काव्य है जिसको मैने किसी दिन निरर्थक शब्द-योजना करनेवाला समझा था। भाषा का अजस्र प्रवाह, भावो का अपूर्व वैभव और गहन चितना की अद्भुत् विनियोजना चकित कर देनेवाली थी। कामायनी को मैने दुबारा पढा। इस बार दोष-दर्शी आलोचक की दृष्टि से कामायनी की कथा से मैं परिचित हो चुका था। इस बार उसकी बारीकी या भोडेपन से परिचित होना चाहता था। मैने प्रथय पृष्ठ को ही थोडी झुँझलाहट के साथ पढा—

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाह,
एक पुरुष भीगे नयनों से—
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

इस प्रथम पद्य मे ही आदि मानव को भीगे नयनो से देखते हुये देखकर मुझे थोडी अरुचि हुई। यही क्या वह आदि-मानव है, जो प्रकृति की सहस्त्रो बाधाओ से नित्य जूझा करता था, और सदा अम्लान-अकातर बना रहता था। मेरे मन मे विचार आया, कि प्रसादजी को आदि मानव के चित्रित करने मे सफलता प्राप्त नही हुई। उसमे "अवयव की दृढ मासपेशियो" और "स्वस्थ रक्त-वाहिनी स्फीत शिराओ" के अतिरिक्त कुछ और भी होना चाहिये था। उसमे झबरा-झबरा भाव और अकुतोभय पौरुष का भी समावेश होना चाहिये था। प्रकृति

के भयकर प्रकोप को देखते समय उसमे प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिहिसा की भावना होनी चाहिये थी और भी प्रकृति सघर्ष-जन्य उद्धत भाव उसमे दिखना चाहिये था, जो कवित्त के अभाव मे मेरी वाणी प्रकट नही कर सकती। लेकिन अद्भुत प्रतिभाशाली प्रसाद की वाणी अनायास ही यह कह सकती थी। मुझे सबसे बडा आश्चर्य इस बात से हुआ, कि जो कवि अपने नाटको मे काल के विषम प्राचीर को अनायास लाँघ जाता है, वह इस काव्य मे आदि मानव-काल तक क्यो नही पहुँच सका। परतु मैने अपने भाव को दबाया और अपनी समालोचना मे इस विचार को तरह दे गया। यह नही, कि सत्य को कहने मे मुझे कोई हिचकिचाहट थी, बल्कि यह कि, कामायनी को दुबारा पढने के बाद मैने अनुभव किया, कि आदि-मानव इस काव्य का लक्ष्य नही उपलक्ष्य है। समूचे काव्य मे अनेक मनोहर चित्रो को ऐसे कौशल के साथ सजाया गया है कि ऊपर-ऊपर स्वतत्रसे दीखनेपर भी वे एक समग्र अर्थ-भूमिकी व्यञ्जना करते है। यह अर्थ-भूमि यह है, कि बौद्धिक प्रचेष्टाये मनुष्य को सच्चे आनन्द से सदा दूर रखती है, और श्रद्धा ही उसे सच्चे आनन्द-का अनुभव कराती हुई कल्याण-मार्ग की ओर ले जाती है। कविने इडाके द्वारा आयोजित उपकरण-बहुल आयोजनो द्वारा श्रद्धा विश्वासहीन आधुनिक विज्ञान पर आधारित उपकरण-बहुला सभ्यताकी ओर भी इगित किया है, और अतिम सर्ग मे जिस सामरस्यकी ओर इगित किया है, वह चिरतन मानव की सनातन समस्याओ का सनातन समाधान है। लक्ष्यपर दृष्टि न रखकर और समग्रताकी ओरसे आँख मूँदकर छोटी-मोटी ब्योरेकी गलतियो को पकडकर लाठी भाँजने वाले समालोचक मुझे बहुत प्रभावित नही करते। इसीलिये प्रथम सर्गके प्रथम पद्य मे ही मुझे जिस वितृष्णाका अनुभव हुआ था, उसे दबा सकने मे मै समर्थ हो सका। कामायनी की एक जैसी आलोचना मैंने उस समय लिख दी। वह छप भी गई, परतु मुझे उससे सतोष नही हुआ। मैंने नये सिरे से प्रसादजी की कविताओ के समझने का प्रयत्न किया। मैंने अनुभव किया कि प्रसाद को समझने के मेरे तीन प्रयासो मे थोडी सी एक-सूत्रता भी है।

प्रसादजी की आरभिक रचनाओ को पढने से मुझे ऐसा लगा, कि जैसे कवि कुछ कहना चाहता हो पर कह न पाता हो। अन्य छायावादी कवियोकी भाँति प्रसाद 'व्यक्तिगत अनुभूतियो के स्वत समुच्छ्रित उच्छ्वास' के विस्फोट मे विश्वास नही करते थे। वे अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियो पर अकुश लगाया करते थे। मैंने अन्यत्र लिखा है, कि "एक प्रकारकी झिझक और सकोच का भाव उनकी, 'आँसू' तक की सभी कवि-ताओ मे मिलता है। ऐसा लगता है, कि कवि को भय है कि, उसके मन मे जो भाव उमड रहे है, जो वेदना सचित है वह यदि एकाएक अपने अनावृत रूप मे प्रकट हो जायगी तो पाठक उसकी कद्र नही कर सकेगे। कवि की धारणा है, कि पाठक अभी इस परिस्थिति मे नही है कि उसके भावोको ठीक-ठीक समझ सके, और सहानुभूतिके

साथ देख सके। उनकी कविताओ के सबन्ध मे जो आलोचनाएँ निकल रही थी, उनसे भी उन्होने यही निष्कर्ष निकाला होगा।" जो हो, आरभ से ही अपने भावो की ससज्ज और सलज्ज स्थापना मे प्रसाद का सचेत व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है, इसमे धकिया कर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति नही है, बल्कि चुपचाप सबके बाद धीरेसे—आज्ञात रहकर—आगे बढ जाने का भाव है। झरना तककी रचनाओ मे यही सलज्ज भाव रहता है। आँसू मे कवि अपने भावो को अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त करने लगता है, पर अवगुठन यहाँ भी है। प्रसाद प्रकृति के और मनुष्य के सौदर्य को पूर्ण रूपसे उपयोग्य बनाने वाले कवि है। शुरू-शुरू मे जब वे बौद्ध धर्मके दुःखवाद से प्रभावित जान पडते है तब भी ससार की रूप-माधुरी को छककर पान करने के सबन्ध मे उनके मनमे कोई दुबिधा का भाव नही है। वे इस बात को स्पष्ट और दो टूक भाषा मे नही कह पाते, क्योकि तब तक उन्हे वह तत्व-वाद नही मिल सका था, जो वैराग्य और कृच्छाचार मे नही, बल्कि सब प्रकार के सामरस्य मे ही मनुष्य की परम-शाति मे विश्वास करता है।

यद्यपि सन् १९३७ ई० के बाद से ही मैं प्रसादजी की कविताओ को अधिक ध्यान से पढने लगा, तथापि मुझे स्वीकार करना चाहिए कि प्रसादजी के नाटको ने मेरे मनमे प्रकृति-दत्त भीतरी और बाहरी आवरण और अवगुण्ठन के प्रति श्रद्धा की भावना जागृत कर दी थी। मै भी प्रसादजी के इस तत्व-वाद से प्रभावित हुआ था। मुझे भी लगने लगा था, विधाता का दिया हुआ जो आवरण निरन्तर पार्थिव-सौदर्य के रूप मे प्रकट हो रहा है, वह मिथ्या नही है और न वह मनुष्य को वञ्चना के जालमे जकडने का प्रयास ही है। महाकाल देवता ने सत्यके मुखको जो हिरण्मय पात्रसे आवृत्त कर रखा है, वह किसी मनुष्य को बहकाने के लिए या भुलावा देने के लिए नही हो सकता। उनके प्रत्येक सकेतोपर जब मृत्यु झड रही है और जीवन जाग रहा है, वह जादूगर के झोले से निकले हुये वस्तु ससार की भाँति कुहक मात्र नही है, यह बधन और हिरण्मय-पात्रका आवरण परमेश्वर का आशीर्वाद है, ये न होते तो ससार रहने योग्य न होता। एक बार मैं इसी भाव से प्रभाव प्रभावित होकर एक लम्बी तुकबदी लिख गया था, जिसकी प्रथम दो पक्तियाँ याद आ रही है—

स्वागत स्वागत मेरी माया। मैंने तुमसे सब कुछ पाया।

मुझे यह भी याद है कि कुछ दिन बाद 'मेरी' को काटकर 'उनकी' कर दिया था। अस्तु।

प्रसाद की कविताओ को पढकर मैं बराबर सोचता रहा कि उनकी रचनाओं मे यह सलज्ज भाव और ससज्ज अवगुंठन क्यो है? अपने ढगसे मैने इसका उत्तर भी खोज लिया था। मुझे ऐसा लगा कि प्रसादजी स्वय कभी-कभी अपनी झिझक के कारण खिन्न जान पडते है क्यो नही वे अपने भाव खुलकर प्रकट करते! क्यो

नही लज्जा का अवगु ठन हटा पाते ?

आरभ मे प्राय· सभी छायावादियो मे थोडी बहुत झिझक थी। मैने अन्यत्र लिखा है—"छायावादी कवियो ने जब अपने भावो को प्रकट करने मे सकोच किया है तब भावो को इस प्रकार रूप दिया है कि वे मनोवृत्तियो की क्रिया के रूप मे प्रकट हो। 'भाव' होते है, किए जाते है, वे स्वय कर्ता नही होते। परन्तु कवि उनको इस रूपमे रखेगा मानो वे किसी विशेष मनोवृत्तिके मूर्त मानवीय रूपकी क्रिया हो। प्रेमी किसी सुदर रूपको छककर देखना चाहता है। देखना सभव नही होता, जिसके पास सौदर्य है वह झेप रहा है। प्रेमी दर्शक के मनमे अतृप्तिजन्य व्याकुलता है। सीधे कहना होता तो वह अपनी व्याकुलता को सहज भाषा मे कह देता। ठाकुर ने या बोधा ने सीधे सीधे कह दिया है। पर झिझक और सकोच से भरा छायावादी कहेगा कि 'मेरी अधजगी भावनाओ को सौदर्य के लजीले पद-सचार ने कुचल दिया!' प्रसादजी की कविता मे और महादेवी जी की आरभिक रचनाओ मे यह भाव है। इसीलिये कुछ लोगो ने भावनाओ को मूर्त बनाकर उनकी क्रियाके रूपमे भावोके चित्रण को ही 'रहस्यवाद' कह दिया। पर यह धारणा गलत है। रहस्यवाद यह शैली नही है। यह केवल कवि के रहस्यवादी होने की सभावना का सकेत करता है। जिस कविकी रचना मे इस प्रकार का सलज्ज अवगुंठन हो, भविष्य मे उसके रहस्वादी हो जाने की सभावना होती है क्योकि वह अनन्तकाल तक अवगुंठन की इस व्याकुलता को नही सह सकता।"

मुझे ऐसा लगा कि शुरू-शुरू मे प्रसादजी मे यह झिझक और कु ठा सकारण थी। परन्तु धीरे धीरे वह उन के जीवन की फिलासोफी बन गई। वस्तुत यह तत्ववाद उनकी आरम्भिक रचनाओ मे भी अस्पष्ट रूप मे मिलता है लेकिन बाद मे उनमे स्पष्टता और दृढकठता आगई है। वे मानो इस प्रकार सोचते है कि आवरण और अवगुंठन बुरा क्या है। विधाताने ही तो सारे ससार मे अवगु ठन का जाल बिछा रखा है। नग्न और अनावृत सत्य तो विधाता को ही अभिप्रेत नही है। यह आलोक और अधकार की आँखमिचौनी उन्होने ही चला रखी है। ससार का अतुलनीय सौदर्य क्षण-भगुर होनेके कारण ही नित्य-नवीन है यह क्या बधन है? और बधन है तो क्या बधन सत्य नही है। इसी रास्ते सोचता हुआ कवि अतमे अपने उस महात् तत्त्व-वाद को पाता है, जो पार्थिव सौदर्य मे स्वर्गीय महिमा भर देती है, जो क्षण-भगुर कहे जानेवाले विह्वल तारुण्य मे देवत्व का सधान पाता है, जो चिरकाल से बधन मानी जानेवाली नारी मे मुक्ति-दात्री रूप का सधान पाता है। प्रसादजी ने अपने अतिम और सर्वश्रेष्ठ काव्य कामायनी मे इस मोहन तत्त्व-वाद की स्थापना की है। नाटको मे नारी के जिस कूट यत्र-चालिका रूप का उन्होने चित्रण किया था, वह इस काव्य मे इडा के रूप मे निखर आता है। उनके सपूर्ण साहित्य मे नारी के

जो दो रूप उलझी हुई अवस्था मे प्राप्त होते है, वे कामायनी मे खराद पर कसे हुए मणि की भाँति उज्जवल और मोहन प्रभा से मण्डित हो उठते है। पुरानी धर्म-साधना के साहित्य से उन्हे अपने तत्त्व-वाद का समर्थन भी प्राप्त हो गया था। उनकी आरम्भिक कुण्ठा भावना भगवान का महान् वरदान सिद्ध हुई है।

इस प्रकार पिछले तीस वर्षों से प्रसाद-साहित्य के बारे मे मै भिन्न-भिन्न ढगो से सोचता आ रहा हूँ, आज उनके महान् व्यक्तित्व और विशाल प्रतिभा के सम्बध मे मेरे मन मे कोई द्विधा नही है। आरम्भ मे जो सलज्ज भाव और कुण्ठाग्रस्त आत्माभिव्यक्ति उनकी कविताओ मे दुर्बोध्यता और अस्पष्टता ले आ देती थी, वही उनके गम्भीर अध्ययन, मनन और चितन के द्वारा कामायनी जैसे प्रौढ काव्य के रूप मे प्रकट हुई है, जिसमे अणुओ के आवर्त नृत्य से लेकर भवचक्र के आघूर्णन-विघूर्णन तक समूचे सृष्टि व्यापार सौदर्य के अखण्ड स्रोत के रूप मे मूर्तिमान हो उठे है। पार्थिव सौदर्य को इतनी स्वर्गीय गरिमा प्रदान करने वाले कवि बहुत थोडे हुए है। प्रसाद की श्रेणी का सौदर्य प्रेमी कवि हिदी मे तो दुर्लभ ही है।

प्रसाद का व्यक्तित्व और कृतित्व

नन्ददुलारे वाजपेयी

जयशङ्कर–'प्रसाद' हिन्दी के युग-निर्माता कवि और साहित्यकार हो गये है। उनका इस बीच निधन १५ नवम्बर सन् १९३७ को हुआ था, परन्तु इन बीस वर्षों मे उनकी कीर्ति लेशमात्र मलिन नही हुई है। इस बीच उनके सम्बन्ध मे अनेकानेक निबन्ध और पुस्तके प्रकाशित हुई है। उनके साहित्य के विविध अङ्गो पर तथ्यपूर्ण अनुशीलन हुए है। कतिपय विश्वविद्यालयो ने उनपर तथा छायावादी साहित्य युग पर, जिसके वे एक प्रधान प्रतिनिधि थे, साहित्यिक शोध कार्य भी किया है, जिससे उनकी रचनाओ और उनके व्यक्तित्व का महत्व प्रकाश मे आया है। यह ठीक है कि अभी हम प्रसाद जी के जीवन और व्यक्तित्व के इतने समीप है कि अपने देश की साहित्यिक परम्परा और इतिहास मे उनकी वास्तविक देन का निरूपण और निश्चय करना हमारे लिए कठिन कार्य है; परन्तु प्रसाद जी के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध मे जितनी भी प्रामाणिक सामग्री एकत्र की जा सके, की जानी चाहिए। समय बीत जाने पर उनकी प्रत्यक्ष जानकारी सम्बन्धी सस्मरण नही मिल सकेंगे; उस सम्पूर्ण व्यक्तित्व और वातावरण का ही आँखो देखा उल्लेख किया जा सकेगा, जिसके भीतर से प्रसाद की प्रतिभा प्रस्फुटित और विकसित हुई थी।

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' एक असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न पुरुष थे। वे अधिक ऊँचे न थे, किन्तु उनका पुष्ट और सुसगठित शरीर था। 'गोरे मुख पर मुसकान प्रायः सदैव खेला करती थी।' मित्र मण्डली मे उनके समक्ष अनावश्यक गभीरता, विषाणता या दिखावट तो रह नही सकती थी। प्रसाद जी मित्रो का स्वागत बडी आकर्षक और आत्मीय नेत्रगति से करते थे, अक्सर मित्रो के कन्धे पकड कर हल्के ढङ्ग से झकझोर देते थे, जिससे यदि कही खिन्नता या उपालभ का भूत सवार हो तो तुरन्त उतर जाय। रहा सहा अवसाद उनके ठहाकों से दूर हो जाता था। प्रसाद जी के ठहाको मे उदारता और घनिष्ठ मैत्री के भाव व्यजित होते थे। यह कहना सत्य है कि प्रसाद की गोष्ठी मे कृत्रिमता के लिए कोई स्थान न था यह भी सच है कि उनकी गोष्ठी से लोग प्रसन्न और हँसते हुए ही निकलते थे।

प्रसाद के पतले ओठो मे सरल आत्मीय मुस्कान खूब फबती थी। पान का हल्का रग उनके ओठों को ताजगी और चमक दिए रहता था। प्रसाद जी घर पर प्रायः खद्दर के कुर्त्ते और धोती मे रहा करते थे; परन्तु बाहर निकलने पर रेशमी कुर्ता, रेशमी गाँधी टोपी, महीन खद्दर की धोती, रेशमी चादर या दुपट्टा, फुल स्लीपर

जूते और एक छडी हाथ मे रहती थी. प्रसाद जी को छडी रखने का विशेष शौक था, यद्यपि वह पूरी तरह अलकार का ही काम देती थी। एक बार जब आचार्य श्याम सुन्दरदास जी ने उन्हे मसूरी से लाकर एक सुन्दर पहाडी छडी भेट की थी, तब प्रसाद जी बडे प्रसन्न हुए थे और सभी मित्रो का बारी बारी से दिखाकर ही उन्हे सन्तोप हुआ था।

मदिर, फुलवारी और अखाडा प्रसाद-गृह के तीन सर्वप्रिय अग रहे है। प्रसाद जी अपने मित्रो को, जब वे अकेले दुकेले आते थे, अपने साथ ले जाकर फुलवारी मे ही बैठालते थे, वही बातचीत चलती थी। अधिक सख्या होने पर वे मित्रो के लिये बैठक खुलवाते थे। फुलवारी मे ही अखाडा था और उसी मे एक शीर्ष पर शिव मदिर था। अखाडे की सबसे अधिक स्मरणीय वस्तु वे मुगदर थे, जिनका वजन देखकर यह अनुमान करना कठिन हो जाता था कि प्रसाद जैसे कलाकार भी उन्हे भाँजते रहे होगे। परन्तु बात सच है, प्रसाद जी बतलाते थे कि वे मुगदर उन्ही के भाँजने के लिए बनवाए गए थे और एक पहलवान उन्हे इसकी शिक्षा देने के लिए आया करता था।

मदिर मे पूजा नित्य होती थी, परन्तु उत्सव आयोजन वर्ष मे एक ही दो बार हुआ करते थे। प्रसाद जी शैव थे और बडी श्रद्धा से शकर जी की भावना करते थे। उन्हे शिव-सम्बन्धी भारतीय दर्शन की निष्पत्तियाँ बडी प्रिय थी। शकर से सम्बन्ध रखने वाले पौराणिक प्रतीको को वे बडी रुचि और मनोयोग से समझने और समझाने की चेष्टा करते थे। शकर जी के बाद वे कृष्ण के चमत्कारपूर्ण चरित्र के प्रशसक और श्रद्धालु थे। पिछले दिनो मे वे इन्द्र के चरित्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। और उस पर एक नाटक लिखने का भी विचार करते थे। यह कार्य वे पूरा न कर पाए। परन्तु अपने निबन्धो मे उन्होने इस बात की स्पष्ट सूचना दी है कि आनन्ददायी और शक्तिवादी विचारधारा के प्राचीनतम प्रतिनिधि इन्द्र ही थे और वर्तमान भारतीय जीवन मे इन्द्र के उस स्वरूप का, देश की रक्षा का दायित्व रखने वाले नवयुवको के लिये, विशेष महत्व है।

अखाडे और मदिर से भी कदाचित् अधिक प्रिय प्रसाद जी को उनकी फुलवारी थी, जिसमे एक न एक चीज बोने और दिखाने का शौक उन्हे अत तक रहा। प्रसाद जी की वह वाटिका बहुत बडी न थी और न विशेष सज्जित ही, फिर भी इसके प्रति उनका एक अनोखा अनुराग था। कदाचित् इस वाटिका से उनकी कतिपय मनोरम जीवन-स्मृतियाँ सलग्न रही है। प्राय प्रसाद जी अपनी लिखने की कॉपी लेकर यहाँ आ जाते थे और यही बैठकर जब तक इच्छा होती, लिखा करते थे। उनकी अधिकाँश काव्य-रचनाएँ या तो इस फुलवारी मे हुई है, या रात्रि के समय मकान की दूसरी मजिल पर। कामायनी का मुख्य भाग नए घर और नई बैठक मे रात्रि के पिछले पहरो मे लिखा गया था।

अस्तु, यह तो प्रसाद जी को घर की चौहद्दी मे देखने की चेष्टा की गई। उनके परिवारिक और सामाजिक जीवन की भी थोडी सी चर्चा अप्रासगिक न होगी। प्रसाद का परिवार बहुत बडा न था। पत्नी, भाभी और एक ही पुत्र रत्नशकर। यह मै उनके प्रौढकाल की चर्चा कर रहा हूँ। उनकी बाल्यावस्था मे उनका परिवार काफी भरा-पूरा था, किन्तु क्रमश. वह घटता और क्षीण होता चला गया। कदाचित् इसीलिए प्रसाद जी को शेष कुटुम्बियो के प्रति घनिष्ठ स्नेह हो गया था। भाभी के प्रति अपने समादर की वे कभी-कभी चर्चा करते। पुत्र के लिये उनके मन मे एक हल्का आवेग भरा, किन्तु ऊपर से सौम्य और सयत स्नेह था। पत्नी के प्रति उनकी भावना का पता उनके पुत्र के 'माँ' स्वर से ही लगाया जा सकता था, क्योकि वे उनके सम्बन्ध मे, भारतीय शालीनता के अनुसार कभी कुछ कहते न थे। प्रसाद का पारिवारिक जीवन सामान्य रूप से सुखी था, यह कहा जा सकता है।

परिवार और मित्र-मडली के बाहर एक सार्वजनिक या सामाजिक व्यक्ति के रूप मे प्रसाद जी कम ही आते थे। उन्हे अपने साहित्यिक और गाहस्थिक कार्य से अवकाश ही नही मिलता था। प्राय सन्ध्या समय वे बनारस के चौक के समीप गली वाली अपनी सुँघनीसाहु की दुकान पर बैठते थे, जहाँ जाने अनजाने सभी प्रकार के लोग उनसे मिलने आते। मित्रो से प्रसाद जी जितने खुले रहते थे, अपरिचितो से उतने शालीन और मितभाषी थे। कुछ थोडे से चुने हुए वाक्यो मे वे उनके प्रश्नो का उत्तर दे देते। यदि कही किसी वाद विवाद की सभावना देखते, तो मौन ही रह जाते। परन्तु यदि मित्रो का जमावडा रहता, तो दिल खोलकर बाते करते, फब्तियाँ कसते और कभी किसी का रहस्योद्घाटन भी करते। परन्तु इन समस्त चर्चाओ मे प्रसाद जी के खुले दिल की प्रसन्न भावना ही काम करती, वैमनस्य या ईर्ष्या द्वेष के लिए उनके व्यक्तित्व मे स्थान न था।

सभा सोसाइटियो अथवा भाषण-व्याख्यानो से प्रसाद जी को बहुत कम रुचि थी. परन्तु विस्मय था कौतूहलपूर्ण वार्ता, देश विदेश के अनुभव और यात्रावर्णनो से वे विशेष आकृष्ट रहते थे। कभी कोई ऐसा व्याख्याता आ गया तो प्रसाद जी उसे सुनने अवश्य जाते। मुझे स्मरण है कि एक बार तिब्बत यात्रा-सम्बन्धी राहुल जी का भाषण सुनने के लिए वे दूर तक पैदल चलकर गए थे, और मुझे भी उसे सुनने का आग्रह किया था। कवि सम्मेलनो को प्रसाद जी नापसन्द करते थे, पर छोटी गोष्ठियो मे कविता सुनना या सुनाना उन्हे पसन्द था। एक ही बार नागरी प्रचारिणी सभा के बडे समारोह मे मैंने उन्हे 'आँसू' की पक्तियो का सस्वर पाठ करते सुना था। सारी सभा उनके कविता-पाठ से मुग्ध हो गई थी।

प्रसाद के साहित्यिक जीवन का आरभ एक कवि के रूप मे हुआ था। उनके आरम्भिक पद्यो मे अतीत की सुखद स्मृतियो की एक हल्के विषाद से भरी प्रतिक्रिया

दिखाई दी, साथ ही उनमे यौवन और शृगार की अातृप्त अतिशयता भी लगी हुई थी। 'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' के छाया-सकेतो मे इन्ही दबी भावनाओ का आभास मिलता है और 'झरना' की 'छेडो मत यह सुख का कण है, उत्तेजित कर मत दौडाओ यह करुणा का थका चरण है' आदि पक्तियो मे इसी की गूँज है। 'आँसू' के कवि का यह वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभर आया है, परन्तु इसी के साथ कवि की एक अभिनव दार्शनिकता उतनी ही प्रभावशालिता के साथ काव्य का अग बन गई है। उद्दाम शृगारिक स्मृतियो के साथ सपूर्ण समाधानकारक दार्शनिकता 'आँसू' की विशेषता है। भावनाओ के असाधारण उद्वेग के साथ उतनी ही प्रगाढ दार्शनिक अनुभूति का योग रचना मे एक अपूर्ण मार्मिकता और सतुलन ले आता है। यह दर्शन-शासित-प्रेम-गीति, नई कल्पना तथा नए काव्याभरण का योग पाकर, युग की एक प्रतिनिधि कृति हो गई है। अनेक कवियो ने इस छन्द और इसी भाव धारा की अनुकृति करनी चाही। इससे केवल इतना ही लक्षित होता है कि इस रचना के प्रति साहित्यिक क्षेत्र मे असाधारण आकर्षण रहा है। 'आँसू' के अनन्तर प्रसाद जी के प्रगीतो मे वह उद्वेग नही मिलता। 'लहर' मे अधिक परिष्कृत सौन्दर्य चित्रण और सयमित भावना-धारा है। दो-चार गीतो मे अतीत की मनोरम स्मृतियाँ भी आई है, पर उनमे आँसू की सी अभाव या शून्यता की व्यजना नही है। अब तो वे मनोरम क्षण जगत मे नया सौन्दर्य लाने की चेष्टा मे सलग्न है। 'ओ सागर सगम अरुण नील' जैसे कुछ गीत प्रसाद जी की पुरी-यात्रा के स्मारक है और प्राकृतिक सौन्दर्य की अनोखी झाँकी से समन्वित है। प्रेम और करुणा की तात्विक भावना का चित्रण 'लहर' मे महात्मा बुद्ध के जीवन प्रसग और उनकी दार्शनिकता की पार्श्व भूमि पर किया गया है। शेरसिंह का 'शस्त्र समर्पण' और 'प्रलय की छाया' के रूप मे दो नाटकीय आख्यानक गीतियाँ भी 'लहर' मे है; उनमे क्रमश 'पराजित वीरत्व' और 'सौन्दर्य गर्व' का विवरणपूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्रण है। प्रसाद जी की रेखाएँ इन चित्रणो मे पर्याप्त पुष्ट है जो उनकी कलात्मक समृद्धि का प्रमाण कही जा सकती है। 'लहर' मे बीती विभावरी जाग री' शीर्षक वह जागरण गीत भी है, जो कदाचित प्रसाद के सपूर्ण काव्य प्रयास के साथ उनकी युगचेतना का परिचायक प्रतिनिधि गीत कहा जा सकता है।

'कामायनी' प्रसादजी के कृतित्व का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। उसमे सर्वाङ्गपूर्ण जीवन-दर्शन, नारी-पुरुष का सपूर्ण चित्रण और नई परिस्थितियो का व्यापक निरूपण है। नए ज्ञान का विस्तृत उपयोग उसमे किया गया है। 'कामायनी' मे कवि प्रसाद ने आदि मानव का आख्यान लिया है और उसे प्रचीन कथातन्तु का सहारा लेकर नए उपकरणो से सज्जित किया है। कथानक मे मनोविज्ञान के साथ मानव सभ्यता के विकास का वैज्ञानिक चित्र भी दिखाया गया है। इस प्रकार काव्य का कथानक तो

नए विज्ञान का उपयोग करता है, उसे गति और विस्तार देता है, और इस विज्ञान सम्मत विकास की सार्थकता और आलोक देने के लिए कवि ने भारतीय दर्शन का सुन्दर उपयोग किया है, उसी के अनुरूप 'कामायनी' मे दो नारी चरित्र भी है एक 'श्रद्धा' भारतीय भावना और दर्शन की प्रतिनिधि, दूसरी 'इडा' नए वैज्ञानिक विकास की प्रतीक। इन दोनो का सतुलन और समन्वय नवीन भारतीय सस्कृति को 'कामायनी' के कवि की नई देन है।

प्रसाद जी ने नाट्य-क्षेत्र मे नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक देश-काल, नया आलाप-सलाप, सक्षेप मे सपूर्ण नया समारम्भ दिया। हिन्दी नाटको मे नया युग-प्रवर्त्तन होने लगा। प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक है, इसलिए घटना और चरित्र का स्वतत्र निर्माण और जीवन-समस्याओ और सघर्षों की योजना उनमे इतिहास की पाबदी के भीतर हुई है, पूर्ण स्वतत्रता के साथ नही। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक उनके कामायनी काव्य की भाँति पूर्ण निर्माणात्मक मौलिकता लेकर नही आए है, पर ऐतिहासिक नाटक के इस प्रारम्भिक प्रतिबध को स्वीकार कर लेने पर, इतिहास की पाबदी के भीतर, घटनाओ की नाटयोपयोगी योजना, चरित्रो और परिस्थितियो का सघर्ष और द्वन्द्व, और नाटक मे ऐतिहासिक देशकाल के समुचित प्रकार के साथ शिष्ट और सौम्य भाषा मे कही कुछ काव्यात्मकता लिए हुए और कही विनोद के हल्के पुट से अनुरजित सम्वादो की सृष्टि प्रसादजी ने की है। उनके नाटको मे कई प्रकार की त्रुटियाँ लोगो ने देखी है और सम्भव है, भविष्य मे भी देखे, पर हिन्दी नाटको को नवीन स्वरूप और नया जीवन देने मे प्रसादजी का कार्य ही सर्वोपरि है। इतिहास की घटनाओ को नाटकीय वस्तु के रूप मे ढाल कर सजीव पात्रो की सृष्टि करना और अतीत के उन व्यक्तियो और परिस्थितियो के प्रति आज के पाठक और नाट्य-दर्शक का मन रमा लेना प्रसादजी की विशेषता है। उन के नाटको मे घटनाओ के अर्कषरण की अपेक्षा चरित्रो की विविधता और उनकी मनोभावनाओ का उन्मेष और प्रदर्शन अधिक है। प्रसाद के नाटक इतिहास के रूखे अस्तित्व को नाटकीय कौतूहल, प्रभावशाली दृश्य-विधान और कला की चमत्कारिता देने मे समर्थ हुए है।

प्रसाद की कहानियाँ कल्पना-प्रधान है और प्राकृतिक वातावरण का बडा सुन्दर उपयोग करती है। उनकी अधिकाश कहानियो की रङ्गभूमि प्रकृति के खुले प्रसार मे है। उन्मुक्त वायु-मण्डल की विस्मयकारक और साहसिक घटनावली के बीच मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक चित्रण प्रसाद की कहानियो की विशेषता है। उनके प्रेम-कथानको मे भी मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक पार्श्वभूमियाँ रहा करती है और प्रसगानुरूप देश-प्रेम या कोई ऐसी ही सास्कृतिक भावना या आदर्श जुडा रहता है। प्रसाद की कहानियो मे वातावरण का चित्रण विशुद्ध कहानी के लिये कुछ अधिक हो

जाता है। उनमे वस्तु-अकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण कहानियो की गति मे किंचित् शिथिलता भी दिखाई पडती है। अतीत को सजीव करने की चिन्ता प्रसादजी को अधिक रहती है, कदाचित् इसीलिये सपूर्ण कहानी असाधारण काव्यत्व के साथ प्रस्तुत होती ह। उनमे भाषा की पर्याप्त आलकारिकता रहती है। प्रसादकी कहानियाँ सास्कृतिक और भावनात्मक रचना की दृष्टि से अनुपम है। 'पुरस्कार', आकाशदीप, गुडा, ममता, 'सालवती' आदि उनकी कहानियो के उत्कृष्ट उदाहरण है।

प्रसाद के उपन्यास मध्यवर्गीय सामाजिक समस्याओ, व्यवहारो और परिस्थितियो को लेकर आरम्भ हुए थे। 'ककाल' उनका प्रथम उपन्यास, विचार-प्रधान है। उसमे प्रसादजी ने उच्च जातीयता और अभिजात्य की भावनाओ पर एक बडा प्रश्न-चिन्ह लगाया है। हमारे आदर्शवादी चरित्र को भी वास्तविक परिस्थितियो मे परख कर कच्चा सिद्ध किया है। 'ककाल' की अपेक्षा 'तितली' उनकी अधिक कलात्मक कृति है। इसमे प्रसादजी ने किसानो और मजदूरो के जीवन चित्र उपस्थित किए है। किसान बालिका 'तितली' उपन्यास की प्रमुख पात्र है। वह स्वल्प शिक्षित, किन्तु महान् अध्यवसायी लडकी है। उसके चित्रण द्वारा प्रसादजी ने ग्रामीण परिस्थिति मे नया उत्साह भरने की चेष्टा की है। उन्होने ग्रामीण नव-निर्माण सम्बन्धी अपने सुझाव भी रक्खे है, जो सहयोगिता और सहकारिता के आदर्शों पर आधारित है। प्रसाद का तीसरा उपन्यास 'इरावती' ऐतिहासिक आधार पर लिखा जा रहा था। उसका जितना अश लिखा गया है, उतने से ही उसके एक श्रेष्ठ औपन्यासिक कृति होने का प्रमाण मिलता है; किन्तु प्रसादजी की असामयिक मृत्यु से उनकी यह कृति अधूरी रह गई।

प्रसाद की समस्त रचनाओ को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्कार तो थे ही, बडे मनस्वी और चिंतनशील लेखक भी थे। उन की रचनाएँ क्रमशः प्रौढ होती गई हैं, जो उनके व्यक्तित्व के विकास की परिचायक है। प्रसादजी ने अपने जीवन के अतिम वर्षों में कुछ निबध भी लिखे थे, जो उनके साहित्यिक और शास्त्रीय ज्ञान तथा अन्तंदृष्टि का प्रमाण देते हैं। यदि वे साघातिक रोग द्वारा समय के पूर्व ही हमसे विच्छिन्न न कर लिये जाते, तो हिन्दी साहित्य और भारतीय जीवन उनकी अन्य उत्तमोत्तम कृतियों से भी विभूषित होता। उनकी अतिम कृतियो को देखने से यह लक्षित होता है कि उनकी प्रतिभा लेश-मात्र भी कुँठित नही हुई थी, वरन् उनका मानस-भंडार अनेक सुन्दर और मूल्यवान रत्नों की भेंट भारती के चरणो मे समर्पित करने की तैयारी कर रहा था।

कवि प्रसाद के कुछ संस्मरण

कृष्णदेवप्रसाद गौड

मार्च का महीना, दस बजे दिन का समय, मेरे एक मित्र आये और बोले चलो प्रसादजी से तुम्हे मिला लाऊँ। अग्रेजी मे एम० ए० करके मै अध्यापक बन चुका था और कई वर्षो तक लाला भगवानदीन के चरणो मे बैठ कर क्लासिकल हिन्दी पढता चला जा रहा था। नागरी-प्रचारिणी सभा मे अक्सर जाता। जहाँ शुक्लजी, रामचन्द्र वर्मा तथा जगन्मोहन वर्मा के भी दर्शन होते। वहाँ प्रसादजी की भी चर्चा होती। उनकी कविताओ के सम्बध मे वैसी बाते सुनने मे आती जैसी आजकल नयी कविता के सम्बध मे सुनने मे आती है। इन लोगो के ससर्ग से यही धारणा थी कि कविता का अर्थ ब्रजभाषा है। कुछ विशेष उत्साह न था मगर मित्र ने आग्रह किया चलो तो। चला। मेरे मकान के नजदीक ही वह रहते थे। जिस समय मैं पहुँचा वह एक खटोले पर लेटे थे। एक नौकर तेल की मालिश कर रहा था। मेरे मित्र ने— जो अब इस ससार मे नही हैं और उस समय कुछ नाटक कुछ कविता लिखने का अभ्यास किया करते थे— मेरा परिचय कराया। उन्होने एक बार मेरी ओर देखा और नौकर से कहा— सन्तू पान ले आओ। यह बात बीस की हो या सन् उन्नीससौ इक्कीस की। एक सुदर जवान आदमी का नकशा मेरे सामने उपस्थित था। गौर वर्ण, बडी आँखे, चौडा ललाट, दाढी मूछ साफ, यह सभी बाते किसी को आकृष्ट करने के लिये पर्याप्त थी। कुछ साहित्य की चर्चा भी चली किन्तु इस समय स्मरण नही है वह किस प्रकार की थी। अवश्य ही किसी महत्व-पूर्ण विषय पर नही थी। एक अपनी पुस्तक उन्होने मुझे दी। उनका व्यक्तित्व आकर्षक था।

दूसरी बार मै कुछ दिनो के बाद अकेले गया। सध्या का समय था। और वह चौक जाने की तैयारी मे थे। सुन्दर कुर्ता, बढिया साफ धोती, सिर पर गोल टोपी जो किसी अच्छे उजले कपडे की थी लगाये, और हाथ मे मोटा डण्डा लिये वह चले। पूछा चौक चलियेगा? मैं तो उनसे मिलने ही गया था, बोला चलिये। गौदौलिया होते हुए चौक होते हुए अपनी दूकान पर वह आये। उनकी दूकान नरियल बाजार मे बहुत पुरानी थी वह अब भी है। सुँघनी साहु की दूकान के नाम से वह मशहूर है। दूकान छोटी है। उसी के सामने दूसरी पटरी पर उन्होने बैठने तथा मित्रो के स्वागत के लिये एक अलग दूकान किराये पर ले रखी थी। मै भी उनके साथ वही जाकर बैठ गया। थोडी देर के बाद लाला भगवानदीन तथा

रामचन्द्र वर्मा भी वही आ गये । फिर और भी लोग आये । वहाँ दो ही बाते हो रही थी । हँसी-दिल्लगी और साथ-साथ पान का दौर । घण्टे दो घण्टे साहित्यिक महारथियो का जमावडा और कहकहेबाजी से सारा वातावरण जगमगा जाता था । बारीक से बारीक और साफ से साफ मजाक होता था और फिर धीरे धीरे लोग चले जाते थे । प्रसादजी दूकान से रकम सहेजते थे और घर जाते थे । मजाक मे प्रसादजी बहुत हाजिर-जवाब थे । कभी ऐसा उत्तर देते थे कि लोग मुह की खा जाते थे । यह क्रम प्राय नित्य का होता था । केवल अतिम दो तीन साल जब वह बीमार रहने लगे और अनेक साथी मर-मरा गये यह बैठकी समाप्त हो गयी ।

जवानी मे प्रसादजी बहुत हृष्ट-पुष्ट थे । कुश्ती का भी शौक था । शुरू जवानी मे वह भाग का सेवन किया करते थे । बाद मे छोड दिया था । मदिरा का सेवन जब से मै उन्हे जानता हूँ कभी नही किया । सदा शाकाहारी रहे । पहले भी जहाँ तक मुझे ज्ञान है मास या मदिरा का सेवन उन्होने नही किया । खिलाने के बहुत शौकीन थे । स्वय बढिया भोजन बनाना जानते थे और अपनी देख-रेख मे बहुत अच्छी चीजे बनवाते थे । उन दिनो काशी मे साधारणत जो साहित्यकार आते थे उन्ही के यहाँ ठहरते थे और उनका आतिथ्य विख्यात था ।

मृत्यु के सात-आठ साल पहले से उन्होने सवेरे टहलना आरम्भ कर दिया था । हम लोगो के मकान के निकट बेनिया बाग है । उसी के नजदीक उन दिनो प्रेमचन्द ने भी मकान किराये पर ले रखा था । सवेरे वह, प्रेमचन्द, महावीरप्रसाद गहमरी जो जासूसी उपन्यास लेखक गोपालराय गहमरी के छोटे भाई थे और 'आज' के सपादकीय विभाग मे काम करते थे तथा इन पक्तियो के लेखक नित्य टहलने वहाँ जाते थे । लगभग एक घण्टा हम लोग वहाँ टहलते थे । वहाँ से वह मेरे मकान होते हुए डाक्टर एच० सिह के यहाँ दस पाँच मिनट बैठ जाते थे । यह होमियोपैथिक डाक्टर हैं और बहुधा इन्ही की चिकित्सा वह किया करते थे । अतिम अवस्था मे भी इन्ही की चिकित्सा होती रही । वहाँ भी हँसी मजाक होता था तब वह घर लौटते थे । बेनिया बाग मे टहलने के समय बहुत राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक विवाद होते थे और साथ-साथ विनोद भी होता रहता था । कविता और कहानी तो वह लिखा ही करते थे परतु कवि-सम्मेलनो मे जाते न थे । सैकडो बार लोगो ने आग्रह किया पर वह कभी न गये । घर पर वह मित्रो को अवश्य सुनाया करते थे । उसमे झिझक न थी । आँसू के छन्द बडी मस्ती से सुनाया करते थे । और भी रचनाओ को एक अपने निजी लहजे से सुनाते थे । रात को वह प्राय लिखा करते थे और फिर उसे दूसरी कापी मे उतार लेते थे । जब प्रेस मे भेजना होता था तब किसी से कापी करा लिया करते थे । समय-समय पर सारी कामायनी ज्यो-ज्यो उन्होने लिखी थी मुझे सुनायी थी । जब नागरी-प्रचारिणी सभा का हिन्दी का बडा कोश

समाप्त हो गया तब एक साहित्यिक आयोजन हुआ था जो कोशोत्सव स्मारक समारोह के नाम से विख्यात है। उस अवसर पर कवि-सम्मेलन भी हुआ था। उसमे बहुत आग्रह करने पर उन्होने कामायनी का लज्जा वाला सर्ग सुनाया था। उस समय तक कामायनी अधिकाश प्रकाश मे न आई थी। उसका कुछ अश माधुरी मे छपा था। जब यह पढ कर मञ्च पर से उठे लोगो ने प्रशसा के पुल बाध दिये। भूरि-भूरि सराहना लोगो ने की। उसके बाद डी० एस० वी० कालेज मे मैने कवि-सम्मेलन किया और जबरदस्ती इन्हे पकड ले गया। वहाँ पर उन्होने आँसू के कुछ छन्द तथा 'ले चल मुझे भुलावा देकर' वाली कविता सुनाई थी। यही दो अवसर मुझे याद है जब पब्लिक मे उन्होने कविता पढी थी। सन् १९३७ मे लखनऊ मे एक प्रदर्शनी हुई थी। उसी समय हिन्दुस्तानी एकाडमी का अधिवेशन भी हुआ था और एक कवि सम्मेलन का आयोजन भी हुआ था। हम लोगो के बहुत आग्रह पर प्रसादजी लखनऊ आये। वह ठाकुर त्रिभुवननाथसिह सरोज, बिसवा वालो के मकान पर मौलवीगज मे ठहरे थे। कवि-सम्मेलन के सयोजक बाबू दुलारेलाल थे। उन्होने एक औपचारिक निमत्रण उनके पास भिजवा दिया। यद्यपि वह यो भी कविता पढने वहाँ न जाते। वह कवि-सम्मेलन मे नही गये। कान्यकुब्ज कालेज के अधिकारी बहुत आग्रह से उन्हे ले गये। और महान् साहित्यकार वहाँ बुलाये गये थे। वहाँ उन्होने कुछ रचनाएँ पढी। यह उनका अतिम कविता पाठ था। उसी के बाद वह जब काशी लौटे उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और डाक्टरो ने बताया कि उन्हे राज्यक्षमा हो गया है।

जैसा उनकी रचनाओ से निकलता है, प्रसाद पक्के नियतिवादी थे। वह जान गये थे कि मै अब अच्छा न हो सकूगा। जाधवपुर सेनेटोरियम मे बहुत उनसे आग्रह करके स्थान सुरक्षित कराया। जाने की तिथि ठीक हो गई। सामान बँध गया। ठीक समय पर जाने से उन्होने इनकार कर दिया। लोग लाख कहते मनाते रह गये। वह टस से मस न हुये। तब हम लोगो ने कहा— अच्छा दूर नही तो नजदीक ही कही जाइये। उन दिनो निकट ही सारनाथ मे एक राज्यक्षमागृह था। वहाँ ठीक किया गया। सब तैयारी हुई। मोटर दरवाजे पर आकर खडी हो गई। सामान लद गया। उन्होने भी कपडे पहने। पर चारपाई से उठते-उठते क्या उनके मन मे आया वह नही गये। सब लोग चले गये। एकात पाकर मैने उनसे पूछा यह क्या बात है। यह आप अपने ऊपर ही नही हम लोगो पर भी अत्याचार कर रहे है। उन्होने उत्तर दिया गौडजी मै अच्छा नही हूगा। आप लोग व्यर्थ प्रयत्न कर रहे है। फिर उन्होने कुछ निजी बाते कही। पता नही मुझे आश्वासन देने के लिये अथवा उनमे कुछ तथ्य था। मै चुप हो गया। कुछ लोगो का खयाल था कि आर्थिक कठिनाई के कारण वह नही कही जाना चाहते। ऐसा नही था। एक बार महाराजकुमार ने जो उनके मित्रो मे थे एक पत्र उन्हे लिखा कि अर्थ की पूरी व्यवस्था मैं कर दूँगा। प्रसादजी ने

धन्यवाद का पत्र उन्हे लिखवा कर भेज दिया कि इसकी आवश्यकता नही है। वह नीचे अपने कमरे मे पडे हुये थे। मै प्राय नित्य ही उन दिनो वहाँ जाता था। सवेरे का समय था। नवीनजी आये थे। उन्होने देखा। सुदरता की तस्वीर, हृष्ट-पुष्ट शरीर सूखकर ठठरी हो गया था। चेहरा फीका सफेद हो गया था। उनके कमरे से बाहर निकल कर, नवीनजी जो बहुत ही भावुक आदमी है, फफक फफक कर रोने लगे। यह प्रसाद का हाल हो गया था।

मृत्यु के दो दिन पहले मै सवेरे उनके कमरे मे ज्यो ही गया वह मुसकरा दिये। डाक्टर जिनकी दवा हो रही थी, वहाँ मौजूद थे। तकिये के सहारे प्रसादजी बठे थे। रात भर नीद नही आई थी। सास लेने मे कष्ट हो रहा था। बैठ कर सास लेने मे कुछ आराम था। बहुत धीमे स्वर मे उसी मुसकान के साथ बोले— क्या हाल है ? मेरे मुह से बोली न निकली। बहुत परिश्रम से मैं अपने आँसू रोक सका। बाहर चला आया। वह मैने उनकी अतिम मुसकान देखी। दूसरे दिन रात को तीन बजे वही डाक्टर साहब मेरे घर आये। उन्होने पुकारा। दरवाजा खोलते उन्होने कहा— प्रसादजी नही रहे।

प्रसाद के साहित्य का मूल्याकन रोज होता रहेगा, परतु उनके जीवन का, उन के व्यक्तित्व का मूल्याकन करनेवाले अब तीन-चार ही इने-गिने लोग रह गये है। जिनके हृदय मे उनके सुख-दुख की कहानी, उनके रसमय जीवन की तस्वीरे, उनकी उदारता, उनकी विशालता, उनकी क्षमाशीलता, उनकी चतुरता, उनकी मनुष्यो के परखने की क्षमता पडी हुई। और वह भी उनके साथ चली जायगी। उनके जीवन मे भी उन्हे अनेक लोगो ने गलत समझा। पर अब तो सब कहानी रह गई।

काव्य

प्रसादजी की काव्य धारा

इलाचन्द्र जोशी

हिन्दी काव्यरस की जो रुद्ध धारा एक सकीर्ण आवर्त के भीतर आवद्ध होकर उसके चारो ओर घूर्णित होती रहती थी और उस घोर अन्धकूप के बाहर निकलने का कोई पथ न पाकर अपनी दुर्गन्ध से अपने आप माराक्रान्त हो रही थी, प्रसादजी ने अपनी प्रबल प्रतिभा के प्रताप से उसका अवरोध विदीर्ण कर दिया। उसके मुक्त स्रोत को शत शत धाराओ मे उच्छ्वसित होकर एक विशाल झरने की तरह अप्रतिहत प्रवेग से बह निकलने का मार्ग सुगम कर दिया। जिस प्रतिभा ने युग-युग व्यापी जडता से तमसाच्छन्न हमारे साहित्य जगत के आकाश मे नवीन प्रकाश तथा उन्मुक्तोल्लास का सचार किया, वह कैसी असाधारण रही होगी, इसका अनुमान भावुकजन भली भाँति कर सकते है।

बचपन मे कविता कुसुममाला मे सग्रहीत कविताओ मे निम्न कोटि की पक्तिया पढने को मिली थी—

ब्रह्मन तजें पुस्तक प्रेम आप
देता तुम्हे हूं यह राज्य सारा
मुझसे कहें यदि चक्रवर्ती
ऐसा न राजन कहिये कहूं मैं

*   *   *

अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है
क्यों न इसे सबका मन चाहे

*   *   *

क्यों पाप पुण्य पचडा जग बीच छाया ?

इस श्रेणी की कविताओ के विचित्र कुसुमो का अघ्राण करते-करते जब सिर दर्द होने लगा तो एक दिन 'इन्दु' की एक फाइल कहाँ से मिल गई, उसके पृष्ठो को उलटते हुए अकस्मात् एक कविता की निम्न पक्तियो पर आँखें गड गयी—

आकाश श्री-सम्पन्न था नव नीरदों से था घिरा
सध्या मनोहर खेलती थी नील पट तम का गिरा
यह चञ्चला चपला दिखाती थी कभी अपनी कला
ज्यों वीर वारिद की प्रभामय रत्नवाली मेखला
हर ओर हरियाली, विटप-डाली कुसुम से पूर्ण है

मकरंदमय, ज्यों कामिनी के नेत्र मद से पूर्ण है

इन पक्तियो के आविष्कार से ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे तत्कालीन हिन्दी कविता के निश्चल जगद्दल पाषाण का जलडता को भेद कर गद्गद् प्रवेग से निर्झर स्रोत फूट निकला है और उसका अविरत प्रवाह हृदय के प्रान्त-प्रान्त को अपनी स्निग्ध सरसता से अभिसिञ्चित कर रहा है।

यह कविता पीछे प्रसादजी की अन्यान्य कविताओ के साथ 'कानन कुसुम' नामक सग्रह मे सकलित हो गई थी। 'कानन कुसुम' की कविताओ मे छायावाद के आगमन की सूचना उसी प्रकार स्पष्ट दिखाई देती है जिस प्रकार प्रयाग के सङ्गम मे गङ्गाजल मे यमुना की नीली झाई स्पष्ट झलक उठती है। इस सग्रह की एक और कविता प्रथम प्रभात की कुछ पक्तियाँ हम उद्धृत करते है, जिनसे हमारा वक्तव्य और भी स्पष्ट हो जायगा।

> **मनोवृत्तिया खग-कुल सी थीं सो रही,**
> **अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड मे**
> **नील गगन-सा शान्त हृदय भी हो रहा,**
> **वाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही।**
> **स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल-मन तुष्ट था,**
> **अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरंद से**
> **अहा! अचानक किस मलयानिल ने तभी**
> **(फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ)**
> **आते ही कर-स्पर्श गुदगुदाया हमें**
> **खुली आँख, आनन्द दृश्य दिखला दिया**
> **मनोवेग मधुकर-सा फिर तो गूँज के,**
> **मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा।**
> **वर्षा होने लगी कुसुम मकरंद की,**
> **प्राण पपीहा बोल उठा आनन्द में**
> **कैसी छवि ने बाल-अरुण-सी प्रकट हो,**
> **शून्य हृदय को नवल राग रंजित किया।**

हिन्दी काव्य भावनाहीन तुकबदी के कठोर कारागार मे पडा पडा कराह रहा था। प्रसादजी ने उसकी शृङ्खलाओ को तोड कर उसे अपने मन के भव्य प्रासाद मे सलग्न रम्य-हृदयोपया मे लाकर मुक्त वातावरण मे विचरने को छोड दिया, जहा वह चिदान्दमय रस के मानस मे डूबता उतराता हुआ मधुर मोहमाया का अनुभव करने लगा। ऊपर उद्धृत की गई कविता 'प्रथम प्रभात' प्रायः ३० वर्ष पहले लिखी गई थी। अर्थात वह उस युग मे लिखी गई थी जब हिन्दी की तुकबदी का युग एक

ओर पराकाष्ठा तक पहुंच चुका था, और दूसरी ओर उसके नीचे से मिट्टी खिसकने सी लगी थी। तुकबदी की उस सुदृढ नीव को ढहाने मे प्रसादजी का प्रमुख हाथ रहा है।

कानन कुसुम मे छायावादी कविता का जो श्रोत निकला था, वह आगे बढ कर निर्झर के राशि-राशि जल प्रपात की तरह झरना के रूप मे बहने लगा। झरना नामक कविता-सग्रह मे विशुद्ध छायावाद का रस हिन्दी साहित्य मे प्रथम बार परिपूर्ण रूप से छलकता हुआ दिखाई दिया। झरने पर यदि तुकबदी युग का कोई कवि कविता करने बैठता तो सम्भवत इस तरह की पक्तियाँ लिखता—

झरने तेरा कल कल नाद,
मन को पहुंचाता अह्लाद।
तेरा स्वच्छ सुशीतल नीर,
मन को करता हर्ष अधीर।
शैल के पुत्र महान,
मुनिगण तुझमे करते स्नान।
कहां तुम्हारा तीर्थ स्थान ?
किस सरिता का तुमको ध्यान ?
धन्य धन्य हो तुम निर्झर,
बहते हो नित झर झर झर।

पर प्रसादजी ने उसी युग मे झरने पर जो कविता लिखी वह इस प्रकार है।

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।

२

कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना,
प्रथम वर्षा से इसका भरना।
स्मरण हो रहा शैल का कटना।
कल्पनातीत काल की घटना॥

३

कर गई प्लावित तन मन सारा।

एक दिन तव अपाङ्ग की धारा ॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय वन्या ने किया पसारा।
कर गई प्लावित तन मन सारा ॥

प्रसादजी का यह झरना हृदय के अतस्तल की गिरिगुहाओ को विदीर्ण करता हुआ प्रेम रस के प्लावन विह्वल हो कर बह रहा है। यह पार्थिव जगत का वह झरना नही है "जिसमे मुनिगण करते स्नान" व्यक्ति की अन्त. प्रकृति के भावो के दोलन और उद्वेलन का प्रदर्शन हम हिन्दी कविता मे पहले-पहल प्रसादजी की कविता मे ही पाते है। वस्तु जगत के झरने को अन्तर्जगत के प्रेमोद्वेलन का रूपक बना कर उसके कल-कल क्रन्दन की भावतरगो के उच्छल उद्वेग मे परिणत कर देने का अर्थ है, पाठ्य पुस्तको की जड तुकबदी को चेतनोत्सारिणी का रूप दे देना। छायावादी कविता ने अपने युग मे जो विजय का डका बजाया था उसका मूल कारण इसी बात पर निहित है। प्रसादजी की प्रतिभा का विशेषत्व भी इसी बात पर है।

प्रसादजी के इस "झरने" से रवीन्द्रनाथ के 'निर्झर" की तुलना की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ का मन रूपी निर्झर अपने अतर की अन्धगुहा के कारागार मे आवद्ध रहने के बाद जब आकस्मात एक दिन प्रबल वेग से उमडता हुआ मुक्त आलोक मे प्रवाहित हो पडा तो उसने वग काव्य-क्षेत्र से एक मूलत नयी धारा का आनयन कर दिया। रवीन्द्रनाथ का वह "निर्झर" अपने विजयोल्लास को इस प्रकार के स्वच्छन्द छन्द की गति मे व्यक्त करता है।

'आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पशिलो प्राणेर पर,
केमने पशिलो गुहार अन्सारे
प्रभात पाखीर गान
जागिया उठेछे प्राण
ओरे उथलि उठेछे वारि,
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारि।
थर थर करि कांपिछे भूधर
शिला राशि राशि पड़िछे खसे,
फूलिया फूलिया फेनिल सलिल
गरज उठिछे दारुण रोषे।
भागरे हृदय भांगरे बांध्न,

साधि रे आजि के प्राणेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघातेर परे आत कर।
मातिया जखन उठेछे पराण
किसेर आधार किसेर पाषाण
उथलि जखन उठेछे वासना
जगते तखन किसेर डर
आमि ढालिबो करुणा धारा,
आमि भाबो पाषाण कारा।
जगत प्लाविया बेडाबो गाहिया
आकुल पागल पारा।
रविर किरणे हासि छडाइया
दिबोरे पराण ढालि,
हेसे खल खल गेये कल कल
ताले ताले दिबो तालि।

अर्थात् आज के इस प्रभात मे रवि की किरणे मेरे हृदय मे कैसे प्रवेश कर गई। मेरे भीतर की अँधेरी गुफा मे प्रभात पछी की तान कैसे आ पहुँची। आज मेरे प्राण जाग उठे है। अरे, मेरे हृन्य मे जल-राशि उमड उठी है। अब मैं अपने हृदय के वासना और प्राणो के आवेग को रोक नही पाता।

भूधर थर-थर करके काप रहे है, राशि राशि शिलाखड खिसकते जा रहे है। फेनिल जल फूल-फूल कर दारुण रोष से गरज उठता है।

"हृदय आज बधन को छिन्न करके अपनी अभिलाषा पूरी करले। लहर पर लहर उठाकर आघात पर आघात करता चला जा। जब प्राण मतवाले हो उठे है तब कहाँ का अधकार और कैसा पाषाण। जब वासना उथल उठी है तब ससार मे अब किसका डर है। मैं करुणा धारा बहाऊँगा। मै पाषाण कारा को तोड डालूँगा। मैं समस्त जगत को प्लावित करता हुआ आकुल होकर पागलो की तरह गाता चला जाऊँगा सूर्य की किरणो मे अपना हास्य बिखेर कर अपने प्राणो का रस ढाल दूँगा। खिल खिल कर हँसूँगा। कल-कल शब्द से गाऊँगा और ताल-ताल पर ताली बजाऊँगा।"

रवीन्द्रनाथ के इस निर्झर मे और प्रसादजी के झरने मे यह साम्य है कि दोनो भाव प्रधान है। दोनो मानस निर्झर हैं न कि किसी वास्तविक गिरि प्रान्त से सम्बध रखने वाले पार्थिव निर्झर। दोनो ने अपने युगो मे अपने अपने साहित्य क्षेत्रो मे क्रान्ति की लहर का सूत्रपात किया है। अन्तर केवल यह है कि रवीन्द्रनाथ के

निर्झर की धारा अधिक प्रखर तथा वेगशील है और प्रसादजी का झरना करुण तथा क्लान्त गति से बह चला है। मानव मन को झरने के रूपक से बाँध कर दोनो की गतिशीलता तथा उत्ताल तरङ्गाभिघात की समता का प्रदर्शन मनोहर छन्द सगीत तथा ध्वन्यात्मक शब्द प्रवाह द्वारा करना किसी आचार्य का ही काम है। प्रसादजी इस कला के विशेषज्ञ थे।

तथापि झरना मे हम प्रसादजी को उनके वास्तविक रूप मे नही पाते। इस सग्रह की अधिकाश कविताओ मे रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी-कविताओ का अनुकरण पाया जाता है और वह भी कुछ विशेष सुंदर रूप से नही। उदाहरण के लिये.

स्वप्न लोक मे आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कण्ठा मे पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम सा।
देर तुम्हारे आने मे थी, इसलिये
कलियो की माला विरचित की थी कि, हाँ
जब तक तुम आओगे ये खिल जाँयगी।
ये सब खिलने लगी, न हमको ज्ञात था।
आँख खोल देखा तो चन्द्रालोक से
रञ्जित कोमल बादल नभ मे छा गये,
जिस पर पवन सहारे तुम हो आरहे।
हाय कली थी एक हृदय के पास ही
माला मे, वह गडने लगी, न खिल सकी।

इस प्रकार की पक्तियो को पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि रहस्यवादी बनने के प्रथम प्रयास मे कष्ट कल्पित भावो के जाल मे बुरी तरह उलझ गया है और आतरिक अनुभूति से वह कोसो दूर है। फिर भी अनुकरण का यह प्रयास इस दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है कि उसने हिन्दी कविता की गति को मूलतः नये प्रवाह-पथ की ओर उन्मुक्त किया है।

जिन कविताओ पर रवीन्द्रनाथ की छाया नही पडी है। वे अपने सहज सौरभ के विकास से स्वय आमोदित है। उदाहरण के लिए

शून्य हृदय मे प्रेम-जलद-माला
कब फिर घिर आवेगी?
वर्षा इन आँखो से होगी,
कब हरियाली छावेगी?
रिक्त हो रही मधु से,
सौरभ सूख रहा है आतप से;

सुमन कली खिल कर कब
अपनी पखडियाँ बिखरावेगी ?
लम्बी विश्व कथा में
सुख निद्रा समान इन आँखों मे—
सरस मधुर छवि शात तुम्हारी
कब आकर बस जावेगी ?

इन पक्तियो मे कृत्रिम काव्य कल्पना की क्रीडा नही, बल्कि अतर के सच्चे भावो का मर्मोद्गार व्यक्त होता है ।

झरना की फेन तरगित धारा को हम आगे जाकर आँसू की पावस सरिता के श्रम मे गद्गद् होकर उमडते हुए पाते है । आँसू की गीतिमय वेदना मे प्रसादजी के हृदय की विह्वल भावुकता उच्छल क्रन्दन के साथ अभिनय श्रम मे व्यक्त हुई है । निर्झर जब उतुँग गिरि शृङ्ग से नीचे घाटी पर उतरता है, तो वह जिस मथर, तथापि अधीर कललोल से बहने लगता है । वह आँसू के प्रारम्भिक पदो मे ही व्यक्त होता है । इन प्रसिद्ध और बहु उद्धृत पक्तियो को उद्धृत करने का लोभ मैं नही सभाल पाता हूँ ।

इस करुणा कलित हृदय मे
अब विकल रागिनी बजती
क्यो हाहाकार स्वरो मे
वेदना असीम गरजती ?
मानस-सागर के तट पर
क्यो लोल लहर की घातें
कल-कल ध्वनि से है कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें ?
आती है शून्य क्षितिज से
क्यो लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती-सी
पगली-सी देती फेरी ?
क्यों व्यथित व्योम-गङ्गा-सी
छिटका कर दोनो छोरें
चेतना-तरङ्गिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरे ?

प्रसादजी की इन पक्तियो ने हिन्दी जगत् को प्रथम बार उस वेदनावाद का मादकता से विभोर किया । जिससे बाद मे सारा छायावादी युग मतवाला हो उठा

था। वेदना की भयकर बाढ मे सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता प्रसादजी के इन आँसुओ मे रही है वह हमारे साहित्य के इतिहास मे वास्तव मे अतुलनीय है।

आँसू मे प्रसादजी ने अपनी विकल वेदना मे अभिसिंचित प्रेम की विस्मृत बातो को पुन स्मृति मे लाते हुए जो करुणाकलित गान गाया है, पूर्व पदो मे उन की उच्छ्वसित फेनिलता अत्यन्त मार्मिकता से छलक उठी है। अपने चित गगन के नीलम नभ असीम प्याले को अपने अव्यक्त प्रिय पात्र के प्रति उमडे हुए स्नेह रस से लबालब भरने के बाद जब कवि सहसा अपने उस चिर पूरित प्याले को एक दिन रिक्त पाता है, तो उस रिक्तता जनित सूनेपन की वेदना से उसकी सारी आत्मा ओत-प्रोत हो जाती है आँसू के कण-कण से वेदना बरबस ढुलक-ढुलक पडती है।

आँसू का अरण्य रोदन केवल इसलिए नही है कि प्रेम-रस से भरी जीवन की प्याली खाली हो गई है। सबसे अधिक दु ख कवि को इस बात का है कि काल का क्रूर चक्र मानव सागर के तट पर अभिनय तथा अलौकिक रस रग मे निमग्न प्राणो को अछल समुद्र मे बहाकर अनत शून्य मे छोड कर चला गया।

नाविक ! इस सूने तट पर
किन लहरो में खे लाया
इस बीहड वेला मे क्या
अब तक था कोई आया ?
उस पार कहाँ फिर जाऊँ
तम के मलीन अञ्चल में
जीवन का लोभ नहीं, वह
वेदना छद्म मय छल मे।
प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहा है
डूबा है हृदय मरुस्थल
आँसू नद उमड रहा है।
अवकाश शून्य फैला है
है शक्ति न और सहारा
अपदार्थ तिरूँगा मै क्या
हो भी कुछ कूल किनारा।

अज्ञात, असीम सागर की विक्षुब्ध लोल लहरियो के उत्ताल तरगाभिघात मे जीवनौका मे टकरा जाने पर जो उदास हाहाकार प्रसादजी के आँसू भरे पदो मे व्यक्त हुआ है, उसकी पुराध्वनि हम फ्रेंच कवि लामार्तीन की ले लाक सरेवर शीर्ष कविता

मे पाते है। लामार्तीन चिर-विरह की भावना से विकल होकर लिखता है।

हाय समय ईर्ष्यापरायण है ! हे अनत ! हे काल के गगन तामसिक गह्वर ! तुम हमारे आनन्द के जिन क्षणो को निगल जाते हो उन्हे लेकर तुम क्या करते हो ? कहो, क्या तुम मेरी उन पवित्र पुलकानुभूतियो को नही फेरोगे जिन्हे तुम चुरा ले गए हो ? हे सरोवर ! हे स्तब्ध पाषाण ! गहन अरण्य ! हे भुवनमोहिनी , माया-वनी प्रकृति देवी के अनुचरो ! कम से कम आज रात के लिए मेरे विगत आनद के दिनो की मधुर स्मृति को तो जागरित रहने दो ! हाय वह मजुल पवन, जो मद-मद प्रवाहित हो रहा है , यह नरकुल, जो आहे भर रहा है, यह भीनी-भीनी स्निग्ध सुगध, जो सारे वातावरण को आमोदित किये हुए है, जो कुछ भी मैं देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, नि.श्वास द्वारा ग्रहण कर रहा हूँ, सब यही कहते हुए जान पडते है वे लोग प्यार कर चुके !

प्यार कर चुके, अब वह प्यार नही लौटेगा, और न विरही प्रेमिक ही अब प्रत्यावर्त्तन के पथ से होकर अपने अतीत के नीड मे वापस जा सकेगा क्योकि अब पद चिह्न न शेष रहा है और ..

निर्मोह काल के काले
पट पर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पड़ी रह जाती
सुख-दुख मय जीवन रेखा ।
दुख-सुख में उठता गिरता
संसार तिरोहित होगा
मुड़ कर न कभी देखेगा
किसका हित अनहित होगा ।

इस अनत विश्व की चिर ससरणशील लीला निर्मम काल के काले पट पर सुख दु खमय जीवन की चिह्नरेखा स्मृति रूप मे भले ही छोड जाय, पर जिस वास्त-विकता को वह काल की ~~अपने~~ गति के साथ ढो ले जाती है वह फिर कभी नही लौटती । आँसू का दर्शन इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है ।

विस्मृति की निद्रा मे उसका स्वप्न लौट कर आ जाता है, पर वह स्वयं सजीव और सप्राण श्रम मे नही आ सकती । प्रसादजी के आँसू मे चिदानन्दमय मिलन के खोने की वेदना के साथ-साथ स्वप्न की सात्वना भी पाई जाती है पर लामार्तीन की तरह उस सात्वना से कवि को स्वय तोष नही होता । कारण यह है कि वास्तविकता वास्तविकता ही है; और स्वप्न स्वप्न ।

प्रसादजी के आँसू से लमार्तीन की सरोवर शीर्षक कविता का मैं जितना मिलान करता हूँ, उन दोनो मे भावो का आश्चर्यजनक साम्य पाकर उतना ही

चकित होता हूँ। प्रसादजी ने निश्चय ही लामार्तीन की कविता नही पढी थी, दोनो अपने-अपने जीवन के निजी अनुभवो से एक ही अनुभूति पर पहुँचे थे।

आँसू के बाद प्रसादजी की लहर हमारे सामने आती है। यह लहर उनके अतल मानस की गहराई से उठी है। मानस की यह गहराई कैसी है

ओ री मानस की गहराई !
तू सुप्त, शान्त, कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल—
नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका ! चिर चञ्चल—
यह विश्व बना है परछाईं।
तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल
सुख-लहर उठा री सरल सरल
लघु लघु सुन्दर सुन्दर अविरल,
—तू हँस जीवन की सुघराई !

इस लघु सुन्दर, अविरल, सरल लहर की धारा तरल विषाद द्रव के मधुर सम्मिश्रण के साथ लहर की कविताओ मे उमड चली है। प्रारम्भिक कविता मे इस लहर का चित्रण कितने विशद रूप से किया गया है।

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगराई-सी,
मलयानिल की परछाई-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
शीतल कोमल चिर कम्पन सी,
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल खेल ले ठहर ठहर !
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद-चिह्न बना जाती,
सिकता की रेखायें उभार—
भर जाती अपनी तरल-सिहर !
तू भूल न री, पङ्कज बन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक !

आ चूम पुलिन के विरस अधर !

यह लहर दूसरे ही ढग की है। इसकी अठखेलियो मे वह इठलाने का भाव, वह नृत्योल्लास, वह बकिम तरङ्गिमा, वह चपल भङ्गिमा, वह मरोर, सौ-सौ छन्दो मे स्वच्छन्द थिरकने की वह कला नही पाई जाती, जो हम पत जी के 'पल्लव' वाले वीचि विलास मे पाते है। प्रसादजी की इस लहर मे पाया जाता है जीवन के दीर्घ अनुभव के श्रम से श्रान्त पथिक के सूने विश्राम तट पर करुणा की नव अँगडाई के साथ लघु-लघु लोल गति से छहरने का भाव। पतजी के वीचि विलास मे नव-यौवनोन्माद है, और इसमे है श्लथ करुणा का अलसअवेदन। इसकी अपनी एक निजी और निराली विशेषता है। 'लहर' की सब कविताओ मे आसन्न जीवन सध्या का करुण विषाद किसी रहस्यमयी गुरु गम्भीर छाया से आवृत है। 'लहर' युग के प्रसादजी को हम जीवन और मृत्यु के उस सगम स्थल पर पहुँचा हुआ पाते है, जहाँ कवि विपुल श्यामल पृथ्वी के छोर पर खडा होकर विशाल जलधि के नील अङ्क मे निस्सीम व्योम की प्रतिच्छाया दे रहा है, और रवीन्द्रनाथ की तरह कहता है :

ए गहे मुखर वन मर्मर गुञ्जित,
ए जे अजागर गरजे सागर फूलिछे।

यह सुन कर वन का मर्मर गुन्जन नही है, यहाँ तो विराट अजगर की फुफकार की तरह सागर का उच्छ्वसित गर्जन सुनाई देता है।

जीवन मरण के इस सङ्गम के सम्बन्ध मे कवि कहता है:

हे सागर सङ्गम अरुण नील !
अतलान्त महा गम्भीर जलधि—
तज कर अपनी यह नियत अवधि,
लहरो के भीषण हासो मे,
आकर खारे उच्छ्वासो में,
युग युग की मधुर कामना के—
बन्धन को देता जहाँ ढील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील !

इन पक्तियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि केवल जीवन लहरी के फेनिलोच्छ्वास से ही क्रीडा करना नही चाहता, वह उनके उद्गम की तह तक गोता लगाने के लिए उत्सुक है। इस सगम तट से कवि जब इस पार की ओर निहार कर विगत जीवन के स्मृति मथन मे आदोलित हो उठता है, तो एक विचित्र सृष्टि सौदर्य की झाकी उसके मन मे उदित हो जाती है और उसकी कल्पना कूक उठती है :

श्यामा-सृष्टि युवती थी

तारक-खचित नीलपट परिधान था
अखिल अनन्त मे
चमक रही थी लालसा की दीप्त मणियाँ—
ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी।

बहती थी धीरे-धीरे सरिता
उस मधु यामिनी मे
मदकल मलय पवन ले ले फूलो से
मधुर मरन्द-बिन्दु उसमे मिलाता था।
चाँदनी के अञ्चल मे।
हरा-भरा पुलिन अलस नीद ले रहा।

सृष्टि के रहस्य-सी परखने को मुझको
तारकाएँ झाँकती थी।
शत-शत दलो की
मुद्रित मधुर गन्ध भीनी-भीनी रोम मे
बहाती लावण्य-धारा।

कवि की इस कल्पना मे विगत उल्लसित जीवन की स्मृति-छाया तरलभास स्पष्ट झलक रही है। पर जब वह पीछे की ओर से मुँह मोड कर सामने उस पार के अनत प्रसार की ओर देखता है, तो एक अव्यक्त विषादमय हाहाकार से उसका हृदय लहर उठता है। पीछे की स्मृति और आगे की विस्मृति उसे जब अत्यन्त विकल करने लगती है तो वह एक मार्मिक दार्शनिकता से सतोष प्राप्त करना चाहता है

सागर लहरों सा आलिङ्गन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल वैभव है सीमा-विहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

❀ ❀ ❀

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन से गिनकर

यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यो फिर उठता है पुकार ?—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अंतिम पंक्तियो मे अतल नैरास्यपूर्ण करुण वेदना व्यजित हुई है। उसकी तुलना वसुधा के अञ्चल पर टकराने वाली उन सागर लहरियो के युगयुगात व्यापी कल क्रन्दन से की जा सकती है, जो पृथ्वी से कभी अपनी प्रीति का प्रतिदान नही मागती और अविरल रोदन को ही अपने उद्देश्य की सार्थकता मानती है।

मानवात्मा के निष्काम प्रेम की चिर-करुण मर्मध्वनि उक्त पदो मे फूट पडी है।

प्रसादजी के 'झरने' से 'आँसू' की बूँदे छहर कर जिस सागर सगमोन्मुखी 'लहर' मे मिलकर एकाकार हुई है, वे 'कामायनी' महासागर मे जाकर विलीन हो गई है। इस महासागर मे केवल प्रसादजी की ही अन्य रचनाएँ नही समा गई है, बल्कि छायावादी युग के प्राय सभी कवियो की काव्य-सरिता धाराएँ इसकी अतल-व्यापी गभीरता मे आकर विलीन हो गई है। 'कामायनी' को पढने के बाद प्रसादजी की सब रचनाएँ और दूसरे छायावादी कवियो की सब कृतियाँ अत्यन्त फीकी और हल्की जान पडने लगती है। मै व्यक्तिगत रूप से 'कामायनी' को छायावाद युग की चीज नही समझता हूँ क्योकि छायावादी कवियो ने जिनमे आचार्य स्वय प्रसादजी थे जिस सकीर्ण स्वार्थ-जनिक भाविक वेदना और घोर असामाजिक तथा आत्मगत का परिचय दिया। 'कामायनी' के कवि ने पूरी शक्ति से उसका विरोध किया है 'कामायनी' हिन्दी जगत का सबसे पहला और सबसे सुन्दर प्रगतिशील काव्य है।। इस काव्य मे कवि ने जीवन की गहराई मे पैठ कर वर्तमान युग की समस्त प्रति-क्रियात्मक मनोवृत्तियो का पर्दाफाश ऐसे सुन्दर काव्यपूर्ण और नाटकीय ढग से किया है कि कोई भी अनुभूतिशील व्यक्ति उसे पढ कर विस्मय विमुग्ध हुए बिना नही रह सकता। ऐसा बोध होने लगता है कि कवि जैसे जीवन और मृत्यु की सब शक्तियो से परिचित हो चुका है और उन शक्तियो पर पूर्ण नियत्रण प्राप्त करके उन्हे एक एक करके काव्य के अन्तर्जगत के विशाल प्रागण मे तीर की तरह फर्राटे के साथ फेक रहा है। उसके एक-एक तीर के सम्बन्ध मे हम उसी की भाषा मे कह सकते है

अस्तित्व चिरतन धनु से कब
यह छूट पडा है विषम तीर
किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर ?

'कामायनी' के सम्बन्ध मे मेरी यह धारणा है कि उसकी रचना मानवात्मा की उस चिरतन पुकार को लेकर हुई है जो आदि काल से चिर अमर आनन्द और

चिर-अजर शक्ति प्राप्त करने की आकाक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्मन्यतापूर्ण दुर्दम आकांक्षा की चरितार्थकता के प्रयत्न मे मानव को जिन सकट सकुल गिरिपथो, जिन जटिल जाल जडित गहन अरण्य तथा घोर प्रान्तरो तथा घोर अधकाराच्छन्न कराल रात्रियो का सामना करना पडता है उनके सघात की वेदना 'कामायनी' मे बिजली के शब्द से कडकती हुई बोल उठी है।

आत्मोत्कर्ष की प्रेरणा उन्नत स्वार्थ से प्रणोदित भले ही हो, पर है वह स्वार्थ ही। सामान्य रूप से सभी मनुष्यो मे और विरोध रूप से प्रतिभाशाली पुरुषो मे यह प्रवृत्ति जड पकडे रहती है, पर उस जड के पास ही एक दूसरी प्रवृत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण बीज पनपने की व्याकुलता व्यक्त करता रहता है, वह है विश्वात्मा के अनन्त प्रेम-सागर मे अपने को विलीन कर देने की प्रवृत्ति। इन दो प्रवृत्तियो के सघर्ष का धूम्रोद्गार अपने विश्व कुहर से आत्म-गगन को छा देने का प्रयत्न करता रहता है, और इस क्रियाचक्र मे नियति नटी के इन्द्रजाल की निर्मम क्रीडा चला करती है। जब जल प्रलय के बाद सृष्टि मे क्रान्ति की उथल पुथल मच जाने पर मनु अपनी अतरग प्रतिभा की सहज स्फूर्ति मे मानवी सृष्टि के लिये प्रेरित हुये और इस उद्देश्य से श्रद्धारूपिणी कामायनी के साथ सबन्ध स्थापित करने मे समर्थ हुए थे तो वह भी आत्मोत्कर्प और आत्मत्याग इन दो प्रवृत्तियो के सघर्प के शिकार बने और इस द्वन्द्व के फलस्वरूप की रुद्ध लीला चलने लगी, और वह आर्तभाव से पुकार उठे।

इस विश्व कुहर मे इन्द्रजाल
जिसने रच कर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत नखत माल
सागर को भीषणतम तरग-सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु-लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत
तब मूर्ख आज तक क्यो समझे है सृष्टि उसे जो नाशमयी
उसका अधिपति! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गई
सुख-नीडो को घेरे रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट दिया डाल।

❀ ❀ ❀

जीवन निशीथ के अन्धकार!
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम-सा दुर्निवार
जिसमे अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी-सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिंदी बह रही चूम कर सब दिगत
मन-शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड लगाती है अनन्त

कुहुकिनि अपलक दृग के अञ्जन ! हँसती तुझमें सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रो की नव-कलना
इस चिर-प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों को पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार

जीवन निशीथ के इसी अधकार के बारे मे फ्रेंच कवि विक्तर ह्यूगो ने अपनी 'ला देस्तिने' शीर्षक कविता मे लिखा है, मैं जिसे कि लोग कवि कहते है, नीरव निशीथ के गहन तमसाच्छन्न और अनन्त रहस्यपूर्ण सोपान का तरह हूँ। मेरे उस तमोजाल पूर्ण सोपान मार्ग के चक्रवाल मे छाया नटी अपने नेत्र गह्वरो को विदारित किये रहती है।

'कामायनी' की सारी कविता मे इसी माया कुहेलिका के अधकारमय पर्दे को भेद कर मुक्त प्रकाशमय जीवन लोक मे प्रवेश करने की आकाक्षा प्रतिध्वनित हुई है। संकीर्ण अहम् के जटिल जाल की उलझन से मुक्ति पाकर विश्व के उदर मे उतरने और सामूहिक मानव के उत्कर्ष रूपी महायज्ञ मे सबके साथ समान रूप से हाथ बटाने का आदर्श प्रसादजी ने इस काव्य मे निर्देशित किया है।

मनु की प्रतिभा आत्म विलास की स्वार्थगत भावना से प्रसूत होती है। श्रद्धा के सयोग से मनु की आत्मा मे उसके हृदय की सवेदनात्मक छाया पडती है। पर चूकि इस छाया से मनु के आत्मोत्कर्ष की सुख साधना मे बाधा पहुँचती है, इसलिये श्रद्धा को मनु त्याग देते है। इसके बाद इडा के सहयोग से उनके अतर बुद्धि का तर्कजाल प्रसारिन होने लगता है। आत्मोत्कर्ष की प्रवृत्ति, सवेदनमयी भावना और बुद्धि की तार्किकता ये तीनों मनुष्य की महाशक्तियाँ है। पर जब ये शक्तियाँ एक दरारे से विच्छिन्न होकर परस्पर विरोधी रूप से अपने-अपने एकातिक विकास मे रत होती है तो वे विश्व नियम मे घोर वैषम्य, द्वद और अशाति उत्पन्न करती हैं। और जब ये तीनो एक रूप मे मिलित होकर पारस्परिक सहयोग द्वारा विश्व की मूल शक्ति के साथ एक प्राण हो जाती है तो विश्व के चरम कल्याण मे सहायक सिद्ध होती है।

मनु अपने मन को अधशक्तियों के अनेक घात प्रतिघातो के बाद अत में इस महासत्य को समझ गये थे। बुद्धि की तार्किक छुरी द्वारा क्षत विक्षत अपने जीवन मे उन्होने श्रद्धा को फिर से वरण कर लिया और वरण करते ही उन्हे अनुभव हुआ कि—

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल,
तम जलनिधि का बन मधु मथन
ज्योत्स्ना सरिता का आलिगन,

वह रजत उज्वल जीवन,
आलोप पुरुष ? मगल चेतन ?
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरणो की थी लहर लीन।

'कामायनी' और 'इडा' श्रद्धा और बुद्धि का मगलमय सहयोग प्राप्त करके मनु समरसता के उदार प्रेममय सागर मे डुबकियाँ लगाने लगे।

हमे खेद है कि 'कामायनी' के सागर की एक साधारण सी लहरी से भी हम पाठको को परिचित न करा सके। वास्तव मे इस महासागर का पूर्ण इस लेख मे देना असम्भव है। इस अमूल्य रचना मे प्रसादजी ने मानवात्मा की विभिन्न प्रवृत्तियो के घात-प्रतिघातो का परिचय जिस नाटकीय निपुणता से दिया है वह गेटे की विश्व विख्यात रचना 'फाउस्ट' से टक्कर लेती है। विरोधी प्रवृत्तियो के सामजस्य का जो महान् आदर्श 'कामायनी' के कवि ने परिस्फुट किया है उससे वह 'फाउस्ट' के तार्कवादी कवि से भी आगे बढ गया है।

जयशंकर प्रसाद

श्री चन्द्रवली सिंह

(अनुवादक श्री गगा रत्न पाण्डेय)

जयशकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी सहित्य के निर्माताओ मे से एक है। प्रेमचन्द, सुमित्रानन्दन पत और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की भाति प्रसाद ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रारम्भ किये गये साहित्यिक पुनरुत्थान को बहुत आगे बढाया। पुनरुत्थान काल की विशिष्ट प्रतिभाओ की भाति उनकी रचनाएँ भी एक असाधारण बौद्धिक और भावात्मक ज्योति से अनुप्राणित है। ऐसे युग के समर्थ लेखको की भाति 'प्रसाद' भी विचार और अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे अनुसन्धान रत एक बहुमुखी प्रयोगकर्ता थे। काव्य, नाटक और कथा-साहित्य के क्षेत्र मे उनकी सफलताएँ असाधारण थी। वह एक असामान्य आलोचक और विद्वान थे।

पुनरुत्थान काल का एक दूसरा सामान्य लक्षण भी उनमे था परम्परा के प्रति जागरुकता। इस दृष्टि से उनके बहुत कम सम सामयिक लोग उनकी तुलना मे ठहर पाते है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्यतम ग्रन्थो, दर्शन शास्त्र और पुराणो के वह गम्भीर अध्येता थे और इस अध्ययन द्वारा प्राप्त समुचित ज्ञान ने उनकी रचनाओ और उनके दृष्टि कोण पर गहरा प्रभाव डाला था। औपचारिक शिक्षा की न्यूनता उनके लिये स्यात् एक वरदान ही सिद्ध हुई, क्योकि वह शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण के विपरीत अतीत के विश्लेषण मे साहस और स्वतन्त्र बुद्धि से काम ले सके। उनकी रचनाओं मे भारत की सास्कृतिक अविछिन्नता के दर्शन होते है और जिसे पुनरुज्जीवनवाद समझने की प्राय भूल की जाती है वह वास्तव मे वर्तमान के साथ अतीत की सम्बन्ध-प्रतिष्ठा है। परम्परा के प्रति उनकी निष्ठा ने उन्हे किसी सुदूर सौन्दर्य-लोक का अन्ध-अनुरागी नही बना दिया। यह तो एक ऐसी प्रतिभा द्वारा नव-निर्माण था जो अपने सामायिक जीवन की गुत्थियो से गुथ जाने और उस जीवन को समृद्ध एव सास्कृतिक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण बनाने को आकुल थी। परम्परा और वर्तमान प्रेरणाओ के बीच सामजस्य की यह भावना ही थी जिसने उनकी दृष्टि को यह गहराई और गरिमा दी तथा अतीत के प्रति उनके प्रेम को खोखले निष्फल दम्भ मे पतित होने से बचा लिया।

उच्चकोटि के साहित्य के अध्ययन ने उनकी अभिव्यक्ति को भी प्रभावित किया। छायावाद जिसके वह अग्रदूत और विधाता थे, अभिव्यक्ति की समृद्धि, व्यापकता और व्यक्तिवैचित्र्य पर बहुत जोर देता है। एक सोधी सी सनक भी वहा

स्वीकार है। जयशकर प्रसाद मे इस अतिम गुण को छोड कर शेष सभी गुण प्रचुर मात्रा मे थे। लेकिन परम्परा के प्रति उनकी जागरुकता ने उन्हे अभिव्यक्ति मे शालीनता और प्रसाद-गुण को भी अपना लक्ष्य बनाने की शिक्षा दी थी। इस प्रकार उनकी कला छायावादी व्यक्ति-वैचित्र्य और उच्चतम शालीनता का अद्भुत सम्मिश्रण है। इसीलिये इसमे कोई आश्चर्य नही है कि जयशकर प्रसाद समस्त सम-सामायिक कवियो मे सम्भवत सर्वाधिक स्मरणीय है। उनका गद्य भी इसका अपवाद नही है। छायावादी पद्धति मे वह अत्यधिक अलकृत है और साथ ही शुद्ध शास्त्रीय पद्धति मे उसमे हीरे की सी छटान और सूक्ति प्रवीणता भी है। जयशकर प्रसाद अभिव्यक्ति के नवीन रूपो के महान् स्रष्टा थे, पर साथ ही उन्होने परम्परा से प्राप्त श्रेष्ठतम रूपो से भी उसे समृद्ध किया।

छायावादी काव्य की देन

हिन्दी मे छायावाद का आन्दोलन मूलतः एक सामयिक प्रेरणा की अभिव्यक्ति थी—यह प्रेरणा थी व्यक्तिवाद के माध्यम से मनुष्य के इस अधिकार की प्रतिष्ठा कि वह सामन्तवादी परम्पराओ द्वारा स्वीकृत बन्धनो से मुक्त हो अधिक स्वच्छन्द रूप से आत्माभिव्यक्ति कर सके और बाह्य जगत् के साथ अपने नवीन और बुद्धि-सगत सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस नवीन दृष्टिकोण के लिये समर्थन और सजीवन प्राप्त करने के लिये जयशकर प्रसाद ने अतीत की छान-बीन की। स्रष्टा और सृष्टि, चेतना और पदार्थ, मनुष्य और प्रकृति के बीच शैव अद्वैतवादियो द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धात ने उनकी बौद्धिक चेतना क निर्माण मे बडा प्रभाव डाला था। उन्होने अनुभव किया था कि मनुष्य और प्रकृति के बीच सामजस्य की प्रतिष्ठा मानव सुख के लिये अनिवार्य है और यह सामजस्य दृश्य-दर्शन, स्थितप्रज्ञता और प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति द्वारा ही स्थापित हो सकता है। इस प्रकार उनका रहस्यवाद उस रहस्यवाद से नितान्त भिन्न है जो वस्तु जगत को केवल 'छाया' या 'माया' कह कर टाल देता है। इस रहस्यवाद के अनुसार, "ससार को मिथ्या मान कर असम्भव कल्पना के पीछे भटकना नही पडता था। दु खवाद से उत्पन्न सन्यास और ससार से विराग की आवश्यकता न थी।"

उनके लिये यह स्वाभाविक ही था कि वह अमूर्त सौन्दर्य और मूत सोन्दर्य के युग्म-भेद को अस्वीकार कर देते। उन्होने कहा—"सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य बोध बिना रूप के हो ही नही सकता।" उनके लिये पदार्थ जगत एक मनोहर वास्तविकता है, जैसा कि उन्होने कहा है—"पुरुष का शरीर प्रकृति है।" इसलिये संसार मे जीवन का आनन्द लेने से अस्वीकार करना अबौद्धिक है और जीवन के लक्ष्य—'आनन्द'—के विपरीत है। निश्चय ही आनन्द का अर्थ इन्द्रिय-वासनाओ की तृप्ति नही है, यह तो आनन्दाविभूत होने की स्थिति है। इस स्थिति मे हर्ष और

शोक, सत् और असत् का भेद लुप्त हो जाता है। ज्ञान और आत्मा की स्थिर शान्ति पर आधारित यह अनवगाह्य जीवन है और इस प्रकार सुख की खोज अनैतिक नही है वरन् यह तो जातीय-जीवन मे जीवन-शक्ति का लक्षण है। हिन्दी छाया-वादियो की रहस्यवादी परिवृति का विश्लेषण प्रसाद जी ने इस प्रकार किया था। वह अनुभव करते थे कि यदि लोगो को ओजस्वी और कर्तृत्वमय बनना है तो आवश्यक है कि वह सुख की खोज मे सलग्न हो। जीवन के प्रति उन्हे एक अनन्त पिपासा जागृत करनी होगी। इस प्रकार जयशकर प्रसाद का रहस्यवाद जीवन का नकार न था बल्कि वह जीवन के प्रति एक भाव-सबल दृष्टिकोण था, जीवन की स्वीकृति थी। उनके समय के लिये यह एक महत्वपूर्ण बात थी क्योकि इसका उद्देश्य था जीवन और कला के क्षेत्र मे सामन्तवादी परम्पराओ के घने आवरण को तोडना। काव्य और साहित्य के सम्बन्ध मे वह कहते है—"काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियो का नित्य नया-नया रहस्य खोलने मे प्रयत्नशील है...... ।"

छायावादी काव्य के लिये यह भूमिका निर्दिष्ट की गई थी। जयशकर प्रसाद ने लिखा है—"कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी मे उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से, जिसमे बाह्य वर्णन की प्रधानता थी, इस ढग की कविताओ मे भिन्न प्रकार के भावो की नये ढग से अभिव्यक्ति हुई।" रीतिकालीन रूढियो के विरुद्ध सघर्ष के उस युग मे वेदना का यह तत्व अनिवार्य था। पर प्रसाद जी उसे जीवन से पलायन का एक बहाना बनाने को तैयार न थे। उनकी सम्मति मे—"सिद्धान्त मे ऐसा रूप छायावाद का ठीक नही कि जो कुछ अस्पष्ट छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ मूल मे यह रहस्यवाद भी नही है।" यह सिद्धात कि छायावाद को छायावाद इसलिए कहा जाता है कि—"प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबम्ब है, इसीलिये प्रकृति को काव्यगत व्यवहार मे ले आकर छाया-वाद की सृष्टि होती है......" भी उन्होने अस्वीकार कर दिया था।

मूलाधार परम्परा

जो लोग छायावाद को एक विदेशी छाप लगाकर दण्डित करना चाहते थे प्रसाद जी ने उनकी भी ऐसी ही खबर ली है। उन्होने सिद्ध किया कि छायावादी आन्दोलन की जडे उस परम्परा मे गहरे पैठी हुई है जो हमे उस युग से प्राप्त हुई है जब जाति मे जीवन के प्रति गहरी निष्ठा और रुचि थी। हिन्दी के छायावादी लेखक असदिग्ध रूप से भारतीय पुनर्जागरण को उसकी पूर्णता तक ले जाने का महान् ऐतिहासिक कार्य कर रहे है। यह सच है कि उनके ऊपर रवीन्द्र नाथ टैगोर और अग्रेजी रोमाटिक कवियो का प्रभाव पडा था, पर यह तथ्य इस बात का प्रमाण नही है

कि उनमे प्रेरणा के उद्गम अथवा अभिव्यक्ति की मौलिकता का आभाव था । यह तो केवल इस बात का प्रमाण था कि इन सबमे आत्मिक साम्य था ।

अत प्रधानत छायावादी आन्दोलन एक नये ढग की अभिव्यक्ति का आदोलन नही था, वह प्रधानता एक नव-चेतना, एक नव-जागरण की प्रतिच्छाया थी। जय शकर प्रसाद ने भाव को अभिव्यक्ति और तत्व को रूप के ऊपर प्रतिष्ठित करके इसी तथ्य पर जोर दिया है । अनुभूति और अभिव्यक्ति के कुशल रूपो, प्रयोगो के बीच प्राथमिकता की समस्या का विवेचन करते हुए वह इस असदिग्ध निष्कर्ष पर पहुचे कि प्राथमिकता अनुभूति की है और अभिव्यवित के रूप और प्रयोग तो दूसरी कोटि मे आते है ।

शुद्ध दृष्टिकोण

उनकी इस घोषणा को स्मरण रखना आवश्यक है क्योकि इससे इस भ्रामक दृष्टिकोण का सुधार हो जाता है कि प्राय छायावादी कवि और विशेष रूप से प्रसाद कला के लिये कला के प्रेमी थे । जय शकर प्रसाद की कविता मे तीव्र प्रतिवाद के अभाव का भ्रामक अर्थ प्राय यह लगाया गया है कि वह अपने समय की प्रचेष्टाओ के प्रति उदासीन थे । यह सत्य है कि अन्य छायावादी कवियो की अपेक्षा वह अधिक अभिजात दृष्टिकोण वाले थे । पर वास्तव मे उनका ससार एक पलायन-वादी का व्यक्तिगत ससार नही था और अनुभूति से उनका अर्थ था वास्तविक जगत की अनुभूति । बेशक यह भी स्वीकार करना होगा कि छायावादी शिल्प इस भ्रम के लिये अशतः उत्तरदायी रहा है । इसकी परिभाषा करते हुये उन्होने कहा है "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है । ध्वन्यात्मक, लाक्षणिकता, सौदर्यमय प्रकृतिविधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ है । अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्ति मयी होती है ।" अतः हमारे सास्कृतिक पुनर्जागरण मे प्रसाद के योग का सही मूल्याकन करने के लिये यह आवश्यक है कि उनके काव्य के शिल्प की गहरी छान बीन की जाय । तभी इनकी इस नव्य सवेदनशीलता का पूरा-पूरा महत्त्व समझ मे आता है ।

विषयानुरुक्ति और मानवतावाद

उदाहरण के लिये उनकी विषयानुरक्ति और मानवतावाद के बीच के सम्बन्ध को या तो भुला ही दिया जाता है या उसे उचित महत्त्व ही नही दिया गया है । रीति-कालीन परम्पराएँ नितान्त निषेधमूलक थी । जीवन प्रेम मे सीमित था और प्रेम कामुकता मे, और प्रकृति को कामुक श्रृगार के अलकार मे परिणित कर दिया गया था । स्यात् कभी ही इस निश्चित विधान से कोई परे चला जाता है । भारन्तेदुयुगीन

कवियो की प्रारम्भिक झपेटो के बाद छायावादी कवियों ने ही पहली बार इन परम्पराओ पर गम्भीर और सीधे प्रहार किये और मानव-चेतना को उन शृखलाओ से मुक्त किया। विषयानुराग उनका प्रधान अस्त्र था और अपने समकालीनो की अपेक्षा जयशकर प्रसाद ने उसका प्रयोग अधिक किया। कामायनी मे मनु के सम्बन्ध मे उनकी उक्ति स्वय उन पर भी सटीक बैठती है

''पीता हूँ, हाँ मै पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप रस, गध भरा;
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि मे है क्या गुजर भरा।"

इन्द्रिय-माध्यम से जीवन को आत्मगत करने की इच्छा ने उनकी कविता को चित्रात्मक, मधुर, सगीतमय और स्पर्श चेतन बना दिया है। उनकी शृगारिकता भी उनके शैव-दर्शन का एक अग थी और स्पद-शास्त्र का सदर्भ देते हुये उन्होंने यह सिद्ध किया है कि इन्द्रिय-माध्यम से जीवन की अनुभूति मे न कोई अमगल है और न वेदना। एक प्रसिद्ध समालोचक ने सुमित्रा नन्दन पत को सौदर्य का कवि कहा है; यह उपाधि जयशकर प्रसाद पर कही अधिक सटीक बैठती है। पत और अन्य छायावादी कवियो के लिये शृगारिकता दृश्यो को देखने का एक ढग मात्र है, उनकी शिल्प-विधि का एक अग। इसके विपरीत प्रसाद के लिये शृगारिकता दृश्यगत ही है। इसके अभाव मे जीवन की पूर्णता असभव है। भौतिक धरातल पर वह मुक्ति और आनन्द की धारणा से अभिन्न है।

निश्चय ही जयशकर प्रसाद के जीवन-दर्शन मे शृगारिकता, चिन्तन और क्रिया का सयोग पाकर ही सार्थक या महत्त्वपूर्ण हो पाती है। इन तीनो मे संहिति ही जीवन को वास्तव मे पूर्ण बना सकती है और यह सहिति अतत उन्होने अपने महाकाव्य कामायनी मे प्रतिष्ठित की है। इसके पूर्व उनकी रचनाओ मे उस सघर्ष के दर्शन होते है जो अपने इस जीवन-दर्शन तक पहुँचने के पहले उन्होने झेले थे।

भावात्मक सुसम्बद्धता

अन्य छायावादी कवियो की भाँति जयशकर प्रसाद भी अपने 'चित्राधार' मे एक अपरिपक्व जिज्ञासा लेकर चले है। प्रकृति के दृश्यो ने उनकी कल्पना को गुदगुदाया और उनमे रहस्यवादी की एक यह सामान्य भावना रही कि इन प्राकृतिक दृश्यो के बीच उन्हे एक मे पिरोने वाला कोई सूत्र विद्यमान है। फिर भी उनके अपने भावो के सीमित ससार और विशाल वाह्य ससार के बीच जो महान् अन्तर था उससे उत्पन्न एक व्याकुलता या अशाति की भावना भी उनमे थी। उनका छायावादी प्रेम भी पूर्ण सन्तोष देने मे असमर्थ था। अपने 'प्रेम-पथिक' मे उन्होंने अपनी कल्पना के एकान्त निर्जन मे डूबे हुए और सुन्दर बाह्य-विश्व से विच्छिन्न प्रेमी की

निष्फलता का अनुभव किया। उनका 'झरना' इस एकान्त को भग करने का एक प्रयत्न था, पर सफलता उनसे आँख-मिचौनी खेलती रही। बहुतारवलित वीणा और स्वर समृद्ध वशी के विपरीत अपने हृदय की तुलना करके उन्होने अपने जीवन की अपूर्णता की बात कही थी। उनका विचार था कि उनका जीवन एक एकतारा की भाँति था जिसमे असम्वादी और क्रान्तिकारी स्वर निकलते हो। इन सभी काव्य सग्रहो मे उनके सामने प्रमुख समस्या रही है स्वर रग समृद्ध ससार के साथ अपने भावात्मक समन्वय की। हाँ उनके 'आसू' मे इस स्थिति मे आगे एक लम्बी छलाँग भरी गयी है। पर्याप्त लम्बे इस गहन गीतिकाव्य मे वह अपने व्यक्तिगत प्रेम और उस प्रेम की सीमा मे न बध सकने वाले विश्व के बीच एक समन्वय स्थापित कर सके है। स्वभावत उनके गीतो के अगले सग्रह 'लहर' मे यह पहले की उदासी दूर हो गयी है। 'लहर' मे अपने सीमित व्यक्तिवादी ससार से उनकी भक्ति प्रतिष्ठित हो गई है। कठिनाई से प्राप्त इस मुक्ति और उससे उत्पन्न आनन्द की अभिव्यक्ति 'लहर' की इन पक्तियो मे हुई है —

'वसुधा के अचल पर,
यह क्या कन-कन सा गया बिखर ?
जल शिशु को चञ्चल क्रीडा सा,
जैसा सरसिज दल पर।

लालसा निराशा मे ढलमल
वेदना और सुख मे विह्वल
यह क्या है रे! मानव जीवन ?
कितना है रहा निखर।"

इसी स्थिति मे आगे बढकर उन्होने कामायनी मे अपने भव्य जीवन की सृष्टि की है।

कामायनी की महत्त्व पूर्ण कथा

कामायनी के लिये उन्होने जो कथा चुनी वह मनु की थी जो हमारे धर्म ग्रन्थो के अनुसार मानव-जाति के नव-युग के आदि पुरुष है। सक्षेप मे यह कथा हमे बताती है प्रलय मे देव-सृष्टि का विनाश हुआ, मनु आश्चर्यजनक ढग से उससे बचे, उनकी निराशा और विवशता, अचानक श्रद्धा से उनकी भेट और उसके साथ एक नए घर का निर्माण, श्रद्धा के प्रसवकाल के पूर्व मनु की पूर्व व्यक्तिवादी भावना का फिर से जगना और श्रद्धा से दूर उनका भाग जाना, सारस्वत प्रदेश मे उनका पहुँचना और इडा का साथ जो वहाँ की रानी थी, एक शक्तिशाली व्यवसायिक सभ्यता का वहाँ निर्माण और फिर मनु की व्यक्तिवादी असीम शक्ति की लालसा से उत्पन्न जन विद्रोह। श्रद्धा और उनके पुत्र का ठीक मौके पर उनके त्राता के रूप मे वहाँ पहुँचना। इडा और मानव का सम्मिलन, ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वय पर आधारित

एक नवीन दर्शन का श्रद्धा द्वारा निरूपण और फिर प्राचीन और नई सभ्यताओ के इन प्रतिनिधियो का अपने-अपने भिन्न मार्ग पर प्रस्थान ।

कथा का यह एक अत्यत भव्य ढाँचा था । फिर भी केवल इसकी भव्यता के लिये ही जयशकर प्रसाद ने इसे नही चुना था । अतीत को फिर से जीवित करने के लिए भी "प्रसाद जी" की कल्पना ने इस कथा मे कला का सौदर्य नही बिखेरा । उन्होने इसे पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया था कि अतीत का यह पुनर्गठन, वह वर्तमान के हित के लिए कर रहे है, क्योकि उनका कहना था कि इस कोटि की कथाओ मे विभिन्न युगो के मानवो की ओर उनके महान प्रयत्नो को झाँकी देने की सामर्थ्यता रहती है । मनु और श्रद्धा का सम्मिलन मनुष्य के लिये एक नये युग की सूचना देता है ।

स्वाभवत यह कथा नवोत्थित भारत के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथा थी । इसमे सदेह नही कि भारत का अतीत गौरवशाली था जो अब लौटने वाला नही था पर एक और भी अधिक गौरवशाली भविष्य सन्मुख आ रहा था । समस्या थी कि उस भविष्य का निर्माण कैसे हो । कुछ वे लोग थे जो आध्यात्मिक भारत का सपना देखते थे और नव भारत के विरुद्ध कृत-सकल्प थे । दूसरी ओर आधार हीन विश्वात्मावादी थे जिन्हे पश्चिम की सभी चीजे, उसकी व्यवसायिक सभ्यता और उसका पतनोन्मुख व्यक्तिवाद-अत्यधिक पसन्द था । कामायनी मे जयशकर प्रसाद ने जो अभियान किया वह इन दोनो अतिवादी और परस्पर विपरीत दृष्टिकोणो के बीच मे समझौता करने का अभियान नही था । उनका अभियान था एक सुसम्बद्ध दृष्टिकोण खोजने का एक ऐसा दृष्टिकोण जो धृष्ट दार्शनिकता से मुक्त हो और साथ ही मानव की पार्थिव और आध्यात्मिक आवश्यकताओ की दृष्टि से भी सतोषप्रद हो ।

पुरातन के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण कभी भी सदिग्ध नही रहा । मुट्ठी भर अमरो की सभ्यता वासना विपुल थी पर यह समृद्धि केवल श्रगारिक ही थी । आपतकाल के आते ही उसकी दुर्बलता स्पष्ट हो गयी । मनु के अतिरिक्त शेष सभी नष्ट हो गये और मनु भी केवल एक नौका का सहारा लेकर बच सके । प्रकृति अपराजेय रही । वह मनु का और उनके विगत साथियो का उपहास सा कर रही थी । मनु के लिये तो सब विनष्ट हुआ सा दिखाई पडता था और तब श्रद्धा आई और जीवन की उस पुरातन पद्धति को फिर से जीवित करने के उनके क्षीण प्रयासो से उसने उन्हे विमुख किया । उसने मनु को सदेश दिया—

> **"प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल**
> **मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल ।"**

व्यवसाय समृद्ध सारस्वत प्रदेश आज के विज्ञान और बुद्धिवाद का कल्पित स्वर्णलोक जैसा है । पर अनियत्रित व्यक्तिवाद का पाप-कीट यहाँ भी फैलता है ।

अव्यवस्था और अराजकता फैलती है। मनु बहिष्कृत और प्रताडित होते है। श्रद्धा उन्हे समझाती है कि वह इस नव्य विश्व के लिये भी अनुपयुक्त है, क्योकि उन्होने अपने व्यक्तिवाद से अपने को मुक्त नही किया। सारस्वत प्रदेश का शासन करने के उपयुक्त है इडा बुद्धिवाद और एक नवीन मानवता का प्रतिनिधि मानव जो व्यक्ति और समाज की मुक्ति के एक नवीन दृष्टिकोण मे सम्पन्न है। यह लोग सारस्वत प्रदेश को लोटते है जो विगत (देव) सृष्टि से भिन्न एक नवीन विभूति मूलक प्रगति के लिये सभ्यता मे एक नया अध्याय जोडने के लिए तैयार हे। विज्ञान अथवा बुद्धिवाद मनुष्य का विश्वस्त सहचर है, प्रगति और सफलता का एक साधन। सारस्वत प्रदेश उस तथाकथित आध्यात्मिक अतीत की स्मृतियो को फिर से जीवित नही करता। यह तो कवि के मन पर भविष्य की एक झाँकी है। ऐतिहासिक सीमाओ से बद्ध हमारे समाज की प्रगति की यह एक अवधारणा है।

आध्यात्मिक स्तर पर कामायनी प्रसाद के स्वय अपने छायावादी अतीत का नवीन मूल्याँकन है। यह सत्य है कि छायावादी मानवतावाद जीवन और प्रकृति की अतीत धारणाओ से मुक्ति दिलाने वाले एक साधन के रूप मे मनुष्यता के लिए अत्यत लाभदायक सिद्ध हुआ पर जव उसमे भी अति होने लगी और उसे घोर व्यक्तिवाद का रूप दिया जाने लगा तो उसका अगति अथवा पतन की ओर ले जाना अस्वाभाविक था, जेसा कि मनु के साथ हुआ था। उनके प्रारम्भिक काव्य ने उन्हे उन बन्धनो से अवगत कराया जो व्यक्तिवाद ने जीवन को उसकी पूर्णता मे अनुभव करने के उनके प्रयत्न पर लगा दिये थे। सीमित छायावादी सम्बोधता से मुक्ति पाने के अनवरत सघर्ष के पश्चात् अब वह सम्पूर्ण जीवन का स्वाद ले सके थे –

"चेतना का सुन्दर इतिहास,
अखिल मानव भावो का सत्य;
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य,
अक्षरो से अकित हो नित्य।"

छायावाद का अर्थ था इच्छा और ज्ञान का जीवन। ऐसा जीवन क्रिया के अभाव मे प्रेत जीवन तुल्य था। मनु के व्यक्तिवाद का पर्दाफाश करते हुए उन्होने वास्तव मे अपने ही व्यक्तित्व के एक अश का विरोध करने का महान प्रयत्न किया।

एक सन्देश

इस प्रकार कामायनी अपने जीवन के समस्त ज्ञान और अनुभव का निचोड है। यह उनकी समर्थ प्रतिभा और प्रखर बुद्धि का स्मारक है जिसने व्यक्ति और समाज की उन्नति और समृद्धि का सच्चा समन्वय सम्पन्न किया। ऐसे समन्वय मे ज्ञान और क्रिया का एका निहित है। इस प्रकार कामायनी का सदेश क्रिया शून्य चिन्तन अथवा अमूर्त आनद की खोज नही है। यह सदेश है समस्त पार्थिव और

आध्यात्मिक विरोधो का निराकरण जिसके बिना निश्चय ही आनन्द एक असिद्ध उद्देश रह जायगा। यह सदेश उस जाति के लिये है जो इतिहास के चौराहे पर खडी है और समूची मानवता के लिये भी है कि वह गौरव की एक नव्य-चेतना जागृत करे।

एक कला-कृति के रूप मे कामायनी जयशकर प्रसाद की अनुपम सफलता है। अपनी सजीव गीत्यात्मकता, अपनी व्यापक शालीनता और प्रसादगुण, अपनी चित्रोपम कल्पना और अपनी ध्वनिधन्यता तथा रूपक और तथ्य कथा के बीच अपने सुन्दर सामजस्य के आधार पर कामायनी को आधुनिक हिन्दी का सर्व-श्रेष्ठ महाकाव्य बिल्कुल ही ठीक कहा गया है। हिन्दी की छायावादी धारा का यह प्रतीक है और स्वभावत इसे पढकर पूर्ण तुष्टि की भावना होती है। कामायनी मे भारतीय पुनर्जागरण को अपनी प्रौढ अभिव्यक्ति मिली और कवि ने केवल नव काव्य रूपो के सृष्टा के रूप मे वरन् युग की नव्य सवेदना को मूर्ति रूप देने वाले शिल्पी के रूप मे भी अपने को प्रतिष्ठित किया।

जयशङ्कर प्रसाद का काव्य दर्शन

भगीरथ मिश्र

प्रमाद की काव्य सम्बधी धारणा मौलिक और आदर्शवादी है। इस सम्बन्ध मे उनका आदर्श बहुत कुछ गोस्वामी तुलसीदास की धारणा से साम्य रखता है। दोनो ही ने अपनी धारणा का स्पष्ट उल्लेख किया है। तुलसी ने 'सत्य कहौ लिखि कागद कोरे' तथा 'यहि मह रघुपति नाम उदारा' कह कर काव्य मे सत्य की अभिव्यक्ति और भक्ति-भाव को महत्त्व प्रदान किया है। जयशकर प्रसाद काव्य को श्रेय सत्य की मूल चारुत्व से युक्त अभिव्यक्ति मानते है माथ ही साथ वे काव्य की मुख्य धारा को रहस्यवादी ही स्वीकार करते है। अतएव स्पष्ट है कि दोनो ही महाकवि काव्य मे सत्याभिव्यक्ति एव अध्यात्म-साधना को महत्व देते है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्यादर्श को अपनी रचनाओ मे उतार लिया है और प्रसादजी ने भी ऐसा करने का प्रयत्न किया है। एक यदि अधिक सफल हो पाया है तो इसका कारण यह है कि उसने आध्यात्मिक साधना को जीवन के विकास का आधार स्वीकार किया है, जबकि दूसरा जीवन के सघर्ष से घबडाकर अध्यात्म मे पलायन करता और उसकी शरण लेता है। एक जहाँ आदर्श और सघर्प के बीच हँसते हुए बढते रहने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम की सृष्टि करने मे सफल हुआ है, वहाँ दूमरा दुर्बल और अह, ईर्ष्या एव वासना के थपेडो मे डूबते उतराते आदि मानव का स्वरूप अकित करता है। इतना होने पर भी हम प्रसाद को अपने काव्य मे यथार्थवादी नही कह मकते है। वे है आदर्शवादी और इस प्रकार अपने आदर्श को पूर्णतया अपनी सृष्टि मे उतार न सकने के कारण उनके काव्यादर्श को हम बुद्धिवादी ही कहेगे। उन्होने उमे अशत अपनी रचनाओ मे सिद्ध किया है जिस पर हम आगे विचार करेगे।

प्रसादजी काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति मानते है और यह कहते है कि उसका सम्बध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है[1]। आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति पर आपत्ति की जा सकती है। आत्मा की अनुभूति तो सदैव आनदमयी ही है। इसी से पण्डितराज जैसे आचार्यों ने काव्यानुभूति को आत्मचेतन्य की भग्नावरण अवस्था के रूप मे ग्रहण किया है। सकल्प-विकल्प तो मन की विशेषता है आत्मा की नही, फिर उसकी सकल्पात्मक अनुभूति कैसे? यह एक विचारणीय बात है। प्रसादजी सकल्पात्मक अनुभूति को एक विशिष्ट अर्थ मे स्वीकार करते है। उनका विचार है कि यह वह

---

[1] काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ १७

अनुभूति है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे ग्रहण करती है। यह वास्तव मे सत्य का निराकार स्वरूप नही है जो केवल बुद्धि-ग्राह्य है। यह विज्ञान और दर्शन द्वारा गृहीत सत्य का सार या निचोड, नही, वरन् सत्य का साकार और सजीव, मूर्त एव गतिमय रूप है जो काव्य द्वारा प्रकट होता है और इसे ग्रहण करने वाली शक्ति को प्रसादजी आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति कहते है।

प्रसाद की यह सकल्पात्मक अनुभूति या श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा क्रोचे के सहज ज्ञान (Intuitive Knowledge) के समान है जिसे वह बौद्धिक ज्ञान से भिन्न मानता है। क्रोचे भी इस सहज ज्ञान को जिसे कुछ लोगो ने स्वय प्रकाश-ज्ञान कहा है, व्यक्तिनिष्ठ, रूपात्मक और सहज रूप से मन मे आया ज्ञान मानता है। प्रसादजी का रचनात्मक ज्ञानधारा से भी कुछ कुछ इसी प्रकार का तात्पर्य है। ज्ञान सत्य का ही रूप होता है अतः रचनात्मक ज्ञान धारा सत्य का सजीव, रूपात्मक, चित्रात्मक तथा कल्पना और अनुभूति द्वारा सहज-ग्राह्य रूप हुआ। परन्तु दोनो मे अन्तर भी है। क्रोचे जहाँ इस ज्ञान को सहज सर्वजन प्राप्य रूप मे स्वीकार करता है वहाँ प्रसादजी इसे आत्मा की एक असाधारण[1] अवस्था के रूप मे ग्रहण करते है। प्रसाद का यह दृष्टिकोण भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुकूल है जिसमे काव्य-सृजन की स्थिति साधनालभ्य सत्योद्रेक की विशिष्ट स्थिति है। इस प्रकार इसे चित्त की असाधारण अवस्था मानने मे प्रसादजी कवि के भीतर विलक्षण या विशिष्ट प्रतिभा की बात भी स्वीकार करते है और यहाँ भी प्रसाद का मत, क्रोचे के विचार से भिन्न पडता है, क्योंकि, क्रोचे सभी मनुष्यो को जन्मजात कवि स्वीकार करता है। उसका कथन है:—

Some men are born great poets, some small. The cult and superstition of the genius has arisen from this quantitative difference having been taken as a difference of quality[2]

प्रसादजी कवि की असाधारण प्रतिभा पर विश्वास करते हैं। कवि अपनी इसी विलक्षण प्रतिभा के कारण चित्त की असाधारण अवस्था को प्राप्त करता रहता है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे ग्रहण कर लेती है।

इस अन्तर के साथ साथ प्रसादजी और क्रोचे के मत मे एक और भी साम्य देखने को मिलता है। प्रसादजी अनुभूति और अभिव्यक्ति को अलग अलग नही देखते। उनका मत कुछ कुछ तुलसी के 'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न' जैसा है। उनके मत से 'व्यजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वय परिणाम है[3]। बिना अनुभूतिमयी प्रतिभा के काव्यात्मक व्यजना सम्भव नही। इसी से बहुत

[1] काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ १८ [2] Theory of Aesthetic Page 24

[3] काव्य और कला तथा अन्य निबध पृष्ठ २५

बडे विद्वान भी जिनका काव्य सम्बन्धी बौद्धिक ज्ञान बडा ऊँचा होता है काव्य रचना मे समर्थ नही हो पाते। अनुभूति ही प्रधान है, अभिव्यक्ति तो उसके बाद स्वतः ही होगी। यह विचार क्रोचे के अभिव्यजनावाद के ही मेल मे है जिसमे अनुभूति और अभिव्यक्ति को एक ही स्वीकार किया गया है। उसका कथन है—
"Intuitive knowledge is expressive knowledge[1]" "To have an intuition is to express It is nothing else-nothing more, but nothing less than to express [2]

उपर्युक्त साम्य होते हुए भी अभिव्यजनावाद और प्रसाद के अनुभूतिवाद मे अलग अलग पक्षो पर बल देने के कारण परिणामस्वरूप दोनो के विकास अलग-अलग हुए। अभिव्यजनावाद ने कलावाद को जन्म दिया जिसमे काव्य को कला के अन्तर्गत रखा गया। परतु प्रसादजी को कला के भीतर काव्य का रखा जाना स्वीकार नही है। कला अभिव्यक्ति की कुशलता, दक्षता या चमत्कार है, जबकि प्रसाद की धारणा के अनुसार काव्य मूलत भिन्न वस्तु है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। प्रसादजी काव्य को ज्ञान या सत्य का स्वरूप मानते है। आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति होने से वह वस्तुनिष्ठ रूप नही, वरन् व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान का रूप होने से विज्ञान से भिन्न है और रचनात्मक ज्ञानधारा होने से दर्शन से भी भिन्न है। अत ज्ञान और अनुभूति-प्रधान होने से वह मूलत चमत्कार और अभिव्यक्ति-प्रधान कला से भिन्न है। इसी कारण भारतीय चौसठ कलाओ मे समस्यापूरण का उल्लेख करते हुए, जो कि चमत्कार-प्रधान है, वे काव्य को उससे भिन्न मानते है। ज्ञानात्मक और सत्य स्वरूप होने के कारण काव्य विद्या है। वह हमे नवीन, ताजा और अनुपलब्ध ज्ञान देता है, जब कि कला उप-विद्या है। उसका उद्देश्य चमत्कार या कौशल है, नव ज्ञान-सञ्चार नही। प्रसाद के काव्य दर्शन मे यह भेद उनकी महत्त्वपूर्ण धारणा को स्पष्ट करता है।

प्रसादजी काव्य को सत्य का सुन्दर रूप मानते है। साथ ही सत्य अखण्ड है, यह भी स्वीकार करते है। निश्चय है कि यह सत्य की अखण्डता की धारणा दर्शन या विज्ञान के क्षेत्र मे तो स्वीकार हो सकती है, क्योकि इनमे प्रत्येक परवर्ती अनुसन्धान पूर्ववर्ती सत्यानुसन्धान को आगे बढाता है और इस प्रकार सत्य की एक अखण्डता को प्रत्यक्ष करता जाता है, परतु, काव्य के क्षेत्र मे जहाँ पर विभिन्न देशो और जातियो के कवियो द्वारा रचित काव्य मे जीवन और सत्य के भिन्न भिन्न रूप व्य किये गये हैं, यह अखण्डता कैसे स्वीकार की जा सकती है, यह एक प्रश्न है। प्रसादजी ने इस शका का समाधान प्रस्तुत किया है। विभिन्न व्यक्तियो, सस्कृतियो और जातियो का कवियो द्वारा जो विविधता पूर्ण वर्णन मिलता है, वह

[1] Theory of Aesthetic Page 18 [2] Theory of Aesthetic Page 19

खण्डता या भिन्नता का परिचायक नही। वरन् वह तो एक ही अखण्ड सत्य का विभिन्न दर्पणो मे पड़ा एक ही प्रतिबिंब है। भिन्नता कवि की या पाठक की सस्कारगत विविधता के कारण लक्षित होती है। अत विश्व के विभिन्न काव्यो के अन्तर्गत भी एक शाश्वत् अखण्ड सत्य के प्रकाश की ही झलके दिखलाई देती है। सस्कृति के विविध रगो से रगे सस्कार या हृदय के दर्पणो मे प्रतिबिम्बित ये काव्य-रूप अखण्ड सत्य के ही विविध रूप या विविध पक्ष है। अतएव प्रसाद की इस धारणा से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते है कि विज्ञान दर्शनोपलब्ध सत्य से काव्योपलब्ध सत्य की कम महत्ता नही, वरन् सत्य का सुन्दर और सजीव रूप होने के कारण इसमे प्रभावात्मकता विशेष है और यह जीवन को केवल रूखा ज्ञान नही देता, वरन् उसके सुन्दर और समन्वित रूप की झाँकी दिखाकर विकास और कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। विज्ञान के साधनो का जीवन को अधिक सुँदर बनाने के लिये उपयोग करना, काव्य की प्रेरणाओ द्वारा ही सभव है।

काव्यगत सत्य अन्य सत्यो मे किस प्रकार भिन्न होता है, इसे एक उदाहरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। विज्ञान और दर्शन मे तर्क के द्वारा सत्य का स्वरूप मूलभूत सश्लिष्ट सौदर्य मे रहित हो जाता है। जिस प्रकार एक सुन्दर फूल मधुर सौरभ, कोमल रङ्गीन पखुडियो से युक्त हरी पत्तियो की सघनता के बीच हवा के झोके मे डालियो पर झूमता हुआ एक विशिष्ट प्रभाव डालता है, परतु एक वैज्ञानिक के विश्लेषण और परीक्षण के परिणामस्वरूप या एक दार्शनिक के तर्को के उपरान्त निष्कर्षो मे प्राप्त विवरण से उसके सजीव सुदर रूप का वैसा कोई आभास नही मिलता जैसा कि उपर्युक्त सुन्दर फूल का कल्पना पर पडे प्रभाव के विश्लेषण रूप मे आये कवि के काव्यात्मक वर्णन मे प्राप्त होता है। उसी प्रकार का अतर विज्ञान-दर्शन-गत सत्य के रूप और काव्यगत रूप मे देखा जाता है। इससे निश्चयतः यह धारणा पुष्ट होती है कि काव्यगत सत्य का अपना निजी महत्त्व है और वह सत्य हमारे हृदय और कल्पना को स्पर्श और प्रभावित करता है। प्रसाद के विचार से काव्य सत्य का आदिम और सहज रूप है। इसी से प्रत्येक जाति का प्रारम्भिक साहित्य कविता के रूप मे ही प्राप्त होता है।

आत्मा की अनुभूति रूप मे आया काव्य सत्य का उद्घाटन करता है, यह मान लेने पर, जब हम और आगे विचार करते है, तो यह काव्य सत्य के उस स्वरूप के उद्घाटन करने मे भी समर्थ हो सकता है जो विश्लेषण, तर्क या विज्ञान से परे है। विद्वानो ने सत्य के इसी स्वरूप को रहस्यवाद कह कर अपना भाव प्रकट किया है। प्रसादजी का आदर्श काव्य के इसी स्वरूप को स्पष्ट करता है। उन्होने स्पष्ट ही कहा है---'काव्य मे आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा

रहस्वाद है[1]।' इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसादजी रहस्यवादी काव्य को ही महत्त्व प्रदान करते है, अन्य प्रकार का काव्य वैसा महत्त्वपूर्ण नही है। प्रसादजी का यह दृष्टिकोण आदर्शवादी है।

यहा पर एक प्रश्न यह उठता है कि अभिव्यक्ति पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य का फिर क्या महत्त्व है? प्रसाद की दृष्टि से वह काव्य का पूर्ण रूप नही है। यह धारणा उनकी भारतीय काव्य सिद्धातो की विवेचना के प्रसङ्ग मे स्पष्ट है। उनका मत है कि काव्य मे आत्मा रस है, क्योकि वह अद्वैत भावना पर आधारित है। रीति, अलङ्कार, वक्रोक्ति आदि सिद्धात काव्य मे इसके प्रतिपक्ष रूप मे आये, क्योकि रस को केवल नाटक का विषय प्राचीन आचार्यों द्वारा माना गया। ये सिद्धात काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष को ही लेकर चले, तो क्या यह सोचना सगत है कि जहाँ अलङ्कार, रीति या वक्रोक्ति है, वहाँ अनुभूति का कोई स्थान नही। वास्तव मे आगे चल कर अनुभूति के स्थान को ही प्रमुख महत्त्व देकर रस और ध्वनि सिद्धातो का विकास हुआ। आचार्य विश्वनाथ का कथन 'वाक्यरसात्मक काव्यम्' तो रस को आत्मा मानता ही है, ध्वनि के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रस की मुख्यता रसध्वनि को सर्व-श्रेष्ठ स्थान देकर स्वीकार की। उनका कथन है—'प्रतीयमानस्य चान्य प्रभेद दर्शनेपि रसभाव मुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्।' इतना ही नही अभिनवगुप्त पादाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक लोचन' मे तो ध्वनि के साथ वास्तव मे रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया। 'तेन रसमेव वस्तुत आत्मा वास्तवलकार ध्वनिस्तु सर्वथा रस प्रति पर्य्यवस्यते।' इस प्रकार प्राचीन भारतीय काव्य सिद्धातो के विकास मे भी प्रसाद ने अनुभूति पक्ष की महत्ता के ही दर्शन किये।

रस की काव्य मे सर्वोपरि महत्ता है क्योकि इसमे अद्वैतता स्थापित होती है। रसोवैस श्रुति का यही भाव है। रस आनन्द रूप है जिसमे समस्त चेतना आत्मा की आनदानुभूति मे मग्न हो जाती है। इस प्रकार प्रसादजी शान्त रस को सर्वश्रेष्ठ मानते है, क्योकि इसमे चित्त की स्थिति शान्त तरङ्गहीन समुद्र के समान हो जाती है और उनके विचार से द्वैत पर आधारित होने के कारण ही भक्तिभाव रस की कोटि मे नही सम्मिलित किया गया। पर यह विचार समीचीन नही जान पडता, क्योकि हास्य, वीभत्स, रौद्र आदि मे भी द्वैतभावना विद्यमान है, पर वे रस माने गये है।

यह प्रसाद के काव्य सम्बधी सिद्धात की सक्षिप्त रूपरेखा है। प्रसाद का काव्य-दर्शन मौलिक किन्तु आदर्शवादी है। काव्य के पुनभूत सर्वश्रेष्ठ स्वरूप को वे आनदवादी मानते है जिसका आधार शैवाद्वैतवाद है। भक्ति भावना को वे इस दृष्टि से विरह प्रदान और दुखवादी मानते है, क्योकि वह द्वैत को स्वीकार करती है। परतु क्या प्रसाद के काव्य मे सर्वत्र उनके इस सिद्धाँत के अनुसार आनदवादी स्वर ही मुखरित

[1] काव्य कला और अन्य निबन्ध पृष्ठ ३१

हुए है । ऐसी बात नही । उनके सभी काव्यो 'प्रेमार्थक काननकुसुम, झरना, आँसू, लहर, कामायनी मे दु खवादी स्वर ध्वनित हुए है वहाँ भी द्वैतानुभूति प्रधान है । इस मे यह स्पष्ट है कि वे अपने इस आदर्श को पूर्णतया उतार नही पाये । हाँ इसमे कोई स देह नही कि कामायनी मे समस्त भावो की परिणति आनदवाद मे हो गई ।

काव्य की सत्यानुभूति का सिद्धात अधिकाश उनकी काव्य कृतियो मे चरितार्थ हुआ है । प्रेम पथिक का सत्य 'इस पथ का उद्देश्य नही है शात भवन मे टिक रहना, किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नही ।' एक रहस्यानुभूति ही है । 'आँसू' की पक्तियाँ 'जो घनीभूत पीडा थी, मस्तक मे स्मृति सी छाई । दुर्दिन मे आँसू बन कर वह आज बरसने आई ।' इस काव्य मे परिव्याप्त जीवन के सत्य का दर्शन कराती है जिसका समाहार आँसू की व्यापक विश्व सवेदना और मानवता की भावना मे हो जाता है । कामायनी मे मानव वृत्तियो तथा सभ्यता और सस्कृति के विकास का रहस्य मनु श्रद्धा, इडा के कथानक और व्यक्तित्व मे प्रतिबिम्बित हुआ है·—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल मे,
पीयूष स्रोत बहा करो, ज के सुन्दर समतल में ।

इन पक्तियो मे नारी जीवन का मूलभूत रहस्य है । इसी प्रकार लज्जा और काम के सदेश, श्रद्धा की प्रेरणा, इच्छा, ज्ञान और कर्म का समन्वय, समरसता, जीवन के विकास के लिये आधारभूत सत्य की विभिन्न अवस्थाओ या स्वरूपो का ही उद्घाटन करते है । हम कह सकते है कि यह सत्य का उद्घाटन प्रसाद की सकल्पात्मक अनुभूति का ही प्रतिफल है ।

इस प्रकार अपने ग्रथो और विशेषतया कामायनी मे प्रसादजी ने सत्य की मूल चारुत्व मे अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है । परतु चारुत्व या प्रेम पक्ष की अपेक्षा सत्य का श्रेय या शिव पक्ष अधिक व्याप्त है जिससे यह कहा जा सकता है कि प्रसाद की सकल्पात्मक अनुभूति विकल्पात्मक या सैद्धान्तिक ज्ञान से अधिक बोझिल हो गई है और प्रसाद का सत्य या रहस्य का उद्घाटन भावात्मक से अधिक बुद्धिवादी है, पर उसमे सत्य का अखण्ड और शाश्वत स्वरूप है, इसमे सदेह नही ।

'प्रसाद' की काव्य शास्त्रीय मान्यतायें

रामचन्द्र तिवारी

'प्रसाद' का समस्त काव्य-साहित्य उनकी निजी काव्य शास्त्रीय मान्यताओ पर आधृत है। खेद है, कि प्रसाद के विदग्ध आलोचको ने भी उनके द्वारा स्थापित मान्यताओ के विवेचन-विश्लेषण का प्रयत्न न किया। आचार्य शुक्ल की मर्यादा-वादिता, विवेकशीलता एव लोक-दृष्टि प्रसाद के 'आनदवाद' का समर्थन न कर सकी। प० नन्ददुलारे वाजपेयी की सूक्ष्म-दृष्टि प्रसाद की मान्यताओ से इतनी अधिक प्रभावित रही कि वह उनके समुचित मूल्याकन मे प्रवृत्त न होकर समर्थन और व्याख्या मे ही लगी रही। हिन्दी के इतिहास लेखको ने भी इन मान्यताओ को ऐतिहासिक पद्धति से प्रस्तुत करते हुए अपने काव्य-बोध को असम्पृक्त ही रहने दिया। कुछ वयोवृद्ध- ज्ञानवृद्ध साहित्यिक नेताओ ने प्रसाद के सस्मरणो से ही अपने को सतुष्ट रखा। कुछ अधिक मर्मज्ञ पण्डितो ने शैव-दर्शन के समस्त सूत्रो को प्रसाद की रचनाओ मे ढूढने मे अपने जीवन का बहुत बडा भाग लगा दिया। नवीन तरुण आलोचको ने वर्त्तमान भौतिक-बौद्धिक समस्याओ का प्रसाद की कृतियो मे समाधान ढूँढते हुए विश्वास के साथ घोषित किया कि प्रसाद के समाधान प्राचीन जीवन-दृष्टि पर आधृत अव्यवहारिक एव आदर्शवादी है। यह सब तो हुआ किंतु स्वय प्रसाद के द्वारा उठाये गये काव्य-शास्त्रीय प्रश्नो के आधार पर न तो भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुशीलन की चेष्टा की गई और न उन्ही की कृतियो का ही मूल्याकन किया गया।

प्रसादजी पूर्णत आनन्दवादी है। उनका यह 'आनन्दवाद' 'आत्मानन्द' और 'रसानन्द' की अभेदात्मक स्थिति स्वीकार करता है। 'आत्मानन्द' दार्शनिक दृष्टि की उच्चतम उपलब्धि है और 'रसानन्द' काव्य-क्षेत्र की दिव्यतम विभूति। प्रसादजी दर्शन और काव्य की भूमियो मे अतर नही मानते। वे अभिनव गुट से सर्वथा सहमत होते हुए आत्मानुभूति को 'रस' स्वीकार करते है[1]। काव्य और दर्शन की इस एकता का साक्ष्य देते हुए वे 'उपनिषदो' की अनेक पक्तियाँ उद्धृत करते है। वे कवि से केवल सहृदयता की ही आशा नही करते, सत्य की भी आशा करते है। उनकी दृष्टि मे सत्य की सत्ता विराट् है। वह केवल 'श्रेय' तक ही सीमित नही, 'प्रेय' को भी आत्मसात् कर लेता है[2]। काव्य मे भी 'श्रेय' और 'प्रेय' दोनो का सामञ्जस्य

---

[1] 'आस्वादनात्माऽनुभवो रस. काव्यार्थमुच्यते'—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ ७० [2] काव्य और कला तथा अन्य निबध पृष्ठ ३७

अभीष्ट है। 'सत्य' प्राकृतिक विभूतियो मे व्याप्त है। इसे केवल विवेकपूर्ण एव बुद्धि-सम्मत तर्क-प्रक्रिया से ही उपलब्ध नही कर सकते। इसे आत्मा की अनुभूति से प्राप्त कर सकते है। आत्मा की अनुभूति ही काव्य है। 'मनन-शक्ति', 'वाक्-शक्ति' और 'प्राण-शक्ति' ये तीनो आत्मा की मूलभूत क्रियाये है। इसीलिये इन तीनो की प्रेरणा से काव्य के अन्तर्गत चिन्तन, अभिव्यक्ति और सजीवता का सामजस्य देखा जाता है। प्रसादजी आत्मा की मनन-शक्ति को तर्काश्रित चिन्तन और मनन से भिन्न मानते है। तर्क-वितर्क या बौद्धिक विश्लेषण 'विज्ञान' के अतर्गत आता है। आत्मा की मनन-शक्ति युग विशेष या व्यक्ति विशेष की वस्तु नही है। वही सभी युगो की समष्टिगत अनुभूतियो मे अन्तर्निहित रहती है। सत्य भी एक शाश्वत चेतनता है। इसीलिये इसकी उपलब्धि व्यक्ति विशेष या युग विशेष की बौद्धिक मान्यताओ के आधार पर नही हो सकती। इसे तो समस्त युगो की समष्टिगत अनुभूतियो के आधार पर ही अनुभूत किया जा सकता है। प्रसादजी ने इतिहास का गहन अध्ययन इन्ही समष्टिगत अनुभूतियो से परिचय प्राप्त करने के लिए ही किया था। इसीलिये ऐतिहासिक ज्ञान भी उनकी काव्य-कृतियो का एक वाह्य उपकरण बन गया है।

काव्य और दर्शन को एक ही आधार पर प्रतिष्ठित करने मे प्रसादजी को उपनिषदो के 'आत्मवाद' आगमवादियो के अद्वैतमूलक आनन्दवाद तथा सिद्धो के 'समरसानन्द' को ही मूल भारतीय दार्शनिक धारा सिद्ध करना पडा। दर्शन की उपर्युक्त पद्धतियाँ ही उनको अपनी मान्यताओ के अनुकूल प्रतीत हुई। शेष दर्शनो को उन्होने दुःख मूलक, विवेकवादी एव अनात्मवादी बताया। व्रात्यो का तत्त्वचिन्तन, बौद्धो की दार्शनिक मान्यताये, जैनियो की अहिसात्मक भावना, शकर का अद्वैतवाद, समस्त पौराणिक साहित्य, रामायण और महाभारत तथा समस्त भक्ति-साहित्य विवेकवादी परम्परा के अन्तर्गत आते है। इनमे बुद्धिवाद की प्रधानता है। यह भारतीय आर्यों की वास्तविक प्रवृत्ति नही। जिन जातियो को जीवन मे सघर्ष झेलना पडता है वे आनन्दवाद की उपासना नही कर सकती। वे ससार को दुखमय मान लेती है। इससे मुक्ति का उपाय ढूँढती है। दुःख दूर करने वाली परोक्ष सत्ता की कल्पना करती है। इस परोक्ष सत्ता के सामने प्रणत होती है। उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने पर भी प्रत्यक्ष अनुभूति के अभाव मे मानसिक विरह-जन्य पीडा का अनुभव करती है। वस्तुतः यह भेदात्मक जीवन दृष्टि है। इसकी जड मे विवेकवादी और बौद्धिक प्रेरणाये है। जीवन मे विधि-निषेध की स्थापना आदर्श एव मर्यादा की प्रतिष्ठा, नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न, यह सब कुछ भेद-मूलक दृष्टि का ही परिणाम है। यह चिरन्तन सत्य नही है। यह आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति-जन्य न होकर बौद्धिक विश्लेषण का प्रतिफल है।

भारतीय काव्य-शास्त्र के अतर्गत काव्य की आत्मा के प्रश्न को लेकर चलने

वाले सम्प्रदायो मे केवल 'रस सम्प्रदाय' अद्वैतमूलक आत्मवाद के अनुकूल है। वीर्य-वान् आर्यजाति ने जिस आनन्दवाद को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था भारतीय नाटको मे उसी की प्रतिष्ठा की गई थी। दूसरी ओर भारतीय दार्शनिक परम्परा की आदि एव प्रमुख धारा ने भी इसी की अनुभूति की थी। 'रस' की प्रतिष्ठा सर्व-प्रथम भारतीय नाटको मे ही की गई थी। अतएव 'आनदवाद' का सुँदरतम काव्या-त्मक रूप इन्ही नाटको मे देखने को मिला। परवर्तीकाल मे 'आनदवाद' के स्थान पर विवेकवादी प्रवृत्तियाँ प्रधान होने लगी। जीवन मे आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। नाटको के स्थान पर महाकाव्यो की रचना हुई। आत्मानुभूति के स्थान पर ['इदम'] परानुभूति प्रधान मानी गई। दृश्य काव्यो का स्थान श्रव्य काव्यो ने ले लिया। काव्य के अतर्गत 'महत्तम' की पूजा का प्रचलन हुआ। फलस्वरूप 'रस सिद्धात' के उपरान्त आने वाले 'रीति', 'वक्रोक्ति', 'अलङ्कार' आदि सम्प्रदायो मे विवेकवादी प्रवृत्तियाँ लक्षित हुई। इन सम्प्रदायो की दृष्टि सतही और ऊपरी थी। वे काव्य के शरीर की ही शल्य-चिकित्सा करते रहे। जिस प्रकार स्थूल दृष्टि 'अन्नमय', 'प्राणमय', 'मनोमय' और 'विज्ञानमय' कोशो तक ही सीमित रहती है और आत्मानुभूत 'आनदमय' कोष तक नही पहुँच पाती उसी प्रकार इन सम्प्रदायो ने 'शब्द', 'अलकरण' 'रचना पद्धति' या 'अभिव्यक्ति वक्रता' (ये सभी बाह्य स्थूल उपकरण है) को लेकर ही सिद्धातो की प्रतिष्ठा की। प्रसादजी के अनुसार यह सब कुछ भेदमूलक अनात्म-वादी जीवन-दर्शन का ही परिणाम है। जिस प्रकार 'कृष्ण' के व्यक्तित्व मे 'विवेक-वादी' और 'आनदवादी' प्रवृत्तियो का अद्भुत समन्वय किया गया है (सम्भवत इसीलिये वे पूर्णावतार माने जाते है) उसी प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अतर्गत 'विवेक-वादी' और 'आनदवादी' दृष्टियो के समन्वय की चेष्टा की गई है। इस प्रकार प्रसाद की दृष्टि मे अद्वैत मूलक 'रसवाद' ही भारतीय काव्य की प्रकृत धारा है।

प्रसादजी की उपर्युक्त मान्यता समस्त भारतीय वाङ्मय के पुनः अनुशीलन की प्रेरणा देती है। उनकी मान्यताओ पर विचार करते हुए कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते है। सर्व प्रथम यह विचारणीय है कि जब बौद्ध और जैन साहित्य, शकर का अद्वैतवाद, रामायण, महाभारत तथा अन्य महाकाव्य, सम्पूर्ण भक्ति साहित्य, विवेकमूलक होने के कारण मूल आर्य भावना से अलग कर दिये जॉयगे तो भारतीय साहित्य के नाम पर रह क्या जायगा? जिन कृतियो से भारतीय जनता और भार-तीय राष्ट्र की आत्मा का पिछले कई सहस्र वर्षो से अटूट सम्बध रहा है उन्हे अप्रधान सिद्ध करना कहाँ तक समीचीन है? क्या यह नही कहा जा सकता कि अपनी व्यक्ति-गत मान्यताओ की पुष्टि के लिये आधार और तर्क प्रस्तुत करने की चेष्टा मे प्रसाद को यह सम्पूर्ण व्याख्या करनी पडी है। इस प्रकार यह दृष्टिकोण प्रतिक्रियात्मक भी कहा जा सकता है।

इसमे सदेह नही कि आनद की उपलब्धि मानव जाति की चिर-साध्य वस्तु रही है, किन्तु साधन रूप मे विवेक की महत्ता कौन अस्वीकार कर सकता है ? स्वय प्रसाद भी मनु को आनद लोक की यात्रा कराने के पहले सारस्वत प्रदेश मे ले जाते है जिसकी सम्पूर्ण कल्पना अनात्मवादी, भेदात्मक, बौद्धिक एव विवेकशील जीवन दर्शन का प्रतिफल है। अद्वैतमूलक आनदानुभूति, जिसे प्रसादजी आर्यों की मूल प्रवृत्ति सिद्ध करते है , सामूहिक जीवन मे किस प्रकार उपलब्ध हो सकती है। प्रसादजी ने जिन लोगो को साक्ष्य रूप मे उपस्थित किया है, वे साधक थे। विशेष सम्प्रदायो से सम्बद्ध थे। वस्तुत 'आनन्दवाद' और 'विवेकवाद का प्रश्न वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन-दृष्टियो का प्रश्न है। वैयक्तिक जीवन-दृष्टि 'आनन्दवाद' को—प्रेम, सौन्दर्य, उल्लास, प्रमोद जिसके व्यावहारिक रूप है—स्वीकार कर सकती है किन्तु सामाजिक दृष्टि, श्रद्धा, सहानुभूति, दैन्य आदि को महत्व देगी ही। अपनी लोक-दृष्टि के कारण ही आचार्य शुक्ल 'प्रेम' की तुलना मे 'श्रद्धा' का सापेक्षिक महत्व स्वीकार करते है। वे 'प्रेम' को स्वप्न और 'श्रद्धा' को जागरण कहते है। 'प्रसाद' और आचार्य शुक्ल की काव्य शास्त्रीय मान्यताओ के भेद के मूल मे यह दृष्टि-भेद भी कार्य करता रहा है।

जिस 'आत्मवादी' दर्शन को प्रसादजी आर्यों की मूल प्रवृत्ति मानते है उसके सम्बन्ध मे भी अन्वेषको मे मतैक्य नही है। इधर ऐसी मान्यताये पूरे विश्वास के साथ प्रस्तुत की जाने लगी है कि 'आत्मवादी' दर्शन अवैदिक है[1] ब्राह्मणो को 'आत्मतत्त्व' जैसी किसी सत्ता का न तो ज्ञान था न सकल्पात्मक अनुभूति[2]। ऐसी स्थिति मे प्रसाद की इन मान्यताओ की ऐतिहासिकता भी सदेह से परे नही है।

उपनिषदो मे प्रतिपादित 'आत्मा' की अद्वयता, शैवो की 'समरसानन्द' की कल्पना तथा सिद्धो की समरसता भी एक ही वस्तु नही है। उपनिषदो मे 'आत्मा' के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को स्वीकार ही नही किया है। 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक और अद्वितीय है) 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) 'समरसानन्द' की कल्पना मे 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' दोनो की स्वीकृति है। 'जाते समरसानन्दे-द्वैतमप्यमृतोपमम्' मे द्वैत का निषेध नही है। यह जीवात्मा-परमात्मा की एक साम-

---

1—"For if anything is certain about the 'Atman' it is its non-vedic origin",

× × ×

2—"The 'Atman 'was unknown to the Brahmanas."

—*Mystic Teachings of the Haridasas—by*
A. P. Karmarkar
Introduction Page XV

जस्यमयी स्थिति है। इसके मूल मे अद्वैत की प्रेरणा भले ही हो। 'काव्य' के अतर्गत 'भाव' की सत्ता अनिवार्य है। 'भाव' की स्थिति के लिये 'आश्रय' और 'आलम्बन' दोनो की कल्पना करनी ही होगी। पूर्ण 'रसानन्द' की उपलब्धि के लिये 'आश्रय' (जीवात्मा) और 'आलम्बन' (परमात्मा) को समरसात्मक स्थिति मे कल्पित करके शैव दार्शनिको ने अद्वैतवाद को काव्यानुकूल बनाने की चेष्टा की है। सिद्धो की 'समरसता' 'शिव' और 'शक्ति' तत्त्व की अभेदावस्था का ही दूसरा नाम है। यहाँ भी 'शिव' तत्त्व और 'शक्ति' तत्त्व दोनो की स्थिति स्वीकार की गई है। सिद्ध दर्शन के अन्तर्गत 'शक्ति' तत्त्व मिथ्या या भ्रम नही है। वह 'शिव' से अभिन्न है। वह 'शिव' के आधीन भी नही हैं। योगी साधक साधना के बल से स्वय भी समरस अवस्था की प्राप्ति कर लेता है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' मे 'समरसता' की व्याख्या करते हुये कहा गया है— "अतएव कुलाकुल स्वरूपा सामरस्य निज भूमिका निगद्यते" टीका— [(अतएव) अस्मिन् समये शिव शक्त्योर्भेदाभावादेवे य परा-शक्ति (कुलाल स्वरूपा) सकल स्वरूपा (सामरस्य निज भूमिका) तुल्य रस स्वभावावस्था शिवो वा शक्तिरित्यादि विकल्पानर्हेति यावत् (निगद्यते) योगेभि शास्त्रेण प्रतिपादने[1]। इस व्याख्या के अनुसार 'समरसावस्था' 'शिव' और 'शक्ति' की अभेदावस्था (विकल्परहित) है। योगियो को अनुभूत होने वाला यह 'समरसानन्द' साधनागत है।

वस्तुतः प्रसादजी को भी अपने मत का प्रतिपादन करते समय उसे श्रुति सम्मत बनाने का मोह था। शैवो की 'समरसता' तो निश्चय ही काव्यानुकूल है किन्तु उपनिषदो के 'आत्मवाद' से उसका उद्गम तथा सिद्धो के आनन्दवाद मे उसका विकास दिखाने की चेष्टा मे प्रसादजी को निजी मान्यताओ का आरोप करना पडा है।

यह होने पर भी 'विवेकवाद' और 'आनन्दवाद' के आधार पर समस्त भार-तीय साहित्य काव्यशास्त्र एव दर्शनो की व्याख्या करके प्रसादजी ने एक नवीन दिशा की ओर सकेत किया है। हमे विश्वास है कि निकट भविष्य मे 'हिन्दी काव्य शास्त्र' का निर्माण करने वाले विद्वान् प्रसाद के दिशा-निर्देश की उपेक्षा नही करेगे।

●

[1] 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति'—पृष्ठ १६३

व्यक्तित्व का द्वन्द्व और प्रसाद

प्रेमशंकर

साहित्य मे व्यक्तित्व का प्रकाशन किस सीमा तक होता है, इस विषय मे विचारको ने पूर्णतया विरोधी विचार भी प्रकट किए है। साहित्य व्यक्तित्व का प्रकाशन है अथवा वह उससे पलायन है, ये दोनो वाक्य स्थूल दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते है, किन्तु यदि 'व्यक्तित्व' की व्यापक परिधि पर दृष्टि रखी जाय तो इनका अन्तर अपेक्षाकृत कम हो जायगा। मानव का क्रियाशील उत्कृष्ट व्यक्तित्व अखण्ड इकाई के रूप मे हमारे समक्ष आता है, किन्तु उसके अनेक पटल होते है जो साहित्य मे अनावृत हो सकते है। कृतिकार अपने व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण पटल ही प्रस्तुत करता है। शेष पर उसे नियन्त्रण रखना पडता है। उसका यह व्यक्तित्व किस प्रकार अनावृत होता है; यह प्रश्न सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। अपने ऊर्ध्वमान चेतन को अभिव्यक्ति देने के अतिरिक्त महान् लेखक अनेक प्रकार के व्यक्तित्व गढते भी है।

प्रसाद मे व्यक्तित्व-सम्बन्धी ये दोनो ही स्वरूप मिलते है। यह निश्चित है कि अधिकाश लेखको की भाँति उनके लेखन की आरम्भिक प्रेरणा व्यक्तिगत जीवनानुभूति है। 'झरना' के अनेक गीतो मे कवि का यह व्यक्तिगत स्वर अनलकृत रूप मे झलक आया है। किन्तु कोई भी महत्वपूर्ण साहित्यकार अधिक समय तक स्वय से उलझ कर नही रह सकता। उसे अपनी अनुभूतियो का क्षेत्र व्यापक करना पडता है, जिसके लिए विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ अपनायी जा सकती है। किसी दर्शन अथवा सिद्धान्त का आवरण उन पर चढाया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे दर्शन, राजनीति आदि का आश्रय लेना होगा। अनुभूतियो के नियमन, नियन्त्रण की नवीनतम प्रणाली बौद्धीकरण की है। इस प्रकार की प्रक्रिया मे एक खतरा यह रहता है कि कही साहित्य आत्म-प्रवचना न बन जाय। क्योकि अनुभूति के पल्लवन पोषण की ये प्रणालियाँ अधिक स्वाभाविक नही कही जा सकती। प्रसाद ने भाव-नियमन के लिए किसी बाह्य उपचार का आश्रय अपेक्षाकृत कम ही ग्रहण किया है। इसे हम उनका आत्मानुशासन कह सकते है, जिसकी सहायता से उन्होने अपनी भावनाओ का उदात्तीकरण किया। यह उनके विकासशील व्यक्तित्व का परिणाम है, जो उन्हे 'चित्राधार' की साधारण अभिव्यक्ति से 'कामायनी' जैसी प्रौढ कृति तक ले गया। आत्मानुशासित लेखक साधारण प्रवचनकर्ता होने से बच जाता है, क्योकि वह बाह्य प्रचलित जीवन-सिद्धान्तो को साहित्य मे रूपान्तरित कर देने

मात्र से सतुष्ट नही हो जाता। प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व का विकास किया। जीवन को अपनी जिज्ञासु और जागरूक दृष्टि से देखा और उसे रससिक्त अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया। 'कामायनी' के अतिम सर्ग दर्शन के भार से बोझिल दिखाई देते है, पर उनसे नीरसता की शिकायत जल्दी नही की जा सकती। श्रेष्ठ साहित्य, विशेषतया काव्य की यही सार्थकता है— कि वह सभी कुछ अपनी रसवती पगडडी मे गुजार दे। जैसा प्रसाद ने स्वय कहा है—

'छिप-छिप किरणें आती जब, मधु से सींची गलियो मे।'

प्रसाद अपने व्यक्तित्व को अधिक छिपा नही पाये। संगोपन मे उन्हे आशिक सफलता ही प्राप्त हुई है। मेरी धारणा है कि व्यक्तित्व से पलायन की वृत्ति लेकर चलने वाला लेखक कभी कभी एक सकीर्ण दायरे की ओर बढता चला जाता है। वह 'विशिष्ट वर्ग' का स्वर बन कर रह जाता है। एक आदर्श सिद्धात की ओट मे खरा-खोटा सभी कुछ चला देने की कोशिश की जाती है, और कभी कभी इस प्रकार के लेखक आत्म-प्रवचना तथा बाह्याडम्बर के शिकार हो जाते है। उनमे ईमानदारी और सचाई क्रमश कम होती जाती है, जो साहित्य के लिये सबसे अधिक घातक है। प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व को वाणी दी है, बिना अधिक दुराव अथवा सकोच के। हा, उसमे शालीनता और सयम अवश्य है। भाव-क्षेत्र मे हम इसे उदात्तीकरण और शिल्प-क्षेत्र मे लाक्षणिक अभिव्यक्ति कह सकते है। तुलसी के शृङ्गार वर्णन मे विशेषतया राम सीता के सम्बध को लेकर शील तथा मर्यादा दिखाई देते है पर दोनो कवियों के कार्य-कारण मे बडा अतर है। एक मे प्राचीन भक्त-कवि की आध्यात्मिक नैतिकता है, दूसरे में आधुनिक मानववादी साहित्यकार के गुरु दायित्व की भावना। जीवनी और व्यक्तित्व मे जो सूक्ष्म अंतर है, उसे हिन्दी मे निराला के अनन्तर सम्भवतः प्रसाद ने सबसे अधिक जाना-पहिचाना था। निराला की निर्वैयक्तिकता यद्यपि प्रसाद मे नही मिलती, किन्तु उन्होने अपने व्यक्तित्व को विकसित करके ही उसे अभिव्यक्ति दी। 'आँसू' इसी व्यक्तित्व का प्रकाशन है, यद्यपि जीवन की किसी घटना-विशेष को उसकी प्रमुख प्रेरणा स्वीकार किया जा सकता है। इन दोनो के मध्य ऐसा अतराल रख दिया गया है कि पाठक, समीक्षक अनुसधान करते रह जाते है, और कुछ को तो उस प्रेम काव्य मे रहस्यवाद के भी दर्शन होने लगते है। महान साहित्यकारो की यह असाधारण विजय है।

साहित्य मे व्यक्तित्व की एक नई प्रणाली प्रसाद मे देखी जा सकती है, जो किंचित् जटिल होते हुए भी मौलिक है। उन्होंने व्यक्तित्व के द्वद्व को अभिव्यक्ति दी है। इसे किंचित स्पष्टता के साथ कहू तो यह स्वीकार करना होगा कि स्वय लेखक मे जो व्यक्तित्व का द्वद्व था, उसने साहित्य मे अभिव्यक्ति प्राप्त की है। पर प्रसाद ने इस द्वद्व का लाभ उठाया, एक सनुलन स्थापित करने मे। वैज्ञानिक सिद्धात है

कि जब दो समान भार की शक्तियो मे पारस्परिक तनाव होता है तब उनमे सतुलन बना रहता है। प्रसाद के सघर्ष और द्वन्द्व-भरे व्यक्तित्व की यही विशेषता है—कि उसमे विकर्षण, दिग्भ्रम, कुण्ठा कम है। यह द्वद्व विरोधी शक्तियो के मिलन से जीवन का एक नया आसव तैयार करता है। इसे हम उनकी समीकरण अथवा समन्वय की शक्ति कह सकते हैं। प्रश्न है— कि यह द्वद्व किस स्तर पर अकित हुआ है ? आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, बौद्धिक किस बिंदु पर उसका परिपाक हुआ है ? सम्भवतः इनमे से किसी एक वर्ग के भीतर उसका आकलन नही किया जा सकता। हैमलेट जैसे मानसिक द्वद्व के पात्र मनोविज्ञान के निकट है और उसके सर्वोत्तम उदाहरण कहे जा सकते है। आध्यात्मिक सघर्ष पुण्य-पाप, सत्य-असत्य, स्वर्ग-नरक की नैतिक विवेचना से सम्बन्धित है। राजनैतिक, बौद्धिक स्तर के द्वद्व रूस और अमेरिका के कथा-साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। प्रसाद के अपने जीवन मे जो स्थिति थी उसे अनुभूति और अभिव्यक्ति का द्वद्व भी कहा जा सकता है जो प्राय सभी महत्त्वपूर्ण रचनाकारो मे देखा जा सकता है। प्रसाद प्रेषणीयता की समस्या खडी करने के पक्ष मे नही थे। आत्मविश्वास से भरे लेखक इसकी चिंता भी नही करते। द्वद्व की स्थिति मे प्रसाद का विकास होता रहा, जैसे पाषाणो का घर्षण अग्नि को जन्म देता है। इस विकास के प्रति वे पूर्ण सजग थे। 'आँसू' का नवीन सस्करण, जिसमे निराशा को आशा मे परिवर्तित किया गया, इसका प्रमाण है। कवि का अपना पथ निश्चित था। वे शक्ति और कर्म के उपासक, समन्वय-वादी, आनन्दमार्गी, रस-परम्परा के कवि थे। उनका व्यक्तित्व द्विविधात्मक नही था, उसे हम रहस्यपूर्ण तथा जटिल कह सकते है। प्रेमचन्द का जीवन पारदर्शी था, इसी कारण वे सीधी-सादी, सपाट राह पर चले, बडी शक्ति और निष्ठा के साथ। इस दिशा मे वे अप्रतिम हैं। प्रसाद का आतरिक जीवन आन्दोलित था। वह उनके साहित्य मे एक नया व्यक्तित्व बनकर प्रतिफलित हुआ, द्वद्व के रूप मे। यह द्वद्व भाव-क्षेत्र का नियमन तो करता ही रहा, शिल्प को भी उसने प्रभावित किया। 'कामायनी' महाकाव्य की रूपरेखा भी किंचित गीतात्मक हो गई। नाटक पूर्णतया रगमच के अनुकूल नही हो पाए। उनमे गीतो का बाहुल्य हो गया। कहानियाँ गीत-कथाये जैसी है। वास्तव मे द्वद्व भरे व्यक्तित्व के लेखक को अधिक सावधानी से कार्य करना पडता है। प्रसाद सोद्देश्य रचनाकार है। कहा जा सकता है— कि उनमे भाव शिल्प का द्वद्व जो किसी सीमा तक है, व्यक्तित्व के द्वद्व के ही कारण है, जिसमे अन्त मे भाव की उचित शिल्प मे प्रतिष्ठा हुई।

व्यक्तित्व के द्वन्द्व का स्पष्ट रूप मिलता है—प्रसाद की चरित्र सृष्टि मे। उनके नाटको की कथावस्तु ऐतिहासिक है, किन्तु पात्रो की रूपरेखा इतिहास के अनुकरण मात्र पर आधारित नही है। इतिहास के अतिरिक्त भी इन पात्रो का एक व्यक्तित्व

है जिसमे द्वन्द्व की स्थिति मिल जाती है। शेक्सपियर के नाटक "जूलियस सीजर" एक बहुश्रुत वीर को उसकी कतिपय दुर्बलताओ के साथ प्रस्तुत करता है। इसके माध्यम से नाटककार एक महत्त्वाकाक्षी के उस अतिशय आत्मविश्वास पर विचार करना चाहता है जो उसके आवेश मे किसी की चिन्ता नही करता। प्रभुता कितने शत्रुओ को जन्म दे सकती है, यह भी इससे प्रकट है। इसी प्रकार प्रसाद अपने पात्रो के प्रसिद्ध व्यक्तित्व से आगे बढ कर विचार कर सके है। कल्पना का आश्रय ग्रहण करने के अतिरिक्त कही-कही उन्होने इतिहास की सीमाओ का अतिक्रमण भी किया है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रगुप्त' नाटक मे चन्द्रगुप्त अलक्षेन्द्र, सेल्यूकस आदि को परास्त कर भाग निकलता है। व्यक्तित्व का द्वन्द्व अधिकाश पात्रो मे सन्निहित है। चाणक्य को इतिहास एक कुशल कूटनीतिज्ञ, विलक्षण बुद्धि के ब्राह्मण रूप मे जानता है। पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक का चाणक्य एक दूसरे ही रूप मे आता है। उसमे कोमल भावनाओ का समावेश भी किया गया है। किन्तु परिस्थितियो के कारण उनमे भीषण परिवर्तन होता है। चाणक्य ने यौवन के आरम्भिक प्रहर मे सुवासिनी से प्रेम किया था। पर वह राक्षस की प्रेमिका हुई, नन्द की राजनर्तकी बनी। कौन कह सकता है कि प्रतिशोध ज्वाला मे इस घटना ने हव्य का कार्य नही किया? जब सुवासिनी लौट कर चाणक्य के पास आती है तब वह उसे स्वीकार भी नही कर पाता—राजनीति से उलझ जाने के कारण। यह उदार ब्राह्मण चन्द्रगुप्त की विजय देख कर प्रसन्न होता है। पुरस्कार रूप मे कुछ भी नही चाहता। 'महत्त्वाकाक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी मे रहता है' यह जान कर वह आगे बढता है, पर कभी निरकुश-अत्याचारी नही हो जाता। सुवासिनी की स्मृति आने पर वह कहता है, 'समझदारी आने पर यौवन चला जाता है, जब तक माला गूँथी जाती है, फूल मुरझा जाते है।' इस सम्पूर्ण उद्धरण मे द्वन्द्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। चाणक्य मे व्यक्तित्व का जो द्वन्द्व अकित हुआ है, उसमे हृदय, बुद्धि भीतर ही भीतर, पारस्परिक सघर्ष करते है पर प्रखर व्यक्तित्व का प्राणी गतिमान् होता जाता है। द्वन्द्व उसे निष्क्रिय अथवा जड नही कर पाते। इसी नाटक का दूसरा पात्र चन्द्रगुप्त भी द्वद्व की स्थिति से गुजरता है। मालविका, कल्याणी, कार्नेलिया उसके प्रति प्रेम-प्रदर्शन करती है, पर वह अपने दायित्व मे बदी, कठोर गुरु से नियत्रित, भावनाओ से अधिक नही उलझ पाता। जब चाणक्य कहता है 'छोकरियो मे बात करने का समय नही' तब उसे किञ्चित दुःख होता है। नाटक के अत मे चाणक्य और चन्द्रगुप्त मे जो क्षणिक मनोमालिन्य होता है, उसे नाटक-शिल्प की दृष्टि से जिज्ञासा, कुतूहल की सृष्टि कहा जा सकता है, पर इसका प्रेरक है—व्यक्तित्व का वह द्वद्व जो चद्रगुप्त मे है, जिसके कारण वह अत मे असहनशील हो उठा।

प्रसाद व्यक्तित्व के द्वद्व मे इतना विश्वास क्यो रखते है? इसका कारण

केवल शिल्प-मोह नही है। वे तिलस्म और जासूस के लेखक भी नही है कि जिज्ञासा का एक वातावरण रच दे। उसका केवल मनोवैज्ञानिक आधार भी नही स्वीकार किया जा सकता। मानव को उसके मानवीय परिवेश मे रखने का जो अभियान साहित्यकार मे होता है, वह प्रसाद मे पर्याप्त मात्रा मे है। व्यक्तित्व का द्वद्व मानव की एक स्वाभाविक वृत्ति है, जिसका प्रकाशन अन्तर्वेदिनी सूक्ष्म दृष्टि रखने वाला उदार साहित्यकार ही कर सकता है। नाटको मे ऐसे पात्र कम मिलेगे, जिनकी केवल सिद्धात-पालन के लिये सृष्टि की गई है। लक्षण ग्रथो के आधार पर उनका सृष्टि नही हुई। उनके नायक "धीरोदात्त" की परीक्षा मे पूर्ण सफलता नही प्राप्त कर सकते। 'कामायनी' नायिका-प्रधान प्रबध-काव्य है, और उसके नायक मनु पर तो पुरातनपथी आलोचको ने किसी समय अनेक आक्षेप किये थे। मनु का द्वद्व अपने रूपक मे मानसिक स्तर का हो सकता है, उसे मनोवैज्ञानिक सघर्ष की सज्ञा दी जा सकती है, किन्तु वस्तुत. वह द्वद्व व्यक्तित्व का है। देवताओ के उत्तराधिकारी मनु मे जो असख्य जिज्ञासाएँ है वे बारम्बार आपस मे टकराती है और यह स्थिति उस समय तक बनी रहती है जब तक उसका उचित समाधान नही हो जाता। इस आदि मानव के समक्ष केवल यही प्रश्न नही है कि वह क्या करे, क्या न करे किन्तु बुद्ध की भाति वह जानने के लिये व्यग्र है कि जीवन का तात्पर्य क्या है? इडासे उसने कहा था—'हे देवि! बतादो जीवन का क्या सहज मोल?' मनु के व्यक्तित्व का द्वद्व अपनी उत्कृष्टतम सीमा तक पहुँच गया है और उन्हे हम प्रसाद की सर्वोत्तम चरित्र सृष्टि कह सकते है, जिसमे अनेक प्रकार के द्वद्व समाहित होकर उसके व्यक्तित्व को असाधारण गरिमा प्रदान करते है। प्रसाद के पात्रो का द्वद्व भरा व्यक्तित्व पथ का अन्वेषक है, इसी कारण वह अधिक सार्थक है और उसे मानसिक सघर्ष मात्र की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। इलाचन्द्र जोशी अथवा अज्ञेय के पात्रो से उनकी तुलना करने पर अतर स्पष्ट हो जायगा। प्रसाद के जो कतिपय चरित्र केवल मानसिक झझावात से गुजरते है, उनके व्यक्तित्व का निर्माण अत्यन्त सावधानी से किया गया है। दो प्रसिद्ध कहानियाँ 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप' का आधार मनोवैज्ञानिक है। उनमे मानसिक द्वद्व का चित्रण है। दोनो की नायिकाएँ मधूलिका और चम्पा मे एक अतर्द्वन्द्व की प्रमुखता है, यद्यपि 'पुरस्कार' 'आकाशदीप' की अपेक्षा अधिक विश्वास-नीय बन सकी है। वातावरण को प्रधानता देने के कारण 'आकाशदीप' में कल्पना अधिक बलवती है। मधूलिका मे प्रेम और कर्त्तव्य का द्वद्व है। और प्रसाद ने कथा को ऐसा मोड दिया है कि नारी दोनो ही परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होती है। कहानी के अत मे कोशलराज उससे पुरस्कार माँगने के लिये कहते है। वह चाहती तो कह सकती थी कि बन्दी अरुण को मुक्त कर दिया जाय। किन्तु इसमे फिर प्रेम के लिए उसका बलिदान ही क्या होता? इसी कारण जब वह कहती है तो मुझे भी

प्राणदण्ड मिले' तब वह इस भावना से परिचालित है कि राज-नियम की अवहेलना न हो। 'आकाशदीप' की चम्पा प्रेमी जलदस्यु को अपने पिता का हत्यारा मान लेती है, और इस सदेह मे वह सदैव के लिए उसे खो देती है। अपने द्वंद्व को स्पष्ट करते हुए वह कहती है कि 'मैं तुम्हे घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हे प्रेम करती हूँ। अधेर है जलदस्यु, मै तुम्हारे लिए मर सकती हूँ।' यह दोनो नारियाँ मानसिक द्वंद्व का उत्कृष्ट उदाहरण है, पर यहाँ भी यह द्वंद्व उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की गरिमा बनकर ही आया है। जहा कही प्रसाद ने सिद्धात रूप मे अथवा शिल्प की दृष्टि से द्वंद्व-समन्वित पात्रो की सृष्टि की है, वहाँ उनकी रूप-रेखा दूसरी है। 'स्कन्दगुप्त मे विजया छलना है और भटार्क एक चञ्चल बुद्धि का प्राणी।

चरित्रो मे व्यक्तित्व का जो द्वंद्व निहित है, उसका तात्पर्य यह नही है कि वह द्विमुखी है। इस प्रकार के, आत्म-प्रवचना से भरे हुए पात्रो की सख्या प्रसाद मे नगण्य हैं। द्वंद्व-मध्य जाते हुए पात्र जीवन मे एक समरसता स्थापित कर लेते है। इससे उनके व्यक्तित्व की अपार क्षमता का परिचय प्राप्त होता है वास्तव मे व्यक्तित्व के द्वंद्व की अभिव्यक्ति मात्र दे देना प्रसाद का उद्देश्य नही था। वे इसके माध्यम से पात्रो के व्यक्तितत्व को एक असाधारण गरिमा प्रदान करना चाहते थे। आरम्भ से ही स्कन्दगुप्त मे जीवन के प्रति उदासीनता और विराग की भावना है। 'अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है'—इन शब्दो से उनकी वीतरागता का बोध होता है। किन्तु स्कन्द की यह उदासीनता निवृत्तिमूलक नही है। वह राज्य का सेनानी बनकर दस्युओ से उसकी रक्षा करता है। पुरगुप्त के लिए निष्कटक राज्य छोडने की उसकी इच्छा है। अपने प्रेम के जिस आतरिक द्वंद्व से होकर उसे गुजरना पडता है वह उसके व्यक्तितत्व मे किसी प्रकार की कुण्ठा को जन्म नही दे पाता। यह इसी कारण सम्भव हो सका क्योकि प्रसाद ने अपने पात्रो को जो व्यक्तितत्व का द्वंद्व प्रदान किया है, उसमे इतनी शक्ति भी दी है कि वह इन द्वन्द्वो से सघर्ष करता हुआ इनसे ऊपर उठ सके। स्वय उनमे भी यह असाधारण क्षमता थी, तभी वे भाव और शिल्प की महत्तर ऊँचाइयो पर जा सके। पात्रो के द्वंद्व भरे व्यक्तितत्व को देखकर कतिपय समीक्षक उन पर शेक्सपियर आदि का प्रभाव देखते है और उन्हे नाटको मे भारतीय रस-निष्पत्ति और पाश्चात्य चरित्र-चित्रण का मिलन प्रतीत होता है। उच्चकोटि के साहित्य मे इस प्रकार का गठबन्धन सभव है, इसमे मुझे सदेह है। चरित्र-चित्रण का जो बाहुल्य नाटको मे है उसका प्रमुख कारण यही है कि नाटककार अपने पात्रो के व्यक्तित्व का द्वन्द्व प्रकाश मे लाकर उन्हे एक मानवीय वैशिष्टय प्रदान करना चाहता था। मानवीय जीवन-दृष्टि के सहारे लेखक अधिक गहराई मे उतर जाता है। भारतीय रस-निष्पत्ति को हम नाटको मे पात्रो के व्यक्तितत्व की विजय रूप मे पा जाते है। कतिपय नाटको को लेकर सुखान्त-

दुखान्त का जो वाद-विवाद है उसका कारण यही है कि हमने स्वय प्रसाद की दृष्टि को, उनके प्रेरणा-स्रोत को ठीक से जाना-पहिचाना नही है। ये नायक सुखान्त,दुखान्त की सीमाओ मे बन्दी नही किये जा सकते, क्योकि इनकी सृष्टि लक्षण ग्रन्थो को आधार मानकर नही की गई। नाटककार की दृष्टि समग्र जीवन पर रही है, जिसमे सुख-दुख इसी प्रकार विद्यमान है, "चन्द्रिका अधेरी मिलती, मालती कुज मे जैसे।" प्रसाद के नाटक न सुखान्त है और न दुखान्त, वे स्वाभाविक सम्भाव्य अन्त पर आश्रित है। इस तथ्य को अरस्तू भी स्वीकार करता है कि सभव आश्चर्य किसी रोमाचकारी असभावना से वेहतर है। इन सक्षिप्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व का द्वन्द्व प्रसाद साहित्य की एक प्रमुख प्रेरणा है और जिज्ञासु विद्यार्थी को उससे समुचित परिचय होना चाहिये। जैसा कहा जा चुका है कवि की आन्तरिक, व्यक्तिगत जीवनानुभूति से इसका श्रीगणेश होता है। समर्थवान कवि ने इसका उदात्तीकरण किया, उसे विकास-दिशा दी। व्यक्तित्व का यह द्वन्द्व प्रसाद को एक पृथक साहित्यिक व्यक्तित्व प्रदान करता है।

प्रसाद मे व्यक्तित्व के द्वन्द्व की सीमाओ को भी सक्षेप मे देख लेना होगा, ताकि उसका उचित मूल्याकन हो सके। प्रसाद मुख्यतया मानव की कोमल भावनाओ के शिल्पी है। जीवन का बहुत व्यापक अनुभव उन्हे नही था। भ्रमण के नाम पर दो चार यात्राएँ ही उन्होने की थी। वे एकान्त साधक थे। यह स्वीकार करना होगा कि उनका व्यक्तित्व द्वन्द्व सीमित है। बाह्य, यथार्थ जीवन का पूर्ण अकन उसमे नही हो सका। प्रगतिशील विचारको को उनसे भारी शिकायत हो सकती है। जीवन के जो सामाजिक, राजनैतिक सघर्ष होते है उनका अभाव प्रसाद मे है। उनकी दृष्टि वस्तुपरक नही थी, यह भी इसका एक कारण है। यशपाल का "दिव्या" उपन्यास बाह्य-आन्तरिक, वस्तुगत-भावगत द्वन्द्व का एक सफल उदाहरण कहा जा सकता है। सामाजिक सघर्ष का अधिक अन्दाज न होने के कारण ही "कामायनी" मे सारस्वत प्रदेश का सघर्ष किंचित हल्की रेखाओ से हुआ है। उसमे कवि की अनुभूति का पूर्ण योग नही है। पर इन कतिपय सीमाओ को स्वीकार करते हुये भी यह आरोप नही लगाया जा सकता कि प्रसाद में व्यक्तित्व का जो द्वन्द्व उभरकर आया है, वह केवल मनोविश्लेषण की कुँठाओ पर आधारित है, अथवा उसमे अहप्रधान आत्मरति की भावना है। वे अन्तर्मुखी (इट्रोवर्ट) लेखक नही है। प्रसाद के साहित्य मे व्यक्तित्व का द्वन्द्व सपूर्ण जीवन की पीठिका पर आश्रित है, और इसे उन्होने एक कुशल शिल्पी की भाँति अभिव्यक्ति दी है। इसे ध्यान मे रखकर ही उनके साथ उचित न्याय किया जा सकता है।

नियतिवाद और 'प्रसाद'

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

(१)

"नियतिवाद" भारतीय चिन्ताधारा की एकान्त विशेषता नही है। प्रायः सभी प्रमुख देशो मे इसका कोई न कोई रूप उपलब्ध है। चीन के कुछ धार्मिक लोग 'नियति' को सार्वदेशिक नियम के रूप मे निर्वैयक्तिक मानते हैं। इनके अनुसार मनुष्य उसकी लीला का एक साधन मात्र है। फिर भी वह नियति स्वयभू नही है, अपितु किसी अन्य अलौकिक शक्ति की उपज है। ग्रीक लोग 'नियति' की दैवी-शक्ति से भयभीत रहते आये है जिसका प्रभाव उनके नाटको मे देखा जा सकता है। ईसाई धर्म मे 'नियति' को ईश्वरेच्छा के अधीन माना गया है। यहूदी लोग मनुष्य के पुरुषार्थ की स्वाधीनता को अमान्य ठहराते थे। वे सभी कर्मो को पूर्व निर्दिष्ट मानते थे, किन्तु आगे चलकर परमेश्वर की प्रभु-सत्ता को वे अधिक महत्व देने लगे। इसलाम धर्म मे आठवी-शताब्दी के पूर्व 'नियति' को स्थान प्राप्त न था, किन्तु दमिश्क मे प्रचलित विचारधाराओ के सम्पर्क मे आकर सूफियो ने इसे आत्मसात कर लिया।

भारतीय वाङ्मय मे 'नियति' शब्द का विशिष्ट प्रयोग श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] से पूर्व का नही मिलता। फिर भी "नियतिवाद" का महत्व वास्तव मे, मनु के समय से बल पकडता हुआ लक्षित होता है। "महाभारत" मे एक स्थान पर कहा गया है कि "सारा विश्व अपने सृष्टिकर्त्ता के नियमानुसार चला करता है, किन्तु वह स्वय स्वतन्त्र न होकर नियति के नियन्त्रण द्वारा प्रभावित रहता है।"[2] फिर उसी मे अन्यत्र यह उल्लेख भी मिलता है कि "मनुष्य का दुख-सुख भगवदिच्छा से वा नियति के कारण अथवा अपने कर्मफल द्वारा हुआ करता है।"[3] इसी प्रकार अनुशासन पर्व मे यह भी पाया जाता है कि "अच्छी से अच्छी भूमि ऊसर रह जायेगी, यदि उसमे बीज न डाला जाय और अच्छा से अच्छा बीज भी ऊसर मिट्टी मे उग न सकेगा। इसी प्रकार मनुष्य के पुरुषार्थ बिना दैव की भी सिद्धि नही होती।"[4] कुछ आगे चलकर यह भी कहा गया पाया जाता है कि "अग्नि की एक छोटी चिनगारी भी हवा का बल पाकर धधक उठती है। यही दशा सचित कर्म की व्यक्तिगत पुरुषार्थ द्वारा होती है।"[5]

१—काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।

२—महाभारत, २।५७।४ ३—महाभारत, ३।१८३।८६

४—महाभारत, ६।६ ५—महाभारत ६।४८

"योगवाशिष्ठ मे भी एक प्रसङ्ग मे इस प्रकार आता है, "दैव एव पुरुषकार दोनो भेडो की भाति परस्पर एक दूसरे से लडा करते हैं जो जिस अवसर पर बलवान पडता है वह दूसरे को पछाड़ देता है।"[१] फिर भी उसी ग्रन्थ मे —

पौरुष सर्वकार्याणा कर्त्तृ राघव, नेतरत ।
फल भोक्तृ च सर्वत्र न दैव तत्र कारणम् ॥[२]

अर्थात् "हे राम, वस्तुतः पौरुष ही सर्वत्र कार्य का कर्त्ता एव भोक्ता है। दैव को हम किसी प्रकार उसका कारण नही ठहरा सकते" द्वारा पुरुषकार को विशेष महत्व दिया गया है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि "जिस प्रकार किसी एक पहिये से रथ नही चलता, उसी प्रकार बिना पुरुषकार के दैव की सिद्धी नही होती।"[३] फिर अन्यत्र उसी मे पाया जाता है कि "यदि मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह अपनी सफलता पर हावी रहता है। दैव सचित कर्मो के प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नही है।"[४] "रामायण" मे भी कहा गया मिलता है कि "किसी भी व्यक्ति का कार्य अशतः दैव द्वारा, अशत हठ द्वारा एव अशतः उसके कर्म द्वारा नियत्रित तथा परिचालित होता है।[५] श्रीमद्भगवद्गीता मे एक प्रसग मे बतलाया गया है कि "आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नही है और उलटा फलरूप दोष भी नही होता है। इसलिए कर्मयोग रूप धर्म का थोडा भी साधन, जन्म मृत्यु रूप महान भय से उद्धार कर देता है।"[६] इसी प्रकार अन्यत्र उसी ग्रन्थ मे यह भी सूचित किया गया है कि "योगभ्रष्ट पुरुष स्वर्गादिक लोको को प्राप्त होकर उनमे बहुत वर्षों तक वास करके शुद्ध आचरण वाले पुरुषो के घर जन्म लेता है।"[७] यह नही, "जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरो को छोड कर नये शरीरो को प्राप्त होता है।"[८] परन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद् मे यह स्पष्ट ही कहा गया मिलता है कि "वे एक ही परम देव परमेश्वर समस्त प्राणियो के हृदय-रूप गुहा मे छिपे हुए है, वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियो के अन्तर्यामी परमात्मा है। वे ही सबके कर्मो के अधिष्ठाता-उनको कर्मानुसार फल देने वाले और समस्त प्राणियो के निवास स्थान आश्रय है तथा वे ही सबके साक्षी शुभाशुभ कर्म को देखने वाले, परम चेतन स्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करने वाले, सर्वथा विशुद्ध अर्थात् निर्लेप और प्रकृति के गुणो से अतीत भी हैं।"[९]

१—योग वाशिष्ठ, मुमुक्षु प्रकरण ६।१० २—योग वाशिष्ठ मुमुक्षु प्रकरण ६।२
३—याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय १३।५१ ४—याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्य १।३४९
५—रामायण ३।३२।१२–२१ एव १८३–८६
६—गीता, २।४० ७—गीता, ६।४१ ८—गीता, २।२२
९—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।११

(२)

"अमर कोशकार" ने नियति का अर्थ, "दैव दिष्ट भागधेय भाग्य स्त्री नियतिर्विधिः" बतलाया है। आचार्य मम्मट ने भी "काव्य प्रकाश" के मगलाचरण मे सरस्वती को "नियति कृतरहित" कहा है जो कदाचित्" "नवरस रुचिरा" के कारण है। वे प्रजापति की लोक-सृष्टि से उसे भिन्न मानते है, क्योकि उनकी दृष्टि मे लोक-सृष्टि "नियतिशक्तया नियतरूपा" है "नियति कृत नियम रहिता" नही। "काव्य प्रकाश" के प्राचीन व्याख्याताओ ने नियति को "अदृष्ट" अथवा "असाधारण धर्म" के अर्थ मे लिया है। परन्तु कश्मीरी शैव दर्शन के ३६ तत्वो शिव से लेकर धरा[१] तक— मे से नियति एक तत्व है। प्रकृति और पुरुष के कार्य-कारण भाव की दृष्टि से "नियति" को माया का कार्य बतलाया गया है, किन्तु अभिनवगुप्त "नियति" को माया-प्रसूत कला का कार्य मानते है।[२] कश्मीरी शैवमत के अनुसार—

नियते शिव एवैक स्वतत्र कर्तृतामियात्।
कुम्भकारस्य या संवित् चक्रदण्डादि योजने॥[३]

अर्थात् शिव ने सारे सृष्टि-कार्य आदि को 'नियति' से स्वतत्र रहकर ही किया और वह जेसे कुभार के चक्र-दण्डादि की योजना मे केवल एक साधन मात्र ही रही। इनके अनुसार "साध्य फल की उपलब्धि मे "नियति" का कोई महत्व नही है।"[४] यही नही, 'नियति' विश्व के विशिष्ट कार्यकलापो की योजना सभाला करती है,[५] जिससे उसका महत्व तो मालूम होता है, किन्तु वही सब कुछ नही है। तत्रालोक मे ही अन्यत्र 'नियति' को माया, कला, राग, विद्या और काल की भाति "कचुक षट्क" माना गया है।[६] वास्तव मे "नियति" के रहस्य का उद्घाटन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि—

१—षट्त्रिंशत्तत्त्वानि च　१. शिव　२ शक्ति　३. सदाशिव　४. ईश्वर　५. शुद्ध विद्या　६ माया　७. कला　८. विद्या　९. राग　१०. काल　११ नियति　१२. पुरुष　१३. प्रकृति　१४. बुद्धि　१५. अहकार　१६. मन　१७ श्रोत्र　१८ त्वक्　१९. चक्षुः　२०. जिह्वा　२१. घ्राण　२२. वाक्　२३. पाणि　२४ पाद　२५ पायु　२६ उपस्थ　२७ शब्द　२८. स्पर्श　२९. रूप　३०. रस　३१. गन्ध　३२. आकाश　३३. वायु　३४ वह्नि　३५. सलिल　३६. भूमय' इत्येतानि काश्मीर सस्कृत ग्रन्थावलि· 'पराप्रावेशिका' ग्रन्थांक १५, पृष्ठ ६।

२—तंत्रालोक, ९।२०३　　३—तत्रालोक की टीका मे उद्धृत

४—तत्रालोक, १३।१४८　　५—तत्रालोक, ९।१६०　　६—तत्रालोक, ९।२०४

यास्य स्वतंत्रताख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियममन्त्यभून्नियति ।।[1]

अर्थात् चित्स्वरूप आत्मतत्व की स्वतत्रशक्ति ही सकुचित होकर "नियति" को आभासित करती है। इसी कारण उसका कर्तृत्व कार्य-कारण भाव के द्वारा नियत्रित हो जाता है।

'नियतिवाद" को प्रमुख स्थान देने वाला आजीवक सम्प्रदाय समझा जाता है जिसके प्रवर्तक मक्खलि गोशाल माने जाते है। इस सम्प्रदाय का कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है जिस कारण स्फुट सदर्भो से ही सतोष करना पडता है। "सूत्र कृताग" "प्रश्न व्याकरण" और 'उवासग दसाओ" मे समान रूप से उद्धृत एक श्लोक से हमे 'नियतिवाद' का सामान्य परिचय मिल जाता है—

प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थ सोऽवश्य भवतिनृणा शुभोऽशुभोवा ।
भूताना महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्य भवति न भाविनोऽस्तिनाश ।।

अर्थात् मनुष्य के लिए जो कुछ भी शुभ वा अशुभ, नियति के वल पर होने वाला है वह होकर ही रहेगा, प्राणी चाहे कितना भी बडा प्रयत्न कर ले जो कुछ नही होने वाला होगा नही होगा। इसी प्रकार जो होने वाला होगा, उसका नाश भी नही हो सकेगा। "उपासग दसाओ" की टीका मे अभयदेव ने यह श्लोक भी उद्धृत किया है।

नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतल गतमपि नश्यति, यस्यतु भवितव्यता नास्ति ।.

अर्थात् जो कुछ न होने वाला होगा, नही होगा और जो होने वाला होगा वह बिन किसी प्रयत्न के भी होगा किन्तु जिस व्यक्ति के लिए उसकी भवितव्यता नही, उसकी हथेली मे आकर भी वह नष्ट हो जायेगा।

बुद्धघोष ने "सामञ्ञ सुत्त" की सुमगला बिलासिनी टीका मे उक्त 'नियतिवाद' का जो परिचय दिया है वह इस प्रकार है "जीवो के पाप कर्मो का कोई कारण नही, न उनका कोई आधार ही हो सकता है। इसी प्रकार न किसी जीव के पुण्यो का ही कोई कारण वा उनका आधार हो सकता है। कोई भी अपने से वा दूसरो द्वारा किया गया ऐसा कार्य नही जिसका प्रभाव उसके भावी जीवन पर पड सकता है। कोई मानवीय कार्य शक्ति, साहस, सहनशीलता वा मानवीय बल नही जो उसके इस जीवन की 'नियति' को प्रभावित कर सके। सभी प्राणी, सभी जीवधारी, सभी जन्म धारण करने वाले, सभी श्वास—प्रश्वास वाले बिना किसी शक्ति के है। उनमे बल नही, न कोई गुण ही रहा करता है। उनका विकास केवल नियति, सयोग एव स्वभाव द्वारा परिचालित होता है। वे तदनुसार छह प्रकार के वर्गो मे रह कर दुख-सुख का

१—षट्त्रिंशत्व सन्दोह, श्लोक १२

अनुभव किया करते है।" मक्खलि गोशाल के अनुसार "जिस प्रकार कोई सूत से भरी गोली फेंकने पर बराबर उभरती चली जाती है और वह उसकी पूरी लम्बाई तक एक ही प्रकार बढती जाती है, उसी प्रकार चाहे मूर्ख हो, चाहे पडित ही क्यो न हो, सभी को ठीक एक ही नियम का अनुसरण कर अपने दुख का अन्त करना है।" इस उक्ति द्वारा 'नियति' को चिरस्थायी सिद्ध किया गया है। काल की वाध्यता भी अस्वीकार कर दी गई है। जिस प्रकार सूर्य का उदय हो जाने पर भी तारे बराबर बने रहते है, उसी प्रकार मनुष्य का मोक्ष हो जाने पर भी उसके सासारिक जन्मादि पूर्ववत् स्थित रहते है। कोई वस्तु न उत्पन्न होती है, न वह नितात नष्ट ही हो पाती है और कालतत्व भी केवल भ्रामक मात्र है।[1] इसके अनुसार मनुष्य को कर्म-स्वातत्र्य नही है।

'नियति" शब्द के पर्याप्त रूप कई अन्य शब्दो के भी प्रयोग किये जाते है, किन्तु उनके सदर्भगत व्यवहार एव अर्थबोध मे अन्तर आ जाता है। प्रारब्ध, भवितव्यता, होनहार आदि जैसे शब्द एक ओर जहा किसी कर्म वा कर्मफल की ओर सकेत करते है वहा दूसरी ओर काल, विधाता, सयोग आदि जैसे शब्द किसी कर्त्ता का बोध कराते है। फिर भी 'नियति" की कोई सर्व-सम्मत परिभाषा देना सभव नही हो पाता। यद्यपि "षट्त्रिशतत्व सन्दोह" की यह परिभाषा कि "चित्स्वरूप आत्मतत्व की स्वतत्र शक्ति ही सकुचित होकर "नियति" को आभासित करती है। इसी कारण उसका कर्तृत्व कार्य-कारण भाव के द्वारा नियत्रित हो जाता है," आज के जिज्ञासु के लिए अपेक्षाकृत अधिक बोधगम्य है।

(३)

प्रसाद की रचनाओ मे "नियतिवाद" का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। उन्होने गद्य और पद्य दोनो मे ही "नियतिवाद" का प्रसगानुसार उल्लेख किया है। विविध सदर्भों के बीच "नियतिवाद" का जो रूप प्रकट होता है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे नियति को प्रकृति की नियामिका शक्ति के रूप मे स्वीकार करते है, प्रकृति के नियम के रूप मे नही। फिर भी वे 'सुकर्म' अथवा पुरुषार्थ की उपयोगिता मे विश्वास रखते है। पाप और प्रायश्चित दोनो के अस्तित्व एव सार्थकता मे आस्था प्रकट करते है। इस प्रकार वे प्राकृतिक नियम की अक्षुण्णता, नियति की प्रेरणा और मनुष्य के कर्म-फल तीनो को ही जीवन-निर्माण का स्रोत मानते है। "जनमेजय का नाग यज्ञ" पढने से पता चलता है कि वे मनुष्य को "प्रकृति का अनुचर और नियति का दास या उसकी क्रीडा का उपकरण" मानते हुए भी "भाग्य फलति सर्वदा न च विद्या न च पौरुष" के कायल नही है। वे नियति के चक्कर से बचने का उपाय

१—भारतीय साहित्य आगरा, १६५८

"सुकर्म" मे पाते है। यद्यपि वे यह जानते है कि "अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ कराती है।" इतने पर भी "नियमो मे अपवाद" होता रहता है। फिर भी, "यह नही कहा जा सकता कि वह अपवाद नियम पर है वा नियामक पर।" जो हो, अदृष्ट अकर्मण्यता का कारण नही हो सकता, अपितु वह "सहारा" बन जाता है। इन जैसी प्रेरणाओ से ही प्रेरित होकर "अजातशत्रु" मे 'जीवक" कहता है कि "नियति की डोरी पकड कर मै कर्म-कूप मे कूद सकता हूँ। क्योकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कादर क्यो बनूँ, कर्म से क्यो विरक्त होऊँ।" यहाँ पर यह लक्ष्य करने की बात है कि ग्रीक लेखको की भाति प्रसाद 'नियति' की क्रूरता का आतक नही फैलाते, अपितु उसकी रहस्यमयता द्वारा शान्ति प्रदान करते है।

यह "नियतिवाद" एकागी अथवा एकदेशीय नही है, अपितु सर्वागीण तथा सार्वदेशिक है। "जनमेजय का नाग यज्ञ" मे वेदव्यास की यह उक्ति कि "दम्भ और अहकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीडा-कन्दुक है। अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यो की कर्मशक्ति को अनुचरी बना कर अपना कार्य करती है और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट् का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नही है। इसमे व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नही रहता, "सर्व भूत हित" की कामना पर ही लक्ष्य होता है। "वे" पाप का फल "दु ख" नही, अपितु "दूसरा पाप" मानते है। महा भारत जैसे युद्ध को वे "व्यक्तिगत दुष्कर्म" का परिणाम नही समझते थे। अपितु सचित कुकर्म का विस्फोट मानते थे। एक स्थल पर वेदव्यास की उक्ति इस प्रकार है, "जिन कारणो से भारत युद्ध हुआ था, वे कारण या पाप बहुत दिनो से सचित हो रहे थे। वह व्यक्तिगत दुष्कर्म नही था। जैसे स्वच्छ प्रवाह मे कूडे का थोडामा अश रुक कर बहुत सा कूडा एकत्र कर लेता है, वैसे ही कभी-कभी कुत्सित वासना भी अनादि प्रवाह मे अपना बल सकलित कर लेती है। फिर जब समूह का ध्वस होता है, तब प्रवाह मे उसकी एक लडी बध जाती है और फिर आगे चलकर वह कही न कही ऐसा ही प्रपच रचा करती है और दूसरा इसका अवसान होता है प्रशान्त महासागर ब्रह्मनिधि मे।" इससे "नियतिवाद" की व्यापकता का परिचय मिलता है।

"नियति" सम्बन्धी प्रसग हमे अन्यत्र भी उपलब्ध है। ससार की क्षण-भगुरता को दृष्टिगत रख कर "चन्द्रगुप्त" मे कहा गया है कि "फूल हसते हुए आते है, फिर मकरद गिराकर मुरझा जाते है, आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते है। एक स्निग्ध समीर का झोका आता है, निश्वास फेक कर चला जाता है। क्या पृथ्वी-तल रोने के लिए ही है," मे किसी 'नियति' की ओर भी सकेत है। इसी प्रकार "अजातशत्रु" का यह उल्लेख भी महत्वपूर्ण है कि "आह जीवन की क्षणभगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नीव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर

उज्वल अक्षरो मे लिखे, अदृश्य लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते है, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-सग्राम मे प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अधकार की गुफा मे लेजाकर उसके शाँतिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है।" "अजातशत्रु" मे ही यह कथन कितना मार्मिक है कि 'वाह री नियति ! कैसे-कैसे दृश्य देखने मे आये—कभी बैलों का चारा देते-देते हाथ नही थकते थे। कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठा कर पीने मे सकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलनेमे रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ।" यही नही, "स्कन्दगुप्त" मे भी "समय पुरुष और स्त्री की गेद लेकर दोनो हाथो से खेलता है। प्रसाद "ध्रुव स्वामिनी" मे 'नियति' के आदेश को कठोर मानते दिखाई देते है। एक स्थल पर यह उक्ति कि "जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही" इसका प्रमाण है।

प्रसाद की प्रारम्भिक कविताओ मे भी "नियति" के सकेत मिलते है, किन्तु उसकी स्पष्ट चर्चा "आँसू" मे ही की गई है।

नचती है नियति नटी सी, कन्दुक क्रीडा सी करती।
इस व्यथित विश्व आगन मे, अपना अतृप्त मन भरती॥

यहां पर "नियति" का निमर्म रूप चित्रित हुआ है जो नाटको मे बहु वर्णित रूप से मेल नही खाता। इस वेमेल का कारण कदाचित् यह है कि प्रसाद अपनी कृति "आसू" मे भावक अधिक हैं, भावुक बहुत कम। इसमे सन्देह नही कि उनके जीवन की घटनाए भी 'नियति' के मर्म को हृदयगम करने मे सहायक सिद्ध हुई है।

परन्तु "कामायनी" मे प्रसाद एक चिन्तनशील विचारक के रूप मे आते है। यहा पर ये "नियति" के रूप को कई कोणो से निहारते है। ऐसा लगता है कि वे मनुष्य की किसी ऐसी स्थिति का भी अनुमान करते है जिसमे वह शिवत्व प्राप्त कर "नियति" के खेलो से पृथक भी हो जा सकता है।[1] अपने विकास क्रम मे प्रसाद द्वारा 'नियति' की यह खोज सर्वथा स्तुत्य तथा माँगलिक है, यद्यपि "नियतिवाद" के आलोचको की भी कभी कमी नही रही है और न आज ही है।

१—कामायनी, रहस्य सर्ग, २६०

हिन्दी 'मुक्त छंद' परम्परा में 'प्रसाद' का योग

भोलाशकर व्यास

'परिमल' की भूमिका में निराला ने मुक्त छन्दो' की मूल प्रेरणा का सकेत करते हुए कहा था कि 'मनुष्यो की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यो की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दो के शासन से अलग हो जाना।"[1] मुक्त छन्द या 'वेर लिब्र' (Vers libre) की ईजाद की मूल मनोवृत्ति मानव की यही मुक्ति-लिप्सा है। छायावाद का सारा आन्दोलन ही, यदि एक वाक्य मे कहा जाय तो, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की पुकार है। यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चेतना पश्चिम मे सर्वप्रथम फ्रेच राजनीति-दार्शनिक रूसो के उस महावाक्य के रूप मे फूट पडी थी जो प्रत्येक व्यक्तिवादी बुद्धिवादी का मूलमत्र हो गया है — 'Man is born free, but everywhere he is in chains." युग युगो से आबद्ध इन बधनो को झकझोर डालने की तीव्र अकाँक्षा ने यूरोप मे 'रोमेन्टिक क्रान्ति' को जन्म दिया, जो महज़ कविता के क्षेत्र की चीज न रहकर सामाजिक क्षेत्र, राजनीति तथा दर्शन मे भी अपना आसन जमाने लगी। हिन्दी साहित्य मे यही आकाक्षा कविता के क्षेत्र मे 'छायावाद' का रूप लेकर आई, जो न केवल काव्य-कला के रूपगत या शैलीगत परिष्कार का आन्दोलन था, बल्कि समस्त पुरानी मान्यताओ को झकझोर कर एक अभिनव परम्परा की प्रतिष्ठिापना कर रहा था। भले ही छायावाद पर विदेशी काव्य-प्रवृतियो और कला-समीक्षाओ का प्रभाव पडा हो, पर इसकी उपज इसी भारत-भूमि के वातावरण की देन थी, बीसवी सदी के प्रथम महायुद्धोत्तर खाद, पानी और हवा ने ही इसे अकुरित किया, सरसाया और विशाल वृक्ष के रूप मे समृद्ध किया। 'छायावाद' कभी भी हिन्दी साहित्य मे परोपजीवी (Parasite) अमरबेल के रूप मे नही फैला था, यह दूसरी बात है कि द्वितीय-महायुद्ध-कालीन जलवायु इसके अनुकूल न रही और इसकी कोमल, प्रतनु टहनिया छुईमुई की तरह झुलस कर सदा के लिए जीर्ण-शीर्ण हो गई। फिर भी वह अपने वानस्पत्य जीवन से हिन्दी कविता की जमीन को उर्वर बना गया और उसने इस जमीन मे जिन नये रासायनिक तत्वो को सक्रांत कर दिया, उनमे एक 'मुक्त छद' की परम्परा भी है।

छायावादी कविता ने सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक समस्त विचारधाराओ की भाति 'परम्परावादी' हिन्दी कविता की कला-सबन्धी मान्यताओ की जाच पडताल कर

---

१ —परिमल (भूमिका) पृष्ठ १४ ।

उन्हे 'गलित' करार दे दिया। द्विवेदीयुगीन कवि ने सस्कृत के वर्ण वृतो को फिर से चुना था, पर दरअसल खडी बोली का खडापन उनमे और प्रबुद्ध हो गया था. कुछ लोगो ने कवित्त सवैयो को भी खडी बोली मे चलाने की कोशिश की. पर वे ब्रज के प्रयोगो की छोक डालते थे और भाषा की एकरसता का निर्वाह न कर पाते थे। इसके अलावा प्रत्येक चरण मे नियत अक्षरो तथा वर्णिक गणो की बन्दिश भी कवि की भाव-चेतना को एक खास बधे साचे मे ढलकर बाहर आने देती थी। कवि की उन्मुक्त भावना सहज रूप मे अभिव्यक्त न हो पाती थी। सभवत माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रभाव से 'पक्ति-धावी' (run-on line) वृत्तो की रचना हिन्दी मे भी चल पडी थी। छायावाद के पूर्व ही श्रीधरपाठक तथा गुप्तजी इसका उपयोग कर चुके थे, और श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ग्रन्थि' मे इसका सफल प्रयोग किया था। छायावाद ने हिन्दी कविता के लिए अतुकात सस्कृत वर्णिक वृत्तो को अनुपयुक्त पा. फिर से मात्रिक वृत्तो की हिन्दी की निजी परम्परा को अपनाया और रूपमाला, वीर, रोला जैसे पुराने छदो को भी नई लय, नई गूज, नया स्वर दिया। अपने प्रगीतो मे पन्त, निराला. प्रसाद तथा महादेवी ने नये नये छद-सबधी प्रयोग किये और कभी कभी वृत्तो मे भावानुरूप कुछ कमी-वेशी भी की। उदाहरणार्थ, प्रसाद ने 'अशोक की चिन्ता' नामक कविता मे १४ मात्रा के चतुष्पाल बध के साथ अन्त मे १६ मात्रा की टेक देकर उसे नई गति दी, जो लय के द्वारा कविता की भावप्रेषणीयता मे एक सशक्त यन्त्र बन गई। छन्द की गति स्वय अशोक के चिन्ताकुल मानस की गति को प्रतिफलित करती जान पडती है—

यह महादम्भ का दानव—
पीकर अनंग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव—
तज विजय पराजय का कुढंग।

(अशोक की चिन्ता)

छायावादी कवियो ने 'रोला' को भी नया पालिश दिया और पन्त ने 'परिवर्तन' मे तथा निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' मे इसका सफल निर्वाह किया। पुराने कवियो की ११, १३ वाली यति की नियतता मे हेर फेर कर पत तथा निराला ने यति का प्रयोग भावानुरूप किया है और 'नई कविता' के कुछ पथिको ने भी इस तरह के प्रयोग किये है, जिनमे श्री त्रिलोचन शास्त्री ने रोला को नई चेतता दी है।

हिन्दी मे 'मुक्त छन्द' के सर्वप्रथम प्रयोक्ता ही नही, सफल प्रयोक्ता भी निराला ही है। निराला का व्यक्तित्व वस्तुत: छायावादी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-भावना का मूर्तिमान् रूप है, वे अपने आपमे मूर्त छायावाद हैं। प्रसिद्ध आलोचक इरविग बेबिट ने कहा था कि पाश्चात्य 'परम्परावाद' तथा स्वच्छन्दतावाद' की भेदक रेखा

खीचते हुए यह कहा जा सकता है कि 'रोमेटिसिज्म वह सब कुछ है जो वाल्तेयर नही है।[१]' इस उक्ति को थोडा हेर फेर कर आधुनिक हिन्दी कविता की समस्त प्रवृत्तियो को हम दो वाक्यो मे कह सकते है कि 'छायावाद वह सब कुछ है, जो गुप्त जी नही है,।' अथवा 'छायावाद वह सब कुछ है, जो निराला है।' निराला का समस्त व्यक्तित्व जड पुरातन-प्रियता को तोड फोड कर नई युग-चेतनानुरूप परम्परा की नीव गोदने से सबद्ध है। काव्य-कला के क्षेत्र मे भी वे एक नई रूप-सज्जा का सूत्रपात करते है। खडी बोली काव्य मे जहा पत ने कोमल पद-शय्या का प्रयोग कर प्रगीतात्मक (Lyrical) गति तथा लय का सचार किया, वहा निराला ने समासात 'क्लैसिकल' पद-योजना के द्वारा उदात्त धीर एव गम्भीर सगीत की सृष्टि की। पत के छदो की गति वस्तुत मन्द मथर गति से बहते झरनो की-सी है किन्तु निराला ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'धारा' के समान ही अपने छदो मे निर्बाध गति भर दी है जिसके प्रखर वेग मे पुरानी छन्द परम्पराओ का कुजर तक तिनके की तरह बह जाता है —

'सुना, रोकने उसे कभी कुजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?
फल क्या पाया था ?
तिनका–जैसा मारा मारा
फिरा तरंगो मे बेचारा–
गर्व गवाया–हारा।' (निराला धारा)

इसके पूर्व कि हिन्दी कविता मे 'मुक्त छद' की प्रकृति तथा प्रसार की मीमाँसा शुरू की जाय, हमे यह समझ लेना होगा कि छन्दो को तीन कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) नियमित या शास्त्रीय तुकान्त छन्द (Vers reguliere), जैसे हिन्दी के मात्रिक छन्द तथा सवैया एव कवित्त जैसे वर्णिक छद, (२) अतुकात छद (Blank verse) जैसे सस्कृत वर्णिकवृत्त या प्राकृत के गाथा वर्ग के छद (३) मुक्त छंद (Vers libre or free verse)। आँग्ल साहित्य मे अतुकाँत छन्दो का प्रचलन इतालवी की कविता के प्रभाव से १६ वी शति मे हुआ था और बाद मे भी प्राय तुकान्त छद ही 'क्लैसिकल' तथा 'रोमेटिक' दोनो वर्गो के कवियो के द्वारा विशेषत व्यवहृत होते रहे।[२] अतुकात छन्द वस्तुत किसी शास्त्रीय छंद का ही वह रूप होता है, जिसमे प्रत्येक पक्ति मे समान अक्षर सघटना, उदात्त तथा अनुदात्त अक्षरो की समान गणना पाई जाती है, किन्तु प्रथम-द्वितीय अथवा

१—'Romanticism is all that is not Voltaire'
—Irving Babbitt. Rousseau and Romanticism page 39

२—Shipley Dictionary of World Literary Terms p. 137

प्रथम-तृतीय, द्वितीय-चतुर्थ ग्रादि पदो मे क्रमानुविद्ध तुक नही पाई जाती, जैसे पत की 'ग्रन्थि' मे 'मुक्त छद' ने 'ब्लैक वर्स'। की भाति न केवल तुक का ही निषेध किया, बल्कि उस छन्दोवधन को भी तोड डाला, जिसमे निश्चित मात्रिक या वर्णिक गणना प्रत्येक पद मे नियत थी। मुक्त छद' की ईजाद का श्रेय', यूरोपीय कविता मे फ्रास को है, जहाँ ह्यूगो ने सर्वप्रथम इस प्रकार की पद्य-रचना उपस्थित की जो वस्तुत शास्त्रीय छन्द तथा तुक दोनो से रहित थी[1]। किन्तु ग्राग्ल कविता के क्षेत्र मे इस प्रकार की छन्द परम्परा को सुदृढ बनाने मे अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमैन का प्रमुख हाथ है। अपने काव्यसग्रह Leaves of Grass के लदन सस्करण की भूमिका मे उन्होने लिखा था—At first sight, the form of these verses, not only without rhyme, but wholly regardless of the customery verbal melody and regularity, so much laboured after by modern poets, will strike the reader with incredulous amazement "
इसके बाद तो 'मुक्त छद' अग्रेजी काव्य मे धडल्ले से चल पडा। अगर कोई चीज अच्छी है तो उसे कही से भी लेने मे न कोई सकोच ही है और न इसे मजूर करने मे ही कि उसकी प्रेरणा हमे बाहर से मिली है। पर द्विवेदी-युगीन-कवि-किकरो ने जब निराला को बिना तुक के, बिना किसी मात्रा या वर्णिक गण के बधन के धारासार भावो का सहज उद्गार काव्य मे उडेलते देखा, तो वे इस नई परम्परा को न पचा पाये, यह उन्हे 'कडवी कुनैन' मालूम पडी। फिर तो क्या था, निराला की रबड-छन्द या केचुआ-छद लिखने के लिये खुब कर खबर ली गई। किन्तु निराला कब चूकने वाले थे। उन्होने द्विवेदी-युगीन पडित समीक्षको के सम्मुख दलील देकर सिद्ध किया कि परमात्मा के लिखे माने जाने वाले वेदो तक मे 'काव्य की मुक्ति' के तथा अनियमित छदो के नमूने है, और निराला ने व्यग्य-विनोद भरी चुटकी लेते कहा—"अजी, परमात्मा स्वय अगर यह रबड-छन्द और केचुआ-छन्द लिख सकते है, तो मैंने कौन-सा कुसूर कर डाला ?"[2] 'परिमल' काव्य-सँग्रह के तृतीय खड मे निरालाजी ने अपनी 'मुक्त-छद'। मे निबद्ध कई कवितायें सकलित की, तथा 'अनामिका' की भी कई कवितायें इसी छन्द मे रचित है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, निराला के ये छद शुद्ध भारतीय परिवेष मे अलकृत है।

पन्त तथा प्रसाद ने निराला के ही प्रभाव से 'मुक्त-छद' की ओर कदम उठाया, लेकिन पन्त का प्रगीतात्मक व्यक्तित्व वस्तुतः इसका सफल निर्वाह करने मे अशक्त था, और पन्त के 'मुक्त छन्द' किसी खास कलात्मक उदात्तता का परिचय नही देते। प्रसाद ने केवल तीन कवितायें ही 'मुक्त छंद' मे लिखी है—'शेरसिह का

१—Walt Whitman Poetry and Prose (ed Abe Capek) p 331.
२—इस मजेदार विषय के लिए, दे० परिमल (भूमिका) पृ० १५-१६।

आत्मसमर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' तथा 'प्रलय की छाया'। ये तीनो रचनायें सन् १९३० के बाद लिखी गई है। 'प्रलय की छाया' सर्वप्रथम 'हस' मे सन् १९३१ मे प्रकाशित हुई थी। इन तीनो कविताओं मे निराला की 'मुक्त छन्द' प्रक्रिया का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रसाद की ये तीनो रचनायें कम से कम इतना तो सकेत करती ही है कि प्रसाद भी 'मुक्त-छद, की गति, लय, गूँज और संगीत को पूरी तरह पहचानते थे और ये तीन कविताये ही उन्हें 'मुक्त छद' के सफल प्रयोक्ता सिद्ध करती है। सभवतः प्रसाद की अत्यन्त 'रोमानी' प्रकृति, शब्दो की सूक्ष्म आत्मा की पर्यवेक्षण शक्ति तथा साथ ही गत्वर नाटकीय सवाद-योजना की कुशलता ने भी इन्हे सफल बनाने मे योग दिया है।

हिन्दी कविता के साधारण पाठक मे ही नही कभी कभी कुछ पडितो मे भी यह गलतफहमी देखी जाती है कि 'मुक्त छन्द' दर असल कुछ नही 'गद्य' को ही टेढी-मेढी, छोटी-बडी सतरो मे सजाकर कविता की एक अजीबो-गरीब शक्ल पेश करना भर है। पर असलियत यह नही है। कविता के छपे रूप को देखकर ही जो लोग आलोचना करने बैठते है, वे शायद इस बात को भूल जाते है कि कविता का सबन्ध चक्षुरिन्द्रिय से न होकर श्रवणेन्द्रिय मे है। कविता वस्तुतः लयात्मक गति से घनिष्टतया सबद्ध है तथा 'लय' ही कविता का वह मूल तत्व है, जिसने 'छन्द' की सृष्टि की है। मात्रिक या वर्णिक किसी भी तरह की छान्दस प्रक्रिया का 'न्यूक्लियस', उसकी मूल इकाई, सही 'लय' या 'रिदमिक पैटर्न' है। मुक्त छन्द मुक्त होने पर भी 'लय' के बधन से मुक्त नही है, इसे कभी न भूलना होगा। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि यहाँ छन्दोमुक्ति होते हुए भी छन्दोबद्धता अवश्य है। इसे दूसरे ढङ्ग से निरालाजी ने भी स्वीकार किया है—'मुक्तछन्द' तो वह है, जो छन्द की भूमि मे रह कर भी मुक्त है[१]।' 'छन्द की भूमि मे रहना' मुक्त छन्द के लिये भी लाजमी है, नही तो उसमे और गद्य मे कोई भेद न रहेगा। आग्ल कवि टी० एस० इलियट ने इसी बात पर जोर देते कहा था—
"No verse is free for the man who wants to do a good job[२]"

इसी सम्बन्ध में आगे चल कर इलियट ने बताया है कि 'मुक्त छन्द' (फ्री वर्स) केन ाम पर बहुत-सा भद्दा गद्य लिखा गया है। ठीक यहीं बात हिन्दी के कवियों के बारे मे कही जा सकती है। निराला, पत और प्रसाद के बाद प्रगतिवादी कवियो ने तथा 'नई कविता' के दूसरे राहगीरो ने भी 'मुक्त छन्द' का प्रचुर प्रयोग किया है, पर इसके कुशल प्रयोक्ता दो-चार ही दिखाई पडते हैं। गिरिजाकुमार माथुर ने इसके रोमानी परिवेष का सुन्दर निर्वाह किया है और इसकी गूंज शकुन्तला

१—परिमल (भूमिका) पृ० २१
2—The Music of Poetry (T.S Eliot Selected Prose) P. 65

माथुर के 'मुक्त छन्दों' मे भी सुनाई पड़ती है। 'दूसरा सप्तक' मे हरिनारायण व्यास के 'मुक्त छन्द' भी विशेष सङ्गीतात्मक बन पाये है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि 'मुक्त छन्द' यदि सफल है, तो वह सर्वथा निर्मुक्त कभी नही होगा, लयात्मक अराजकता (Rhythmic Anarchy) को कविता कभी भी बर्दाश्त न करेगी। प्रश्न हो सकता है आखिर 'मुक्त-छन्द' की तात्विक परिभाषा क्या है ? वशस्थ, द्रुतविलम्बित, मदाक्रान्ता या दोहा, चौपाई सोरठा, या कवित्त सवैया की तरह इसकी कोई निश्चित विधिमूलक परिभाषा निबद्ध ही नही कही जा सकती। हा, इतना कहा जा सकता है कि कवि की भाव-प्रक्रिया के आरोहावरोह के साथ सफल मुक्त छन्द की लय का आरोहावरोह भी बदलता रहता है। अत भावानुरूप लय का होना ही एकमात्र विधिमूलक लक्षण माना जा सकता है। इसलिए हमे यहाँ काव्य मे 'लय' के महत्व पर कुछ जानकारी कर लेनी होगी क्योकि 'मुक्त छन्द' की इकाई लयात्मक संस्थान (Rhythmic Pattern) है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से कविता, सगीत तथा नृत्य का विकास एक साथ एक ही परिस्थितियो मे हुआ था। 'लय' का घनिष्ठ सम्बन्ध 'नृत्य' से है तथा वही से यह सगीत तथा कविता को भी मिली है। आदिम जातियो की भाषाओ का अध्ययन इसे पुष्ट करता है कि उनके कई लोकगीत लयात्मकता, लाक्षणिकता, आनुप्रासिक प्रभाव, विचित्र गूँज तथा वीप्सामय शब्दो मे युक्त है[1]। कहा जाता है कि काव्य की भाषा गद्य की भाषा की अपेक्षा अधिक 'प्रिमिटिव' है। काव्य की इस प्रकृति के प्रमुख कारणो मे एक तत्व 'लय' भी है। वस्तुत 'लय' वह साधन है, जिसके द्वारा एक ओर कवि अपने भावात्मक काव्य-विषय के साथ तथा दूसरी ओर सामाजिक सम्बन्धो के साथ भावात्मक-सतुलन को सूक्ष्म एव मनोमोहक रूप मे अभिव्यक्त करता है, और इसके द्वारा 'भाव' समग्र रूप मे निष्पन्न होता है[2]। समाज शास्त्रीय काव्यालोचक 'लय' का सामाजिक महत्त्व भी मानता है, जबकि रोमैंटिक कवि तथा आलोचक इसे काव्य-प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अस्त्र घोषित करता है। कवि वाइ० बी० यीट्स ने इसका सकेत करते कहा है कि 'लय' का लक्ष्य कवि के चिन्तन क्षण को विस्तृत करना है– उस क्षण को जब हम एक साथ सुप्त और जागृत

1—George Thomson: Marxism and Poetry P 9

2—'As a result the nature of rhythm expressed in a subtle and sensitive way the precise balance between the instinctive or emotional content of the poem and the social relations through which emotion realises itself completely'

—Caudwell Illusion & Reality P 123.

दोनो होते है, तथा एकातता की अनुभूति से अवरुद्ध होते है— जबकि लय हमे परिवर्तनशीलता के द्वारा उस समाधिदशा मे जागृत रखती है, जहाँ मन इच्छा के दबाव से मुक्त होकर प्रतीको मे व्यक्त होता है"।

The purpose of rhythm is to prolong the moment of contemplation, the moment when we are both asleep and awake, by hushing us with an alluring sense of monotony, while it holds us waking by variety, to keep us in that state of trance, in which the mind, liberated from the pressure of the will, is unfolded in symbols"

काव्यगत लय का मन की भावात्मक गति से घनिष्टतया सम्बद्ध होने के कारण ही इसका विश्लेषण काव्य के अन्य तत्वो की अपेक्षा अधिक जटिल है। वस्तुत यह उस काव्य-चेतना का ही प्रतिरूप है, जिसकी यह उपज है। इसका वर्गीकरण तथा मापदण्ड स्थूल ही हो सकता है, क्योंकि लय कवि के भाव का निरन्तर चढाव, घुमाव, और उतार है, यह वह अनिवार्य गतिशील स्पन्दन है, जो एक परिमित काल-सीमा मे एकनिष्ठ सस्थान (पैटर्न) को व्यक्त रूप देता है[1]। यही कारण है कि काव्य की अन्य मौलिक विशेषताओ की भाति कविता की 'लय' को भी कुछ ऐसे ही सहृदय पाठक पकड पाते है, जिनकी श्रवणेद्रिय अधिक सूक्ष्मग्राही तथा स्वराकर्षी है।

\+ \+ \+ \+

प्रसाद ने 'मुक्त छन्द' मे केवल तीन ही प्रयोग किये है 'शेरसिह का आत्म-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया'। वस्तुत 'ड्रेमेटिक मौनो-लोग', सबोधन (Address) तथा इतिवृत्तात्मक लम्बी कविताओ और यहाँ तक कि नाटकीय सवादो तक के लिये 'मुक्त छ द' का प्रयोग सफल रूप मे किया जा सकता है। 'परिमल' की भूमिका मे निरालाजी ने इस छन्द के नाटकीय विनियोग का सकेत किया था[1]। निरालाजी ने वही सकेत किया था कि हिन्दी मे 'मुक्त छद' की रचना कवित्त-छद की बुनियाद पर की जा सकती है। उनके स्वय के 'मुक्त-छद' इसी की नीव पर बने है, जहा सारी कविता की लडियाँ कवित्त-छद की तरह है। प्रसाद की तीनो कविताओ की बुनियाद भी यही छन्द है। प्रसाद के बाद गिरिजाकुमार ने कवित्त के अलावा सवैये की बुनियाद पर भी 'मुक्त छन्द' की रचना की है, जो उनकी इस कविता मे है—

आज है केसर रग रगे बन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी

1—A rhythm can be classified and measurd only in the roughest way, for rhythm is the constant surging and novering and falling away of feeling, the stumbling urgent pulse which presents in any mesurable interval of time a unique pattern

—George Whally: Poetic Process P 203

केसर के बसनो मे छिपा तन
सोने की छाँह-सा
बोलती आँखो में
पहिले बसंत के रंग का फूल है ।

(गिरिजाकुमार माथुर)

निराला ने राष्ट्रीय भावना की लम्बी कविताओं के लिये इसी छन्द को चुना था । सम्भवत: 'जागो फिर एक बार' तथा 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी कविताओं ने ही प्रसाद को 'शेरसिंह का आत्मसमर्पण' लिखने की प्रेरणा दी है । इस कविता मे अंग्रेज-सेना के द्वारा पराजित सिक्ख सेनापति शेरसिंह का उद्गार है । कविता के विषय मे स्वयं राष्ट्रीय भावना को उद्बुद्ध करने की क्षमता है तथा छंद की गति पराजित शेरसिंह के क्रोध, कसमसाहट, विषाद, किन्तु गर्व और स्वाभिमान की भावनाओं के उतार-चढाव के साथ सामंजस्य स्थापित करती चलती है । कविता की पहली पंक्तियाँ ही विश्वासघाती लालसिंह के प्रति आक्रोश तथा सिंहो के नखदन्तो के समान तीक्ष्ण तलवार के वियोग से उत्पन्न विषाद का संकेत करती है—

'ले लो यह शस्त्र है,
गौरव ग्रहण करने का रहा कर मे—
अब तो न लेशमात्र ।
लालसिंह ! जीवित कलुष पंचनद का
देख, दिये देता है
सिंहों का समूह नख दन्त आज अपना ।'

तलवार के प्रति सम्बोधित पंक्तियो मे भावना के प्रसार के साथ साथ कविता की गति तथा पंक्तियों का भी विस्तार हो जाता है, साथ ही इस स्थान पर पद-योजना भी भावानुकूल बन जाती है—

'अरी रण रंगिनी !
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी ।
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर -
दुर्मद दुरन्त धर्म-दस्युओं की त्रासिनी—
निकल चली जा तू प्रतारणा के कर से ।'

\+ \+ \+ \+

आज के पराजित जो विजयी थे कल ही,
उनके समर वीर कर में तू नाचती
लप लप करती थी जीभ जैसे यम की ।

ज्यो ही शेरसिह के हृदय मे अपनी हार की भावना, ग्लानि का क्षरण भर अनुभव होता है, छन्द की गति मथर हो जाती है, किन्तु क्षरण भर मे ही स्वाभिमान का आवेश ग्लानि की भावना को रोक देता है, उसे विश्वास है 'पजाब वीरो से शून्य नही' उसे अवश्य विजय मिलेगी, और इस भावना के उदय के साथ ही साथ छन्द की गति भी बदल जाती है। नीचे की पक्तियो मे प्रथम दो पत्तियो के उतार के बाद चार पक्तियो का चढाव इसका सकेत कर सकता है।

'आज विजयी हो तुम
और है पराजित हम
तुम ही कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही
किन्तु यह विजय प्रशसा भरी मन की—
एक छलना है।
वीरभूमि पचनद वीरता से रिक्त नही।'

भाव का यह चढाव बडी दूर तक चलता है, किन्तु हार की भावना फिर कचोटती है, उसके साथ ही साथ छन्द की गति फिर आगे चल कर मथर हो जाती है—

'किन्तु आज उनकी अतीत वीरगाथा हुई—
जीत होती जिसकी
वही है आज हारा हुआ'

पर इसके साथ ही वह फिर पराजित सिक्खो के अतीत गौरव और शौर्य को याद कर उठता है और उक्त तीन पक्तियो के बाद ही फिर छन्द भाव के साथ उफन पडता है—

'ऊर्जस्वित रक्त और उमग भरा मन था
जिन युवकों के मणिबधो मे अबंध बल
इतना भरा था
जो उलटता शतध्नियो को।'

कविता के अगले भाग मे चिलियान वाला के मैदान मे खेत हुए सिक्खो की पत्नियो और माताओ का स्मरण करते ही करुणा का भाव जग उठता है तथा शेरसिह को अनुभव होता है जैसे पञ्चनद सूना हो गया है।

'रूप भरी आशा भरी यौवन अधीर भरी
पुतली प्रणयिनो का बाहुपाश खोल कर
दूध भरी दूध सी दुलार भरी माँ की गोद
सूनी कर सो गये।
हुआ है सूना पञ्चनद।

ही छन्द की गति स्वय रति भाव तथा वात्सल्य भाव के चढाव का सकेत करती है, किन्तु 'सूनी कर सो गये' पक्ति की मथरता उस सारी भावना को शोक मे परिवर्तित कर देती है ।

अग्रेज सेनापति को शस्त्र सौपते शेरसिंह की अतिम उक्ति गर्व, स्वाभिमान, राष्ट्र-प्रेम ओर अटल विश्वास का प्रमाण है । वह इसलिये तलवार नही सौप रहा है कि अपने प्राणो की भीख माग रहा है, बल्कि सिक्खो की इस हार से सारा पञ्चनद शोकाकुल है, अत उसके शोकनिद्रा से जागृत होने तक वह इस तलवार को थाती के रूप मे अँग्रेजो के पास रख रहा है उसे विश्वास है, कोई भावी वशज अपनी थाती को सम्हालेगा ।

'यह तलवार लो
ले लो यह थाती है।'

कविता मे क्रोध, विषाद, आक्रोश आदि विविध भावो का प्रसार होने पर भी आद्-यन्त स्वाभिमान की भावना की धारा बहती नजर आती है । कविता की प्रथम पक्ति 'ले लो यह अस्त्र है' तथा अन्तिम पक्ति 'ले लो यह थाती है' के 'ले लो' पद ऐसा सकेत करते हे जैसे शेरसिह गुस्से मे आकर अङ्गरेजो के मुह पर तलवार फेक रहा हे, शस्त्रसमर्पण दिल से नही कर रहा है ।

'पेशोला की प्रतिध्वनि' का आयाम पहली कविता से छोटा है । यहाँ भी राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ है । वैसे यह कविता कलात्मक बिंबो के उपादान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । 'शेरसिंह का आत्मसमर्पण' नाटकीय दृष्टि से अत्यधिक सफल रचना है, किन्तु 'पेशोला की प्रतिध्वनि' मे 'इमेजरी' का सुन्दर प्रयोग है । इसका कारण यह है कि प्रथम कविता मे कवि को नाटकीय पात्र के अनुरूप भावो की व्यञ्जना करानी पडी है, इलियट के शब्दो मे वहाँ कवि की 'थर्ड वायस' सुनाई देती है[1], जब कि 'पेशोला की प्रतिध्वनि' मे कवि की आत्मीयता, उसकी 'सब्जेक्टिव पर्सनलिटी' से साक्षात् रूप मे पाठक (श्रोता) का सम्बन्ध स्थापित होता है । मेवाड के अतीत गौरव को याद कर कवि को महसूस होता है कि मेवाड का प्रताप-सूर्य आज अस्त हो रहा है । कविता संध्याकालीन सूर्य की इसी लाक्षणिक (मैटेफोरिक) 'इमेज' से शुरू होती है—

अरुण करुण बिम्ब !
वह निर्धूम भस्म रहित ज्वलन–पिण्ड ?
विकल विवर्तनो से
विरल प्रवर्तनो से

1--Eliot· Three voices in Poetry

अमित नमित सा—

पश्चिम के व्योम मे है आज निरलम्ब सा।'

मेवाड के प्रताप-सूर्य के अस्त होने के साथ ही परतन्त्रता कालिमा सध्याकालीन अँधकार की तरह छा रही है, भारत का वीरोचित उत्साह समाप्त हो गया है—

कालिमा बिखरती है सध्या के कलक सी

दुन्दुभि-मृदङ्ग-तूर्य शात, स्तब्ध, मौन है।

इम समय उदयपुर के 'पेशोला' जलाशय की लहरे तट मे टकरा पुकार रही है—

कौन लेगा भार यह ?

कौन विचलेगा नही ?

+ + + +

कहता है कौन ऊँची छाती कर, मै हूँ—

मै हूँ— मेवाड मे,

अरावली-शृङ्ग-सा समुन्नत सिर किसका ?

बोलो कोई बोलो- अरे क्या तुम सब मृत हो ?

किन्तु कोई पतवार खेने वाला नही दिखाई देता। नियति के कालचक्र मे फँसा देश पता नही किधर बहा जा रहा है। प्रसाद ने देश की इस स्थिति के वर्णन मे नि सन्देह कलात्मक 'इमेजरी' का उपादान किया है। ठीक इसी से मिलती-जुलती 'इमेज' का सकेत हमे 'प्रलय की छाया' मे भी मिलता है।

'अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा

उमड रहा है ज्योति-रेखा हीन क्षुब्ध हो।

खीच ले चलते है—

काल-धीवर अनन्त मे,

साँस, सफरी-सी अटकी है किसी आशा मे।'

पेशोला के 'तरल जलमण्डलो' मे आज भी वही आवाज पुकार उठती है, पर उसका उत्तर देने वाला कोई नही दिखाई पडता— "किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ ?" इस कविता मे कलात्मक ढङ्ग से प्रसाद ने न केवल राष्ट्रीय भावना को उद्बुद्ध किया है किन्तु ऐसे वीर सेनानियो को आमन्त्रित भी किया है जो 'पेशोला' के प्रश्न का प्रत्युत्तर दे सके।

'प्रलय की छाया' नाटकीयता एव इमेजरी दोनो दृष्टियो से महत्वपूर्ण रचना है। प्रसाद का नाटककार एव कवि दोनो इस कविता मे समग्र रूप मे उपस्थित होते है। प्रसाद मूलत रोमानी कवि है, निराला की भाँति पौरुषमय क्रान्तिकारिता उनमे नही है। यही कारण है कि 'प्रलय की छाया' मे कवि को अपनी प्रकृति के अनुरूप ऐसा विषय मिल गया है, जिसमे वह रोमानी ताने-बाने

बुन सका है, यद्यपि समस्त कविता समग्ररूप मे विषादमय वातावरण की सृष्टि करती है। 'प्रलय की छाया' रोमैटिक कवियो की नियतिवादिता तथा निराशा-वादिता (Irony & Melancholy) का ज्वलन्त उदाहरण है। 'कामायनी' की आनन्दवादी विचारधारा के उदय के पूर्व प्रसाद की काव्यमर्जना नियति तथा निराशा की धारणा से आक्रान्त रही है। यह विशेषता हमे 'आँसू', 'अशोक की चिन्ता' तथा 'प्रलय की छाया' मे ही नही, प्रसाद के कई गीतो मे भी मिलती है। 'प्रलय की छाया' मे रूपगर्विता कमलावती की मुग्धावस्था तथा यौवनावस्था के सुन्दर सरस चित्र है। यह रूपगर्व ही उसे जौहर की ज्वाला मे जलकर सतीत्व एव स्वाभिमान की रक्षा करने वाली पद्मिनी तक को चुनौती देने की प्रेरणा देता है। किन्तु कमलावती का सौदर्य उसके लिये वरदान न होकर अभिशाप सिद्ध होता है। वह जहाँ कही अपना सौदर्य लेकर जाती है, वही 'प्रलय की छाया' मँडराती नजर आती है, चाहे वह गुर्ज्जरेश हो, या मुसलमान बादशाह अलाउद्दीन। 'भारते-श्वरी' के पद के लिए सतीत्व और स्वाभिमान की बाजी लगाने वाली कमलावती एक दिन देखती है—

'लूटा था दृप्त अधिकार ने
जितना विभव, रूप, शील और गौरव को
आज वे स्वतन्त्र हो बिखरते है!
एक माया-स्तूप-सा
हो रहा है लोप इन आँखो के सामने।
देख कमलावती!
ढुलक रही है हिम-बिन्दु-सी
सत्ता सौन्दर्य के चपल आवरण की।'

'प्रलय की छाया' का कथानक ऐतिहासिक है। अलाउद्दीन खिलजी के हरम की शोभा बढाने वाली 'भारतेश्वरी' कमलावती खिलजी वश मे राज्यक्रान्ति होने के बाद, अलाउद्दीन तथा काफूर के क्रमश मौत के घाट उतार दिये जाने के बाद, अपने पुराने नौकर 'मानिक' को, खुसरू के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा पाती है। बादशाह बनने के बाद खुसरू एक शाम को कमलावती के चरित्र की भर्त्सना करता है—

'नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमे पवित्रता की छाया भी पडी नही।'

कमलावती इस धूलि धूसरित साध्य-क्षितिज की तुलना अपने विषादमय जीवन से करती है, किन्तु यकायक सारी पुरानी स्मृतियो के चित्र उसकी मन पटी पर फिल्म की तरह दौड पडते है, और उसके सामने अपनी किशोरावस्था का, वय सधि का,

चित्र आ जाता है। विषादमय वर्तमान तथा हास-उल्लासमय अतीत की तुलना की स्मृतिमय कल्पना से कविता शुरू होती है। इस अश मे प्रसाद ने अपनी रोमानी रुझान का पूरा परिचय दिया है। छायावादी कवियो मे सम्भवत प्रसाद सबसे अधिक 'विलासी' कवि है। यहाँ मैं 'विलासी' शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ मे न कर सौन्दर्य के विविध पक्षो— वर्ण, गन्ध, ध्वनि, रस तथा स्पर्श— की सूक्ष्मता को पहचानने की क्षमता के अर्थ मे कर रहा हू। कमलावती के उन्मुक्त बाल्य एव 'मधुभार जडित यौवनागम' के समागम का सुन्दर वर्णन काव्य का प्रारम्भिक अग उपस्थित करता है, जिसमे कवि ने कई सुन्दर रोमैटिक बिबो का उपादान किया है। कविता के आरम्भ मे पश्चिम जलधि के सान्ध्यकालीन परिवेष का चित्रण किंचित् रेखाओ मे होते हुये भी रङ्गो की भास्वरता तथा भावप्रेषणीयता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—

(थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज मे !
और उस दिन तो,)
निर्जन जलधि बेला रागमयी सध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रगरलियां।
दूरागत वंशी-रव—
गूँजता था धीवरों की छोटी छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती मुकुल मे
रंध्र खोजती थी, रजनी की नीली किरणे
उसे उकसाने को हँसाने को।'

कमलावती की वय सन्धि के वर्णन मे कवि की समस्त प्रतिभा और कल्पना एक साथ फूट पडती है।

मेरे तो,
चरण हुए थे विजडित मधु-भार से।
हँसती अनङ्ग बालिकाएँ अन्तरिक्ष मे
मेरी उस क्रीडा के मधु अभिषेक मे
नतशिर देख मुझे।'

उक्त पक्तियो मे प्रथमावतीर्णयौवना, मुग्धा के अनुभावो एव सञ्चारी भावो की सुन्दर व्यञ्जना कुछ ही शब्दो मे करा देना केवल प्रसाद की ही विशेषता है। कमलावती के सौन्दर्य को देखकर गुर्ज्जरेश प्रणय-याचना करते है और एक दिन उसने देखा—

'अनुरागपूर्ण था हृदय उपहार में

गुर्ज्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों में
तिरते थे—
मेरी अङ्गडाइयों की लहरो मे
पीते मकरन्द थे—
मेरे इस अधखिले आनन सरोज का
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था ?
खिली स्वर्ण मल्लिका की सुरभित वल्लरी-सी
गुर्ज्जर के थाले मे मरन्द-वर्षा करती थें।'

'अङ्गडाइयो की लहरो', 'अधखिले आनन-सरोज', तथा कमलावती के लिये प्रयुक्त 'मल्लिका-वल्लरी' की लाक्षणिक 'इमेज' मे कवि ने अनूठी व्यञ्जनाये कूट कूट कर भर दी है।

यही से कविता की गति बदलती है। कमलावती पद्मिनी के जौहर मे जलने की खबर सुनती है, और उसका रूपगर्व उद्‌बुद्ध हो उठता है। कमलावती के मानस का अन्तर्द्वन्द्व यही से बीज रूप मे उद्‌बुद्ध होता है और ज्यो ज्यो कविता आगे बढती जाती हे गौरव और स्वाभिमान की रक्षा तथा रूपगर्व की दो दिशाओ मे दौडती भावनाओ से कमलावती के मन मे 'रस्मा-कशी' (tug-of-war) शुरू होती जाती है। नियति-नटी की इस नृत्यशीलता का सकेत करते कमलावती सोचती है-

'और परिवर्तन वह
क्षितिज-पटी को आन्दोलित करती हुई
नीले मेघ-माला-सी
नियति नटी थी आई सहसा गगन में
तडित विलास सी नचाती भौहें अपनी।'

कौंधती बिजली की भौहे नचाती मेघमाला तथा नृत्यनिरत नटी के सश्लिष्ट रूपक (या उपमा-रूपक) (Mixed Metaphor) के द्वारा कवि ने कमलावती के मनोगगन मे अन्तर्द्वन्द्व के घुमडने का सकेत किया है। कमलावती का रूपगर्व कह उठता है—

पद्मिनी जली थी स्वय किन्तु मै जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमे सुलतान जले।'

नियति के उपक्रम से घटनाओ की गति कुछ इसी तरह की होती है। अभिनय आरम्भ होता है, खिलजी सुलतान गुजरात पर आक्रमण करता है, गुर्ज्जरेश पराजित हो कमला के साथ जगल की ओर भाग खडे होते है, किन्तु सुलतान की सेना पीछा करती है। कमलावती बदिनी हो जाती है, गुर्ज्जरेश का क्या हुआ पता

नही, वह समझती है शायद गुर्जरेश युद्ध करते खेत रहे।

'मेरे गुर्जरेश
आज किस मुख से कहूँ
सच्चे राजपूत थे,
वह खडगलीला खडी देखती रही मे वही,
गत प्रत्याघात मे प्रत्यावर्त्तन मे
दूर वे चले गये
और हुई बन्दी मै
वाह री नियति।'

बन्दिनी कमलावती का चित्र अन्तर्द्वन्द्व का अखाडा बन जाता है— पति का प्रतिशोध, तथा रूप के द्वारा अलाउद्दीन को पराजित करने की भावना मे तुमुल सघर्ष होता है।

'कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षणभर चाहती जगाना मै
सुनसान हो के उस निर्मम हृदय मे,
नारी मै।'

परिस्थितियाँ कुछ ऐसी करवट बदलती है कि कमलावती अपने जीवन को 'सौभाग्य' और 'अलभ्य' समझकर सहेज रखना चाहती है। उसकी छिपी अतृप्त वासनाये उसे बहा ले चलती है, वह उन्ही दुर्बलताओ को एक अवलम्ब मान बैठती है।

किन्तु किस युग से वासना के बिंदु रहे सीचते
मेरे सवेदनो को
यामिनी के गूढ अधकार मे
सहसा जो जाग उठे तारा-से
दुर्बलता को मानती सी अवलम्ब मे
खडी हुई जीवन को पिच्छिल सी भूमि पर।'

और कमलावती इन्ही अतृप्त वासनाओं के बहाव मे फसकर सुलतान के हरम की शोभा बढाने लगती है। उसके भौहो के सकेत से समस्त भारत का शासन सचालित होने लगा।

'इन्ही मीनदृगो का चपल सकेत बन
शासन, कुमारिका से हिमालय श्रृङ्ग तक
अथक अबाध और तीव्र-मेघ-ज्योति-सा
चलता था—'

किन्तु आज उसे पश्चाताप हो रहा है कि इस वैभव को पाने के लिये उसने महान

निधि को खो दिया है— उसका आत्म-सम्मान समाप्त हो चुका है।

'बेंच दिया
विश्व इन्द्रजाल में सत्य कहते हैं जिसे,
उसो मानवता के आत्म-सम्मान को।'

आत्मग्लानि से कमलावती गड सी जाती है, खुसरू के द्वारा खिलजी वश के उन्मूलन की खबर सुनकर जैसे उसे 'सैकडों ही वृश्चिको का डङ्क' एक साथ लग उठता है, वह जिस काम को करने आई थी उसे मानिक ने, (खुसरू ने) कर दिया। खुसरू के द्वारा अपमानित कमलावती के सामने चञ्चल सौन्दर्य के आवरण मे पली वैभव की अट्टालिका चूर चूर होकर ढहती दिखाई पडती है। कलुषित सौन्दर्य का नक्षत्र पुण्य-ज्योतिहीन होकर गिरता दिखाई पडता है—

'पुण्य-ज्योति-हीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा-सा
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया मे।'

सौन्दर्य केपतन के लिये आकाश से गिरते नक्षत्र की कल्पना शेक्सपियर का इन पक्तियो की याद दिलाती है, जब एडोनियस द्रुतगति से गिरता दिखाई पडता है:—

Look ! how a bright star shooteth from the sky,
So glides he in the night from Venus' eye

'प्रलय की छाया' की प्रेरणा, जहा तक शैली का सवाल है, प्रसाद को निराला की 'जूही की कली' तथा 'शेफालिका' जैसी रोमानी मुक्त छन्द कविताओ से मिली है। किन्तु निराला की उक्त कविताओ की तरह यहा केवल हास, उल्लास तथा विलास का वातावरण नही है। कमलावती के यौवन का वर्णन नि.सन्देह विलासमय है, किन्तु जैसा पहले सकेत किया जा चुका है समग्र कविता निराशा, विषाद तथा वेदना की घनीभूत पीडा से आविद्ध है।

निराला ने तीन तरह के विषयों के लिये मुक्त छन्द चुना था, (१) रोमानी विषयो के लिये, (२) राष्ट्रीय सम्बोधन-काव्यो के लिये तथा (३) नाटकीय सम्वादो के लिये, जैसे 'पञ्चवटी प्रसङ्ग' मे। छन्द को गतिशील बनाने के लिये निराला ने प्राय: अनुप्रास का तथा कभी कभी कही कही तुक का भी प्रयोग किया है। जैसे 'सन्ध्या-सुन्दरी' मे 'समय-मेघमय', 'सुन्दरी-परी' जैसी अनेकानेक एक-सी आवर्तक ध्वनियो का प्रयोग। प्रसाद ने भी इसको पहचाना था, किन्तु निराला जैसी सङ्गीतात्मकता का निर्वाह वे नही कर पाते, फिर भी कोमल पद-शय्या तथा रोमानी बिंबो का प्रयोग स्वत. प्रसाद के मुक्त वृत्तो मे स्थान स्थान पर कलात्मकता सक्रान्त कर देता है। अनेकपात्रीय नाटकीय सवादों के रूप मे इस छन्द का प्रयोग निराला

ने अवश्य किया था, किन्तु प्रसाद ने इस सम्बन्ध मे कोई प्रयोग नही किया, सभवतः प्रसाद इसका सुन्दर प्रयोग कर पाते। इधर धर्मवीर भारती ने अपने गीत-नाट्य 'अन्धा युग' मे इसका प्रयोग किया है। 'अन्धा युग' के कोरस (कथा-गायन) प्रायः तुकान्त रोला-गति के छन्द मे है, जिनमे शास्त्रीय रोला वाली नियति यति मे आवश्यकतानुसार हेरफेर किया गया है, जबकि पात्रो के सम्वादो मे सर्वत्र 'मुक्त छन्द' का प्रयोग है, जिसकी गति समस्त नाटक मे एक ही न होकर कुछ स्थानो पर जिन्हे अपवाद रूप माना गया है, बदल भी गई है[1]। रोमानी विषयो पर लिखी कविताओ पर मुक्त छन्द की गति या लय मे एकतानता होती है, किन्तु नाटकीय एकाभिनय तथा नाटकीय सवादो मे लय का उतार चढाव भावानुरूप होना लाजमी है। प्रसाद की 'शेरसिंह के अस्त्रसमर्पण' तथा 'प्रलय की छाया' दोनो मे यह विशेषता पाई जाती है। ये दोनो कवितायें मूलत 'नाटकीय एकाभिनय' के विशेष समीप है। नाटकीय परिवेष के मुक्त छन्दो मे अनुप्रास-निर्वाह की अपेक्षा अधिक महत्व अर्थानुरूप लय की गति का है। भाव या उक्ति के अर्थ के अनुसार कहाँ उच्चरित अक्षर (accents syllable) हो कहा अनुच्चरित (unaccented) तथा किस पद-विशेष के उच्चारण मे अवधारण (emphasis) की जरूरत है, इसका ज्ञान कविता के पाठक या गीत-नाट्य के प्रयोक्ता पात्रो के लिये बहुत जरूरी है, अन्यथा या तो पाठक उसे गद्यवत् पढ देगा, या फिर अपनी इच्छित वृत्तलय मे पढकर सर्वथा निश्चित छन्दोलय दे देगे। यही कारण है कि 'मुक्त छन्द' की प्रकृति से अनभिज्ञ कवि तथा पाठक ही नही, आलोचक भी इसका समुचित प्रयोग तथा मूल्याकन नही कर पाते। कविता की लय को पकडने के लिये यह जरूरी है कि हम उसमे तन्मय होकर उसे जोर से पढना सीखे, तथा कविता के तीन प्रमुख साधन 'लय', 'तुक' तथा 'वीप्सा'—Rhythm, Rhyme, Repetition— की पहचान करना सीखे। क्योकि ये ही वे साधन है, जिनके द्वारा कवि अपन मूल्यमान् अर्थ, काव्यगत सत्य, का उद्घाटन करता है, जो शब्दो के व्युत्पत्तिपरक या व्याकरणिक विश्लेषण से नही ज्ञात होता, अपितु काव्य-मार्ग पर चलने पर ही अनुभवगम्य हो पाता है, क्योकि सी० डे० लेविस के शब्दो मे 'प्रत्येक कविता कवि का वह परिदृश्यमान पथ है, जिसे वह हर कदम अपने हृदय मे अनुभव करता रहा है, तथा जो उस अर्थ के अनुभव की ओर, काव्यगत सत्य की ओर, अग्रसर होता रहता है[2]।'

१—अन्धायुग (निर्देश) पृ० ५

2—' Every poem is a visible track of a poet feeling his way, step by step, into the heart of his own experience and towards the meaning, the poetic truth, of that experience "

—C Day Levis, Enjoying Poetry P 6.

प्रसाद-काव्य का प्रतिपाद्य

विश्वम्भर 'मानव'

श्री जयशकर 'प्रसाद' के काव्य की प्रमुख विशेपता मुझे यह लगती है कि उसमे एक प्रकार का उदात्त स्वर सर्वत्र परिव्याप्त है।

'करुणालय' मे 'प्रसाद' जी ने बडे ही कौशल से वैदिक काल मे प्रचलित याज्ञिक-क्रियाओ की क्रूरता को गर्हित ठहराया है और हमारे हृदय मे करुणा जगाकर यह चेतावनी दी है कि मनुष्य का वास्तविक धर्म मानवता है। 'प्रेम-पथिक' की कहानी सक्षिप्त-सी है, पर उसके माध्यम से जो सकेत कवि ने दिया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नही है। प्रेम एक ही भाव है। यदि वह नारी के सौदर्य पर टिक जाता है तो मोह है, पर यदि वही सौदर्य हमे विश्वात्मा की ओर सकेत करता प्रतीत होता है, तो वह प्रेम कहलायेगा। इस प्रकार प्रेम की भावना को व्यक्तिगत परिधि से खीचकर कवि ने उसे विश्वव्यापी धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। सौदर्य के प्रति प्रेम की यह दृष्टि जब इस रूप मे विकसित होगी, तो दुख कही ठहर ही न पायेगा, केवल आनन्द का विस्तार होगा। इस प्रकार पवित्र प्रेम को अत मे 'प्रसाद' ने आनन्दमय सिद्ध किया है। इस उच्च भूमिका मे नर-नारी का पारस्परिक प्रणय-निवेदन जीव का विश्वात्मा के प्रति आत्म-निवेदन से भिन्न नही रह जाता। सौदर्य, प्रेम और आनन्द को एक सूत्र मे गूथ कर 'प्रसाद' जी ने जिस आलोक के दर्शन हमे कराये है, उससे जीवन का अधकार एकदम मिट जाता है। प्रेम-भाव की यह सूक्ष्मता और हताश-भावना का यह उन्नयन छायावादी-काव्य की अपनी विशेषताए है। 'महाराणा का महत्व' मे कवि ने युद्ध मे नैतिकता के प्रश्न को उठाया है। युद्ध और प्रेम मे कुछ भी अनुचित नही है, पश्चिम के इस सिद्धात को हिन्दू-सस्कृति नही स्वीकार करती। महाराणा प्रताप इसके ज्वलत प्रतीक है।

पीडा का उन्नयन

'आँसू' प्रसादजी का एक विशिष्ट प्रेम-काव्य है। इस खड-काव्य को अपने समय मे बडी ख्याति मिली। इसमे 'प्रसाद' की अपनी कोई भूमिका नही है, जिससे हम यह जान पाते कि स्वय 'प्रसाद' इसे किस रूप मे देखते थे। कुछ समीक्षको का मत है कि 'आँसू' की गणना रहस्य-काव्य के अन्तर्गत होनी चाहिए। मेरी अपनी निश्चित धारणा है कि 'आँसू' मे लौकिक-प्रेम की गाथा है और कही प्रेम मे निराश होने पर 'प्रसाद' ने इसे लिखा है। कुछ हो 'आँसू' बीसवी शताब्दी के हिन्दी के एक प्रतिभाशाली कवि की रचना है और उसका सृजन काफी सचेत स्तर पर हुआ है।

प्रमाण यह है कि आवश्यकता पडने पर पुस्तक के एक कोने से दूसरे कोने तक छदो का अर्थ अध्यात्म-पक्ष मे भी लगाया जा सकता है। पर यह अर्थ के साथ खीचातानी करनी होगी। दूसरा अर्थ है नही, वह कही-कही व्यजित होता है। उर्दू और फारसी के अनेक श्रेष्ठ कवियो के काव्य मे यह गुण विद्यमान है। इसी विशेषता के कारण, जिसे कानून की भाषा मे 'बैनीफिट ऑफ डाउट' कहते है, कुछ आलोचको ने 'आँसू' के आधार पर 'प्रसाद' को रहस्यवादी घोषित किया है। 'आँसू' का मुख्य विषय विरह-वर्णन है और उसी के आधार पर ग्रथ का यह नाम सार्थक होता है। 'आँसू' का प्रारम्भ होता है विरह मे और अत होता है विरह मे। 'आँसू' का प्रत्येक छद टूटे आँसूओ की एक विह्वल कथा है जो अपने मे न जाने कितनी करुण भावनाए समेटे हुए है। इसमे अपने अन्तर की पीडा और प्रेमिका की निष्ठुरता का वर्णन पूरे विस्तार के साथ पाया जाता है। पहले एक सामान्य व्यक्ति की भाँति कवि दु ख से घबरा उठता है। फिर निश्चय करता है कि सुख के समान दु ख भी जीवन मे अनिवार्य है। कभी-कभी वह सोचता है कि क्या प्राणी द्वद्वो से मुक्त नही हो सकता ? पर ऐसी दशा मे जीवन क्या जीवन रह जायगा ? तब इस व्यथा मे ही कही आनन्द खोजना होगा। यदि ध्यान से देखा जाय तो दु खी मनुष्य ही सहृदय व्यक्ति है और सहृदय व्यक्ति ही पूर्ण मानव। अतः वेदना से भागने की आवश्यकता नही, उसका स्वागत हँसकर करना चाहिए। जीवन की सामान्य पीडा और प्रेम-जन्य निराशा का यही समाधान 'प्रसाद' के पास है। इस प्रकार 'आँसू' मे जीवन के दुःख की चर्चा ही नही, दु ख का दर्शन भी है।

प्रकृति का उपयोग

प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओ मे वातावरण का चित्रण कुछ अधिक मनोयोग के साथ हुआ है और जहाँ तक बन पडा है एक पूर्ण चित्र देने का प्रयत्न कवि ने किया है। दूसरे, प्रकृति के सुन्दर पक्ष की ओर 'प्रसाद' जी की दृष्टि कुछ अधिक है। सौन्दर्य के वातावरण मे इन चित्रो को अकित करने के साथ 'प्रसाद' ने तीसरा काम यह किया है कि प्राकृतिक वस्तुओ की उस मूल प्रवृत्ति की ओर इगित किया है जो उनके विकास के लिए उत्तरदायी कही जा सकती है। रजनीगधा है तो रात के सम्पर्क मे उसके खिलने की, नदी की चर्चा है तो समुद्र के अक मे स्थान पाने की, चाँदनी की चर्चा है तो विलास की कामना, प्रकृति के तत्वो मे ही पायी जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'प्रसाद' प्राकृतिक वस्तुओ के रूप-रग का ही विवरण नही देते, उनसे उत्पन्न मनोभावो का ही वर्णन नही करते, वरन उनकी आत्मा का भी चित्रण करते है। यही वे अन्य कवियो से कुछ भिन्न है। जिसे 'छायावाद' कहते है उसका आभास 'झरना' की रचनाओ मे ही मिलने लगता है। प्रकृति के सौदर्य का उपयोग वे मनुष्य की भावनाओ को कोमल करने के लिए ही करते थे। उन्हे इस बात पर

आश्चर्य होता था कि प्रकृति की सुषमा के सम्पर्क मे रहकर भी मनुष्य का हृदय क्यो नही पिघलता—वह कठोर क्यो बना रहता है ?

उपासना का लक्ष्य

मनुष्य का हृदय जब अध्यात्म की ओर मुडता है तो इस ससार को भी वह भगवान का रूप समझने लगता है। ऐसी दशा मे इसे वह हेय दृष्टि से देख ही नही सकता। 'प्रसाद' के अनुसार भक्त को पश्चाताप करने और आत्म-ग्लानि की अग्नि मे गलने की बिलकुल आवश्यकता नही। यह दृष्टिकोण मध्यकालीन भक्त-कवियो के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न है। पावन होना भक्त का सहज अधिकार है। मन मे भक्ति के उदित होते ही व्यक्ति एक उच्चतर भावभूमि मे स्वत प्रवेश करता है। भक्त की इद्रियाँ उत्पात न मचाकर उसके अनुशासन मे रहती है। हृदय पवित्रता से युक्त रहता है, आलोक मे युक्त, शाति मे युक्त। तब विश्व और विश्वपति एक हो जाते है। सच्ची तात्विक दृष्टि यही है। 'प्रसाद' के अनुसार भक्ति का लक्ष्य व्यक्ति की मुक्ति नही, वरन् उसका सेवा-परायण होना है। यदि मनुष्य मे करुणा और प्रेम की भावना विकसित हो सके, तब 'प्रसाद' जी प्रार्थना की भी आवश्यकता नही समझते। भक्ति का प्रभाव यह होना चाहिए कि मनुष्य अधिक से अधिक मानवीय गुणो से युक्त हो। 'कानन-कुसुम' मे उपासना के ऐसे ही उज्ज्वल स्वरूप का विवेचन हुआ है।

एक महान् सदेश

'प्रसाद'-कृत कामायनी हमारे आदि पुरुष मनु की जीवन गाथा है। इसके साथ ही वह मानवीय मनोविकारो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत करती है। कहानी का प्रारम्भ घोर विलास से होता है और अत चरम वैराग्य मे। विलास से वैराग्य की ओर आने मे मनु को भौतिकवाद से अध्यात्मवाद की ओर मुडना पडा है। इसी से इस महा-काव्य मे कही-कही रहस्यवाद का पुट है।

कामायनी के आराध्यदेव शिव है, पर वे मूर्तिपूजा वाले शिव नही। 'प्रसाद' ने उस परम तत्त्व को ही शिव नाम से पुकारा है। सृष्टि मे जिस एक तत्त्व की व्यापकता की घोषणा कवि ने प्रथम सर्ग मे की है, उसी की व्याख्या अन्तिम सर्ग मे करते हुए उसने दृश्य-जगत् या चराचर को एक सिद्ध करने मे अद्वैत-दर्शन का सहारा लिया है। 'आनन्द' सर्ग मे जिस दार्शनिक तत्त्व का विवेचन हुआ है उससे प्रकृति, आत्मा और परमात्मा की एकता सिद्ध होती है। चरम सत्य यह है कि उसके अतिरिक्त कही कुछ नही है। सब एक है—यही कामायनी और उसके कवि का इस युग के लिए महान् सदेश है।

'आँसू'—एक कलाकृति

व्रज किशोर मिश्र

प्रसादजी का आविर्भाव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अवसान के चार वर्ष बाद, १८८९ ई० मे हुआ था। हिन्दी कविता का यह सक्राति काल था। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियो 'मे", वातावरण के अनुसार परिवर्तन आरम्भ हो गये थे। योरोप के समपर्क मे आने के कारण भारत को नवीन दृष्टि प्राप्त हो रही थी। अपने समाज की अनेक कुरीतियो और साहित्य की नीरस रूढियो पर उसकी दृष्टि पड रही थी, उनके प्रति ग्लानि और क्षोभ का प्रदर्शन भी कविवर्ग करने लगा था। १९०९-१० मे 'इन्दु' का प्रकाशन इस नवीन दृष्टिकोण को विकीर्ण करने का सफल प्रयास था, प्रसादजी के भानजे श्री० अम्बिका प्रसाद गुप्त इसके सम्पादक थे। यद्यपि 'सरस्वती' का प्रकाशन इसके पूर्व, २०वी. श० ई० के आरम्भ के साथ ही साथ हो गया था, किन्तु आचार्य द्विवेदी के सम्पादकत्व मे तत्कालीन 'नई कविता' को प्रश्रय नही मिला फलत 'इन्दु' का प्रकाशन हुआ। अस्तु।

इसमे कोई सदेह नही कि द्विवेदी-युग का काव्य, शृंगार-युगीन काव्य की प्रतिक्रिया मे लिखा गया था किन्तु छायावादी काव्य, शृगार की पुनरावृत्ति थी, केवल उसका कलेवर तथा दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया था। प्रसाद जैसे कवियों का भावुक तथा रसज्ञ हृदय, द्विवेदी-युगीन काव्य रचना-सम्बन्धी नियत्रणो को स्वीकार करने मे असमर्थ था, अत' उनके लिए शृगार का परिष्कृत मार्ग ही एकमात्र काव्या-दर्श बन सका। 'आँसू' इसी प्रेमादर्श का परिणाम था।

प्रसादजी के जीवनकाल मे उनके ३४वे वर्ष, सन् १९२३, का महत्व विशेष है। 'कामना' नाटक तथा कामायनी का रचनारम्भ इसी वर्ष से हुआ। आँसू का प्रथम सस्करण यद्यपि सन् १९२५ मे प्रकाशित हुआ तथापि जिस क्रम से उसकी रचना होती रही थी उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसी समय के आस पास उसका भी आरम्भ हो गया होगा। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि उक्त तीनो कृतियो के मूल मे एक मिलती जुलती विचारधारा विद्यमान थी। 'कामना' नाटक मे मानववृत्तियो के आधार पर, एक सुसस्कृत कलापूर्ण समाज के पतन की कथा है; ककाल के दृष्टिकोण के अनुकूल 'आँसू वैयक्तिक मनोभावो के क्रमिक विकास की कथा है और कामायनी मे इसी विकास क्रम को भारतीय संस्कृति के उदात्त रूप

मे ग्रहण किया गया है। मनोभावो की स्थिति, पात्रो के रूप मे, कवि ने प्रधानतया स्वीकार की है। एक सूक्ष्म कथा-वस्तु का निर्माण भी उसने किया है, 'कामना' और 'कामायनी' मे यह कथा-वस्तु अधिक स्पष्ट है, आँसू मे इसका स्वरूप अधिक सूक्ष्म है। वास्तव मे वैयक्तिक भाव विकास ही आँसू मे कथा का रूप ग्रहण कर लेता है, ऐसा कहा जा सकता है। इस कथा का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है :

वियोग व्यथित कवि, अपने सयोग सुख का स्मरण करता है। विगत जीवन की विलासमयी स्मृतिया उसके हृदय को पीडा और निराशा मे भर देती है। दुख की पृष्ठभूमि मे सुख की यह स्मृतिया एक ऐसी टीस उत्पन्न करती है, जो सुख और दुख का समन्वित रूप धारण कर लेती हे। इस व्यक्तिगत वियोगानुभूति से कवि के भावोद्गार आरम्भ होते है। जिस मिलन के क्षण के उपरान्त उसे यह महान् पीडा उपलब्ध हुई है, वह अवश्य ही अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा होगा। उस 'महामिलन' को गौरव प्रदान करते हुए कवि अपने वियोग की व्यापकता और मार्मिकता का हृदयस्पर्शी चित्रण करता हे। पीडा के व्यापक प्रसार के बीच अपने व्यक्तित्व की अकिंचनता को स्वीकार करते हुए, वह अपने को उसमे पूर्णतया अभिभूत होते हुए अकित करता है, मूर्छितावस्था मे जैसे वह 'हाल' या 'मदहोशी' की अवस्था मे पहुँच जाता है। पीडा की यह चरमानुभूति है। नव-चेतना की उपलब्धि पर कवि की दृष्टि का विकास होता है; वह सारी प्रकृति मे अपने प्रिय का रूप देखता हुआ अपनी अनुभूतियो की प्रेरणा उससे लेने लगता है। प्रिय का सूक्ष्मतम रूप उसके अन्तर्नयनो के सम्मुख उद्घाटित हो जाता है। उसका अत्यन्त प्रिय, मानवी रूप वह नखशिख शैली मे चित्रित करता है।

प्रिय के प्रति अनेक उपालम्भ उद्गारो के उपरान्त कवि सुख और दुख के सतुलन की ओर उन्मुख होता है, उसकी दृष्टि दार्शनिक हो उठती है, सारी प्रकृति उसे दुख-सुख से समन्वित दृष्टिगत होने लगती है। अपनी पीडा के अतिरेक मे वह सम्पूर्ण धरणी को दुख-प्रधान ही मानता है, सुख अब उसके लिए काल्पनिक वस्तु बन जाता है। अब उसे सम्वेदना के आधार पर पीडा मे ही आनन्द के दर्शन होने लगते है, सम्वेदनात्मक दृष्टि विकसित होती है। अपनी वेदना से वह निवेदन करता है कि वह अपने करुणा-क्रोड मे लेकर इस पृथ्वी को आश्वस्त करे, उसे विश्राम दे, विपत्तिमुक्त करे। इस वेदना (सम्वेदना) का महत् उद्देश्य अब यही बन जाय कि वह विश्व की सम्पूर्ण पीडा को अपनी करुणा की छाया मे लेकर उसका निवारण करे। ससार मे कितने ही पददलित, उपेक्षित, बुभुक्षित प्राणी है, उनके प्रति मधुर वेदना का प्रदर्शन ही सच्चा प्रेम है। करुणा-मूलक यही प्रेम विश्व का कल्याण करने मे समर्थ है, वही इस जगती को अपावन कलुष से मुक्त कर कर सकती है।

सक्षेप मे भाव-विकास का उक्त रूप आँसू मे दृष्टिगत होता है। वैयक्तिक, ऐहिक प्रेम से आरम्भ करके कवि उसका निरन्तर विकास करता हुआ, समष्टि-गत, मानसिक और आध्यात्मिक प्रेम के स्तर पर पहुँच जाता है। उसकी अपनी व्यथा, सम्पूर्ण मानवता के बीच वितरित हो जाती है और विश्व के अणु-अणु मे अपने 'प्रेम' के दर्शन करने लगता है। इस प्रेम की विशेषता यही है कि यह पूर्णतया मानवीय है तथापि अतीन्द्रिय है। अनुभूतियो की सात्विकता तथा शाश्वतता उसे अलौकिक रूप प्रदान कर देती है। इस अद्भुत प्रेम का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है—

> **"जिसके आगे पुलकित हो, जीवन है सिसकी भरता।**
> **हाँ, मृत्यु नृत्य करती है, मुसक्याती खडी अमरता॥"**
> **"वह मेरे प्रेम विहँसते, जागो मेरे मधुवन में।**
> **फिर मधुर भावनाओ का, कलरव हो इस जीवन में॥"**

जीवन के सारे सम्बन्ध इस प्रेम के प्रभाव से मधुरतम हो उठते है। हृदय की सारी वृत्तिया उसके माध्यम से तृप्त हो उठती है। उसके दर्शन मात्र से, अनुभूति मात्र से, मन आत्म-विभोर हो उठता है

> **"जिसमें इतराई फिरती, नारी निसर्ग-सुन्दरता।**
> **छलकी पडती हो जिसमे, शिशु की उर्मिल निर्मलता॥**
> **आँखों का निधि वह मुख हो, अवगुण्ठन नील गगन सा।**
> **यह शिथिल हृदय ही मेरा, खुल जावे स्वयं मगन सा॥"**

यह प्रेम कवि का उपास्य है और अनन्त आनन्द का स्रोत। कवि उसे अपना आस्था से इस प्रकार अभिषिक्त करता है—

> **"मेरी मानस पूजा का, पावन प्रतीक अविचल हो।**
> **झरता अनन्त यौवन मधु अम्लान स्वर्ण-शतदल हो॥"**

प्रेम का यह व्यापक तथा कलात्मक रूप, कवि की स्वस्थ श्रृंगार-वृत्ति का परिचायक है।

कवि ने प्रेम और प्रिय के बीच कोई अन्तर स्थापित नही किया है। उसका वर्ण्य अथवा आलम्बन स्पष्टत प्रिय है और वह कवि का साकार प्रेम है। वह नारी है कि पुरुष है इसका प्रश्न नही उठता। लौकिक दृष्टि से देखने पर उसका स्थूल और सुन्दरतम रूप कल्पना के नेत्रो मे झूलने लगता है और मानसिक दृष्टि से देखने पर उसका सूक्ष्म, सर्वव्यापी रूप अपनी रहस्यमयी सत्ता की झाँकी उपस्थित करने लगता है। वह इस नेत्र-प्रिय सृष्टि के बीच सौन्दर्य का प्रतीक है, फिर वह नारी है कि पुरुष ? इस प्रश्न का कोई महत्व नही। वास्तव मे अपने आलम्बन को सारी सीमाओ से मुक्त करके कवि ने अपनी कला-कुशलता का अद्भुत परिचय दिया है।

आँसू का रचना-काल व्रजभाषा-युग का अवसान-काल था, व्रजभाषा साहित्य-भाषा के पद से पूर्णतया वञ्चित नही हुई थी। साथ ही, भाषा-परिवर्तन तो आरम्भ हो चुका था, खडी बोली मे काव्य रचना होने लगी थी, किन्तु शैली का प्रभाव अपनी सत्ता जमाये हुए था। प्रसादजी ने व्रजभाषा मे आँसू सम्बन्धी दो एक छन्द लिखे थे, उनका दृष्टिकोण नवीन तथा कलात्मक, सयुक्त रूप मे दृष्टिगोचर होता है। एक छन्द देखिए :—

आवै इठलात जलजात-पात को सो बिन्दु,
कैधौ खुली सीपी माहि मुकता दरस है।
कढी कज-कोष ते कलोलिनी के सीकर सो,
प्रात हिमकन सो न सीतल परस है।
देखे दुख दूनो उमगत अति आनन्द सौ,
जान्यो नहि जाय यहिं कौन सो हरस है।
तातो तातो कढि रूखे मन को हरित करै,
एरे मेरे आसू ! तै पियूष ते सरस है ॥

श्रृगार-युगीन काव्य की आलकारिक, कल्पनामयी तथा चमत्कार पूर्ण शैली के साथ साथ आँसू मे सुख-दुख का समन्वयात्मक रूप प्रदर्शित करके कवि ने अपने भावी काव्य (आँसू) की भूमिका प्रस्तुत कर दी है। अतएव यदि आँसू की शैली मे कला और अनुभूति का मनोरम समन्वय दृष्टिगत हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है। सच तो यह है कि सम्पूर्ण काव्य समन्वयवादी है और इसी मे उसकी कला की सार्थकता है। नखशिख वर्णन करके भी कवि उसके रूढिगत बन्धनो मे नही बधा। प्रेम का चित्रण करके भी उसने केवल आगिक-सौन्दर्य तथा वासनात्मकता तक अपने को सीमित नही रक्खा, वरन् समाज के सभी क्षेत्रो मे उसका प्रसार कर दिया। प्रेम के स्थूल और दार्शनिक रूपो को समन्वित किया। जड-प्रकृति और मानव-प्रकृति का सवेदनात्मक एकीकरण किया। प्रतीकात्मकता और अलकृत शैली का समन्वित प्रयोग किया। व्यक्ति और समाज का सापेक्ष महत्त्व प्रतिपादित किया और उनके बीच करुणा-धारा प्रवाहित की। भाषा मे भी उसने मधुर व्रजभाषा के शब्दो को अपनाने मे सकोच नही किया। उसका छायावाद, जीवन के साथ समन्वित रहा।

प्रकृति का माध्यम तो कवि वर्ग के लिए यो ही बहुत सशक्त अभिव्यजना का साधन है। अलकारिक रूप मे उसका प्रयोग कवियो ने सदैव ही किया है। प्रसादजी ने भी आसू मे प्रकृति को अप्रस्तुत अथवा प्रतीक रूप मे अपनाया है। प्रतीक शैली के विषय मे अधिक न कहकर, क्योकि उसके विषय मे विद्वान आलोचको ने बहुत कुछ कहा है, यहाँ पर उनकी एक विशेष कलात्मकता की ओर ध्यान आकृष्ट करना

चाहता हू ।

अपने वर्णनो मे प्रसादजी ने वर्ण्य विषय के प्राय· दो अवर्ण्य (अप्रस्तुत) उपस्थित किए है। वर्ण्य तो प्राय सूक्ष्म, कवि का मनोभाव है। अवर्ण्य कोई प्राकृतिक दृश्य है, किन्तु उसके दो रूप है, एक स्थूल, पार्थिव, पूर्णतया मूर्त और दूसरा पार्थिव होते हुए भी रहस्यात्मक, छायावादी। वास्तव मे इसी शैलीने कवि के स्थूल चित्रो को छायावादी विधि प्रदान कर दी है। एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो सकेगा :—

क्यो व्यथित व्योमगंगा सी, छिटका कर दोनों छोरें।
चेतना तरंगिणि मेरी, लेती है मृदुल हिलोरें॥

अपनी चेतना का वर्णन करते हुए कवि ने एक ओर उसके लिए तरगिणी का उपमान प्रस्तुत किया है, और दूसरी ओर आकाश-गगा का। स्थूल दोनो है किन्तु एक लौकिक है और दूसरा अलौकिक या रहस्यात्मक। इस कला के प्रयोग ने आँसू काव्य मे एक अपूर्व मार्मिकता उत्पन्न कर दी है।

प्रकृति के माध्यम से वातावरण का चित्रण करने मे कवि को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। प्रसादजी मादक, मोहक, मूर्छनापूर्ण, भावावेग-सयुक्त वातावरण के चित्रण मे अत्यन्त कुशल है। सयोग के मासल तथा वियोग के अनुभूतिपूर्ण चित्र और उनकी भूमिका प्रस्तुत करने मे वे अद्वितीय है। प्रयण की मधुर अलस छाया मे तन्द्रिल, उन्मद वातावरण का चित्रण निम्नलिखित पक्तियो मे देखिए —

"निर्झर सा झिर झिर करता माधवी कुञ्ज छाया में
चेतना बही जाती थी उस मन्त्र मुग्ध माया में॥"

उपवन के शान्त वातावरण मे, हरे भरे कुञ्जो की शीतल स्निग्ध छाया के नीचे से मृदु मृदु कलरव करते हुए निर्झर का एक रस प्रवाह कल्पना के नेत्रो के सम्मुख साकार हो उठता है।

दृश्य-चित्रण की एक विशेषता यह है कि प्रसादजी उन्हे सजीव, स्पन्दनयुक्त अकित करते है। उनके दृश्य जड मात्र नही है, फ्रेम मे जडे हुए चित्र के समान निश्चल न होकर चल चित्रो के समान गतिशीलता उनकी विशेषता है। यह चित्र देखिए:—

'इस हृदय कमल का घिरना, अलि-अलकों की उलझन मे
आँसू-मरन्द का गिरना, मिलना निश्वास पवन में।"

प्रफुल्लित कमल—पुष्प को भ्रमरावली आक्रान्त कर रही है; भार-पीडित होकर कमल झुकता है, उसके मकरन्द-बिन्दु टपक पडते है और समीर के झोंकों के साथ मिलकर वातावरण मे विलीन हो जाते है। कितना जीता जागता रूपक है!! सारे अवयव क्रियाशील है, सारा दृश्य चेतना से अनुप्राणित है। इस प्रकार के प्रचुर चित्र आसू मे विद्यमान् है।

रूप चित्रण की शैली मे नाटकीयता का गुण विशेष कलापूर्ण है। यद्यपि

प्रिय के रूप का अस्पष्ट, छाया रूप अकित करना ही प्रसाद को विशेष प्रिय है, तथापि अभिनयात्मक शैली का उपयोग करके उन्होने रूपाकन को विशेष आकर्षक बना दिया है। एक दृश्य :—

"रो रो कर सिसक सिसक, कर कहता मै करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते, करते जानी अनजानी।"

हाव–चित्रण की पद्धति ग्रहण करके कवि ने सारा दृश्य रगमच की रंगीनी से अनुरजित कर दिया है। विशेष व्याख्या की आवश्यकता नही है।

भारतीय लोक जीवन को मूलाधार बनाकर अकित किए गए कुछ चित्र विशेष सुकुमार तथा मार्मिक है। यद्यपि इन चित्रो मे भी रूप-रहस्य की ओर ही प्रवृति विशेष है, फिर भी कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा ने अस्पष्ट रूप के दर्शन की लालसा को अत्यन्त तीव्र कर दिया है :—

"शशि मुख पर घूघट डाले, अचल मे दीप छिपाए।
जोवन को गोधूली मे, कौतूहल से तुम आए।"

जहाँ एक ओर कवि, रूप को रहस्यात्मक बनाकर उसे सुकुमारता प्रदान करता है,वही दूसरी ओर सूक्ष्मता-सयुक्त चित्र उपस्थित करके दर्शक की दृष्टि को चमत्कृत कर देता है। इस शैली मे अलकारिकता और प्रतीकात्मकता का सुघर सयोग बडा ही मनोरम है, देखिए :—

'घन में सुन्दर बिजली सी, बिजली मे चपल चमक सी
आँखो मे काली पुतली, पुतली मे श्याम झलक सी।"

उत्तरोत्तर सूक्ष्मता प्रदान करके कवि ने अपने प्रिय को अधिकाधिक रहस्यात्मक तो बनाया ही है साथ ही साथ 'चाचल्य' और 'श्यामत्व' के आधार पर उसे अपनी परम्पराऐं भी प्रदान कर दी है। सास्कृतिक चेतना की यह झलक कवि के काव्य को भारतीय काव्य-परम्परा मे उच्च स्थान प्रदान करती है।

जैसा पहले निवेदन किया जा चुका है, आँसू का रचना-काल प्रधानतया अलकार-युग ही था अत उसमे अलकारिकता, शब्दचमत्कार, तत्युगीन उर्दू काव्य की रवानी, मुहावरेदानी आदि काव्य-गुणो का दर्शन पग पग पर होता है। इस छोटे से लेख मे हमारा उद्देश्य केवल कवि के कुछ मौलिक काव्य गुणो की ओर ध्यान आकर्षित करना मात्र था। मेरी दृष्टि मे आँसू प्रसाद-काव्य का अमूल्य मुक्ता है। उसकी समन्वयवादी शैली ने उसे सम्पूर्ण हिन्दी काव्य साहित्य के बीच गौरवपूर्ण स्थान का अधिकारी बना दिया है। प्रसादजी के एक निकटस्थ मित्र से मुझे ज्ञात हुआ है कि वे आँसू को कामायनी का एक सर्ग बना देना चाहते थे। यदि ऐसा हुआ होता तो कामायनी का महत्व अवश्य ही कुछ बढता किन्तु एक श्रेष्ठ काव्य का स्वतत्र अस्तित्व विलीन हो जाता, अच्छा हुआ उन्होंने अपने विचार को कार्यान्वित नही किया।

'लहर'

गिरीश चन्द्र त्रिपाठी

'प्रसाद' की प्रौढता 'लहर' के गीतों को प्राप्त हुई। गीतात्मक तत्व को चरम-विकास की स्थितिया 'लहर' के गीतों द्वारा प्राप्त हो सकी है। उसका एक विकसित रूप नाटक की ओर चला गया जिसमे सुन्दर गीति-नाट्यो की रचना हुई है, मनोविज्ञान की शाखा 'आंसू' में चली गई और प्रसग का विकास 'कामायनी' मे हुआ। 'लहर' मे कवि चिंतनशील कलाकार के रूप मे हमारे समक्ष आता है जहा उसने यौवन के प्रणय का शृंगार सयम और गम्भीर स्वस्थ जीवन-दर्शन से किया है। 'लहर' मे सगृहीत कवितायें कुछ तो गेय है और कुछ ऐतिहासिक घटनाओ से सबधित प्रबन्ध रूप मे है। प्रसाद का काव्य विविध प्रेरणाओ के आश्रय से अनेकानेक शैलियो मे विकसित हुआ। प्रयोगात्मक दृष्टि से भी 'लहर' का विशेष स्थान है क्योकि गीति और प्रबन्ध दोनो मे कवि ने अनेक नवीन प्रयोग किये है। काव्य मे प्रयोगात्मकता सदैव श्लाघ्य है और इस प्रयोगात्मकता के पीछे सभव है कि कवि ने बगला काव्य से प्रेरणा ग्रहण की हो। हिंदी मे तो प्रयोग मौलिक ही माने गये क्योकि इसके पूर्व इस शैलो का प्रयोग हिन्दी के किसी कवि द्वारा नही हुआ। जिस ऐतिहासिक दृष्टिकोण मे कवि का प्रसग काव्य है उसमे कवि आरम्भ से ही बौद्ध-दर्शन से प्रभावित ज्ञात होता है क्योकि पाशव शक्तियों मे उभरे हुए प्रसग कवि के द्वारा कभी ग्रहीत नही हुए। उसने सदैव ऐसे प्रसगो का आकलन किया है जो करुणा, क्षमा, उत्सर्ग, आत्म-समर्पण से अनुप्राणित रहे है। बौद्ध धर्म के (दु ख, दुःख समुदय, दुःख निरोध, एव दुःख निरोध शीला-प्रतिपदा) इन चार आर्य सत्यो की अनुभूति मे प्रसाद का प्रासगिक काव्य लिखा गया मालूम होता है। यही चार बाते प्रसगों की गहराई मे है। 'अशोक की चिन्ता' 'शेरसिंह का आत्मसमर्पण' इन्ही मे जीवन का परिष्करण हुआ है।

'लहर' के कुछ गीतो मे कवि की प्रेमिका के रूप का मद है कवि के अधरों मे उमम की प्याम भरी थी और नेत्रो मे दर्शन का विश्वास। अपनी प्रेमिका के जीवन से निकल जाने पर कवि की आखे पावस के बादल बन गई, उसकी एक नि श्वास मे अतीत के सुखद दिवसो की स्मृतिया अन्तर्निहित है।

वेदना कवि को निराधार नही छोडती, वह उसे करुणा का सम्श्रय देती है। ताप मे, अवसाद मे, विनाश और निष्ठुरता मे उसकी प्रेरणा का स्रोत अजस्र और नितरत प्रवाह मे मुखरित है। स्मृति की वह किरण जो पथ भूलीसी उसके प्रणय-गवाक्ष से पल भर को झाक गई, उसके आलोक मे उसकी विरहाध सृष्टि जगमगा उठी।

दुःख को भूलने का एकमात्र उपाय पूर्ण विस्मृति है। कवि को इस सत्य पर आस्था है कि जीवन का अन्त सुखमय है, अत मनुष्य को अतीत को हँस कर विदा देनी चाहिए। इसी मे उसका गौरव है, आत्म-सम्मान है। लहर के अस्त-व्यस्त गीतो मे कवि के विश्रृखल जीवन की कहानी अटपटे रूप मे हमारे सामने आती है। लहर की कुछ कविताएँ ऐतिहासिक घटनाओ से सम्बन्धित है। 'प्रलय की छाया' शीर्षक रचना का आधार ऐतिहासिक है। अलाउद्दीन ने गुजरात पर चढाई की थी। गुजरात की रानी को वह बलात् ले आया था, यहा तक तो इतिहास साक्षी है। परन्तु इसके बाद की कहानी के बाद मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

प्रसादजी पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव है। उन्होने हिंसा को हेय माना है और अहिंसा को स्तुत्य। बौद्ध धर्म ने मानवता और वसुधा के वैभव को आमन्त्रित किया। मनुष्य की कीर्त्ति ही उसकी वास्तविक मानवता है। विश्व ही एक विहार है, जिसकी छाया मे सभी त्रस्त सुख पा सकते है ऐसा भाव प्रसादजी की कई रचनाओ से आभासित होता है। अशोक के कलिग युद्ध पर लिखी कविता मे कवि का कहना है कि आन्तरिक शान्ति और मन की विजय ही वास्तविक विजय है और तलवार की विजय कोई विजय नही।

प्रेम का वर्णन कवि ने बडे कौशल से किया है। ऐसा लगता है कि कवि ने प्रेम की सभी अवस्थाओ का स्वानुभव किया था। प्रेम किया, विरह सहा, स्मृति को लेकर जीवित रहा, जीवित रहने मे पीडा का अनुभव किया जिसने उसको ऊँचा उठाया। प्रेम मे प्रसादजी प्रतिदान की भावना नही चाहते। प्रेम मे देना ही देना हे, लेना नही। सागर की लहरे युगो से किसी के लिये उद्विग्न है पर क्या पाती है? इच्छित वस्तु की उपलब्धि पर जीवन मे सुख छा जाता है। हमने प्रेम-पात्र को पा लिया, यही प्रेम की प्राप्ति है। ससार आसू मागता है इसी से रोना पडता है तब नादान मानव क्यो व्यर्थ मे पुकार कर कह उठता है कि उसको जीवन मे प्यार न मिला। अन्त मे इसी लौकिक प्रेम मे अलौकिक प्रेम के दर्शन होते है। हिमशैल बालिका सागर से मिलने जाती है। जीवन मे विश्वास को लेकर ही आगे बढा जाता है। जिस दिन यह विश्वास टूट जाता है जीवन का सहारा टूट जाता है और वह बेसुरा हो जाता है। सरिता केवल इसी विश्वास को लेकर कि कही समुद्र है अवश्य– आगे बढती है और एक दिन उसका सागर से मिलन हो जाता है। इसी प्रकार धर्म मे इस विश्वास के सहारे कि ईश्वर जैसी वस्तु है अवश्य– एक दिन सदा छटपटाने वाली आत्मा परमात्मा से मिल जाती है।

प्रसादजी का प्रकृति वर्णन भी रम्य हुआ है। इन्होने प्रकृति के माध्यम से भावो की अभिव्यक्ति की है। प्रकृति की वस्तुओ मे उसको अपनी प्रेमिका की झलक का आभास होता है। प्रकृति प्रेम मे गुनगुना उठी है। यह भी मन के भावों के कहने

का एक ढग है। मनुष्य के हृदय मे जैसी भावनाये होती है वैसी ही प्रकृति की वस्तुओ मे प्रतिबिम्बित होती है। कवि की उर-वीणा के तार टूटे है अत शून्य नभ मे भी वैसी ही गूज छा जाती है। चन्द्रोदय होने पर कमल बन्द हो जाते है इसी प्रकार कवि के जीवन मे सध्या नित्य ही उदास होकर आती है।

भावो की अभिव्यक्ति मे उन्होने प्रतीको का आश्रय ग्रहण किया है और इन प्रतीको ने लौकिकता का श्रृगार अलौकिकता से किया है। जहाँ निराशा का आशा मे और लौकिक प्रेम का अलौकिक प्रेम मे ऊर्जस्वीकरण (Sublimation) हुआ है वही कवि ने गम्भीर चिन्तन द्वारा स्वस्थ जीवन-दर्शन की ओर इगित किया है। इन प्रतीक-विधान के कारण कही-कही इनकी कविताये दुरूह हो गई है। इनके काव्य रसास्वादन के लिये इनके प्रतीको को समझना आवश्यक है। नीचे की पक्तियो मे प्रतीक-विधान है।

"कितने दिन जीवन जल-निधि मे
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी — कूल चूमने चलकर
उठती गिरती-सी रुक-रुक कर।
सृजन करेगी छवि गति-विधि मे।"

सामान्य अर्थ के साथ जीवन को सागर माना है। बाह्य परस्थितियो से टकराकर भावनाये टकराती है पर लक्ष्य की सिद्धि नही हो पाती। जिस प्रकार लहरो के उठने गिरने मे एक प्रकार की सुन्दरता है उसी प्रकार भावनाओ के उत्थान-पतन के प्रयत्न मे भी एक प्रकार का सौन्दर्य निहित है।

'लहर' अन्तर की भावना का प्रतीक है। 'लहर' के गीतो मे केवल हृदय का उच्छवास ही नही है श्रृङ्गार का परिष्कार भी हुआ है। इन गीतो मे यौवन की उद्दाम भावनाय सयमित हो गई है और इन गीतो मे प्रलय सदृश्य उद्वेलन मे भी जीवन की शान्ति परिव्याप्त है।

'लहर' की एक रचना मे कवि ने अपनी आत्म-कथा कही है। सयम के साथ कवि तो केवल इतना ही कहकर सतोष की सास लेता है कि उसकी आशाये सूखे पत्ते सी सूखकर मुरझा गई। उनको जीवन मे छल, धोखा और प्रवचना ही मिली और जिसके सम्पर्क मे आकर उनकी भावुकता जागृत हुई थी, उसका साथ छूट गया, प्रेम मे थके पथिक की स्मृति ही पाथेय बनी। कवि अपनी कथा कहने को मौन है और दूसरो की सुनने को आतुर। यही समझौता उसको भाया है। व्यथा सुप्त होने के कारण वह अपनी कहानी को बढाना भी नही चाहता। विरहकाल मे भी स्थिरता और सहनशीलता का अभास मिलता है। कवि की मौनिमा पाठको का शात कुतूहल जागृत करती है और यही कुतूहल उनकी कविता का प्राण है और पाठको के जिज्ञासु

मन को उलझाने वाला ।

प्रसाद के भाव-जलधि की गहराई मे डूबकर पाठक को भी आकुल पलों में असीम शाति मिलती है । कही-कही यही भावुकता ईश्वर की ओर मुड गई है । उन स्थानो मे इसने भक्ति का रूप धारण कर लिया है । उनके प्रकृति सम्बन्धी वर्णन मानवी भावो से ओत प्रोत है । कवि ऐसे लोक मे जाना चाहता है जहाँ कोलाहल से पूर्ण जगती को छोड मन की भावनाये प्रेम की गहरी-निश्चल कथा चुप-चुप कह जाती हो, जहाँ अमर जागरण हो, उषा अरुणिमा को सर्वत्र बिखेर देती हो, जहाँ कोलाहल न हो, घोर शाति हो । कवि को सर्वत्र दु ख ही दु ख दिखाई देता है । सागर की आँखों मे भी आँसू छलछला आये है ।

प्रसाद की कल्पना की अनुभूति मे एक असीम सुख निहित है, शरीर को सिहराने वाला अनुभव है और हृदय को मथ देने वाली पीडा । रात्रि स्वप्न का काल है प्रात· उसकी समाप्ति का । कवि के जीवन का स्वप्न अभी टूटा नही है । जब उसके जीवन का अन्तिम स्वप्न टूटने वाला ही था तभी वह रजनी से कहता है—

मेरे जीवन के सुख निशीथ
जाते जाते रुक जाना
हाँ, इन जाने की घडियो मे
कुछ ठहर नही जाओगे ?

कितनी विवशता भरी अनुनय है अतिम दो पक्तियो मे । कितनी व्यथा भरी है उसके इस कथन मे । कवि तो केवल इतना ही जानता है, कि प्रेम का जन्म जीवन मे चार बूँद आँसू का उपहार दे जाता है और छोड जाता है जीवन भर ढोने के लिए पीडा का भार । प्रसाद के सौन्दर्य, प्रेम और यौवन के वर्णन बडे ही सुन्दर हुए है ।

'लहर' से कवि का आशय मन की भावना से है । उसका कहना है कि मनुष्य को सुख के कमल-वन मे अपने को खो नही देना चाहिए । जिनका जीवन सूना और नीरस है उनके काम आना चाहिए ।

"तू भूल न री पंकज वन मे,
जीवन के इस सूने पन मे ।
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस-अधर ।।

प्रसाद के गीतो मे उनका दर्शन भी अपनी पूर्ण स्वस्थता और गम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुआ है जिसकी पूर्ण परिणति कामायनी मे हुई है जिसमे जीवन की करुणा है, आशा और आनन्द का सदेश और मानवता का शखनाद ।

यदि मैं कामायनी लिखता

श्री सुमित्रानन्दन पत

जिस प्रकार ताजमहल के उपकरणो को विच्छिन्न करके फिर उसी सामग्री से दुबारा ताजमहल बनाने की कल्पना नही की जा सकती उमी प्रकार कामायनी जैसी एक महान् कलाकृति की स्वर सङ्गति को भङ्ग कर फिर से उसका निर्माण करने की सभावना मन मे नही उठती। कामायनी हिमालय सी दुलघ्य न हो पर श्रद्धा और मन की ममरस तन्मयता की पावन ममाधि ताजमहल सी आश्चर्यजनक अवश्य है। वह अपने युग की सर्वागपूर्ण कृति न हो पर सर्वश्रेष्ठ कृति निश्चय—पूर्वक कही जा मकती है

पिछले पचास वर्षो मे हिन्दी जगत् मे, भाषा तथा साहित्यसृजन की दृष्टि से, एक महान् क्राति उपस्थित हुई हैं। इन वर्षो मे बृहत् चोटी का निर्माण न हुआ हो किन्तु महान् तथा व्यापक परिवर्तन अवश्य हुए है। भारतेन्दु का स्नेह सभ्रम-पूर्वक स्मरण करते हुए हम सहसा द्विवेदी युग मे प्रवेश करते है जिसकी सुष्ठु सतुलित व्यवस्था को देखकर मन को सन्तोष तथा प्रसन्नता होती है। कुहासा छॅट जाता है खडी बोली निर्भीक रूप से आगे कदम बढाने लगती है। उसकी गति मे एक नया तुला सौन्दर्य, अङ्गो मे कटा छॅटा सौष्ठव आ जाता है। अनेक गुणी गुञ्जार करने लगत है आम्र की मद्य मञ्जरित डाली मे पुँस कोकिल माधुर्य की श्रीवृष्टि करने लगता है। और कही नवीन प्रयत्नो की वाटिकाओ मे नवीन जागरण का स्पष्ट गुञ्जरण सुनाई पडता है। रीतिकाल की कलारूढ परम्पराओ को अतिक्रमण कर साहित्य चेतना सुदूर अतीत के गौरव से मडित होकर निखर उठती है। पौराणिक सगुण ह्रास युग के रस विलास से ऊबकर खडी बोली के माध्यम मे नवीन सुगठित कलेवर धारण करने लगता है। भावना मे फिर से उदात्त आरोहण परिलक्षित होने लगता है। यत्र-तत्र प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किन्तु सर्वत्र चिर-कालीन सास्कृतिक प्रवाह का करुण क्रदन तथा देशप्रेम की जाग्रत् भारती का आह्वान वातावरण को ओत प्रोत कर देता है। सास्कृतिक पुनर्जागरण के सुमेरु की तरह राष्ट्रकवि गुप्तजी का महान व्यक्तित्व सर्वोपरि शिखर की तरह उठकर ध्यान आकृष्ट कर लेता है।

द्विवेदी युग के बाद छायावाद के युग का समारम्भ होता है। मन की नीरव बीथियो मे निकल कर, लाज भरे सौन्दर्य मे लिपटी, एक नवीन काव्य चेतना युग के निभृत प्राङ्गण को सहसा स्वप्न मुखर कर देती है। पिछली वास्तविकता

की इतिवृत्तात्मकता नवीन कला संकेतो के अरूप सौन्दर्य मे तिरोहित होकर भावना के सूक्ष्म अवगुण्ठनो के कारण रहस्यमयी प्रतीत होने लगती है। प्रभात की अरुणिमा उषा की कनक छाया बन जाती है, दिन प्रतिदिन का प्रकाश स्वप्नदेही ज्योत्सना की नवीन मौन मधुरिमा के सामने अनाकर्षक लगने लगता है। अपनी अर्धखिली कलियो के देहपात्र मे छायावाद एक नवीन प्रेम तथा सौन्दर्य की ज्वाला को लेकर आया जिसके मर्ममधुर स्पर्श मे हृदय की शिराएँ शीतल वेदना की आकुल शांति मे सुलगने लगी।

इस नवीन युग के प्रवर्तक रहे है हमारे चिर परिचित 'श्री जयशङ्कर प्रसाद।' रूप से अरूप की ओर आरोहण, सत्य से स्वप्न की ओर आकर्षण, जो एक नवीन रूप तथा नवीन सत्य के आह्वान का सूचक था, सर्वप्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र की भुवन-मोहिनी हृदयतन्त्री मे जाग्रत् तथा प्रस्फुटित हुआ। वह भारतीय दर्शन तथा उप-निषदो के अध्यात्म के जागरण का युग था, जिसकी चेतना हिन्दी मे खडी बोली की ऊबड-खाबड खुरदरी धरती से सघर्ष करती हुई प्रसादजी के काव्य मे अकुरित हुई। छायावाद केवल स्वप्न सम्मोहन बनकर रह जाता, यदि प्रसादजी उसमे कामायनी जैसे महान काव्य सृष्टि की अवतारणा न कर जाते। कामायनी को छोडकर, प्रसादजी मे भी अन्यत्र वह नवीन प्रकाश केवल अभिव्यक्ति की घनीभूत पीडा ही बनकर रह गया। हो सकता है कि प्रसादजी मे साकेत से जय भारत एव पृथ्वी पुत्र तक का बृहत् विस्तार न हो पर उनमे कामायनी जैसी महान कृति को जन्म देने की मौलिकता, गम्भीरता अथवा उच्चता अवश्य है। इसमे सन्देह नही कि कामायनी का कवि अत्यन्त महत्वाकाक्षी था, और कामायनी उसका एक अत्यन्त महत् प्रयत्न है वह उसमे कहाँ तक सफल अथवा विफल हुआ, अथवा क्या कामायनी और भी सफल एव सर्वाङ्गपूर्ण बनाई जा सकती थी — यह दूसरा प्रश्न है। इस प्रकार का प्रश्न कहाँ तक सङ्गत है यह भी विचारणीय है।

आइए, इसी ऊहापोह मे हम कामायनी के सुरम्य प्रासाद मे प्रवेश करे

कामायनी के आमुख मे प्रसादजी वेदो से लेकर पुराणो और इतिहास मे बिखरा हुआ, आर्य साहित्य मे मानवो के आदि पुरुष 'मनु' तथा कामगोत्रजा श्रद्धा और तर्क बुद्धि इडा का सक्षिप्त विवरण देते हुये अन्त मे लिखते है— 'मनु, श्रद्धा और इडा' अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुये साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमश श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।' आगे चलकर वे कहते है — 'कामायनी की कथा-श्रृङ्खला मिलाने के लिये कही-कही थोडी बहुत कल्पना को भी काम मे ले आने का अधिकार, मैं नही छोड सका हू।'

कामायनी को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहा तक मनु श्रद्धा आदि

के ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है वह केवल उसकी अतीत की गौरवमय पृष्ठभूमि, उसके पावित्र्य तथा उसके प्रति भावना जनित उपासना तक ही सीमित है। शेष केवल आदि मानव के मनोविधान के प्रस्फुटन, प्रवृत्तियो के सघर्ष, उनके निर्माण विकास तथा समन्वय से सम्बद्ध एक मनोवैज्ञानिक कल्पना सृष्टि भर है, जो कामनाओ की शिराओ से जकडी हुई है, जिसके शिखर पर आध्यात्म का समरस शुभ्र प्रकाश प्रतिफलित हो रहा है।

इसके स्पष्टीकरण के लिये पहले कामायनी के कथानक पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। वह सक्षेप मे इस प्रकार है— कामायनी मे पन्द्रह सर्ग है। जिनके नाम है क्रमश चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इडा, स्वप्न, सघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द जो मनुष्य के मन की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियो के नाम है और जिनका विकास-क्रम अधिकतर कल्पना की सुविधा के अनुसार ही रखा गया प्रतीत होता है।

भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध जल-प्लावन के कारण देवताओ की वैभव-सृष्टि जलमग्न होकर विनष्ट हो जाती है। मनु की चिन्ता से प्रतीत होता है कि अपने चरम शिखर पर पहुँचने के बाद वह देव सृष्टि के ह्रास का युग था, जिसका साँकेतिक अर्थ कामायनी मे नही मिलता। देवता अत्यन्त विलास-रत रहते थे, मनु के शब्दो मे—

प्रकृति रहे दुर्जेय, पराजित थे हम सब भूले मद मे
भोले थे हाँ, तिरते केवल सब विलासिता के मद मे।
वह उन्मत्त विलास क्या हुआ ? स्वप्न रहा था छलना थी— इत्यादि—

अस्तु प्रथम सर्ग मे जलप्लावन की भीषण पृष्ठभूमि पर उत्तुंग हिम शिखर का शुभ्र सौन्दर्य नैराश्य से निखरते हुये दृढ विश्वास की तरह मन को मोहक लगता है। भीगे नयन मनु का हृदय विगत स्मृतियो से उद्वेलित तथा चिताग्रस्त है। धीरे धीरे प्रलय प्रकोप शात हो जाता है, मनु मे आशा का सञ्चार होता है, वह फिर से यज्ञ करने लगते है। एक दिन श्रद्धा से उनका साक्षात् होता है, जो केवल मन के निचले स्तरो मे काम तथा वासना के रूप मे प्रकट होती है। श्रद्धा को इससे लज्जा का अनुभव होता है। कालातर मे मनु फिर कर्म की ओर प्रवृत्त होते है। असुर पुरोहितो के पभाव से वे हिंसक तथा अहेरियो का जीवन व्यतीत करने लगते है। श्रद्धा इससे असतुष्ट रहती है। एक दिन मनु वाद विवाद से ऊबकर श्रद्धा को छोडकर चले जाते है। उन्हे उसके महत्त्व को पहचानने के लिये और भी निम्न प्रवृत्तियो का अनुभव प्राप्त करना था। सरस्वती के तट पर वह हेमवती छाया सी इडा के सम्पर्क मे आते है। जो भेद-बुद्धि या तर्क-बुद्धि का प्रतीक है। इडा मनु को ऐहिकता की ओर प्रवृत्त करती है। वह उसकी सहायता से वहा राज्य बसाते

है, और भोग मे रत रहते है। श्रद्धा इस बीच पुत्रवती हो जाती है, वह मनु की प्रतीक्षा से निराश होकर उनकी खोज मे निकलती है। इडा पर आसक्त हो जाने के कारण देवतागण मनु से रुष्ट हो जाते है। प्रजा भी उनसे असन्तुष्ट होकर विद्रोह करती है। मनु युद्ध मे आहत होकर गिर पडते है। यह उनका चरम पतन है। इसके बाद मनु का उत्थान आरम्भ होता है। श्रद्धा के स्पर्श से वह जग उठते है और वहा से चुपके से निकल भागते है। श्रद्धा अपने पुत्र को इडा को सौप कर मनु की खोज मे जाती है। वह भागवत करुणा की तरह सदैव मानव की रक्षा के लिये आतुर रहती है। मनु उसके साथ फिर मन के शृ गो का आरोहण करते हुये इच्छा, ज्ञान, कर्म के त्रिपुर मे पहुँचते है। श्रद्धा उनका परिचय कराती है। तदनन्तर मनु मानस तट पर नित्य आनन्दलोक की प्राप्ति करते है, जहाँ विश्व के सुख दुख नही व्याप्त होते। उस समतल अधिमन की भूमि पर—

समरस थे जड या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखड घना था।

कामायनी का कथानक उसमे निहित काव्य-दर्शन की अवतारणा के लिये केवल सक्षिप्त रग मच का काम करता है। कथानक की दृष्टि से उसमे कुछ भी विशेषता नही है। उसमे न विस्तार है न विवरण और किसी प्रकार की प्रगाढता, हृदय-मथन अथवा भावो के उत्थान पतन की सूक्ष्मता भी नही है। सब कुछ अस्पष्ट तथा कल्पना की तहों मे लिपटा हुआ प्रसादजी के इच्छा इगित पर चलता प्रतीत होता है। भाव भूमि पर आधारित होते हुये भी भावनाओ के सवेग मे केवल शिथिलता तथा अनगढपन ही अधिक मिलता है। अत्यन्त साधारणीकरण के कारण वैशिष्टच का अभाव मन को खटकने लगता है। विधान का सौष्ठव, स्थूल और सूक्ष्म के बीच के कुहासे से गुफित छायापट की तरह, तीव्र अनुभूति के सवेदन मे घनीभूत नही हो पाया है। पर जैसा कुछ भी धुला-धुला रगो का छाया प्रसार है, वह सुथरा मनमोहक तथा बहुमूल्य है।

कला चेतना की दृष्टि मे कामायनी छायावादी युग का प्रतिनिधि-काव्य कहा जा सकता है। रत्नच्छाया व्यतिकर की तरह उसकी कला भावो की धूमिल वाष्प भूमि मे प्रस्फुटित होकर नेत्रो को आकर्षित किए बिना नही रहती। उसमे प्राणो का मर्म मधुर उन्मन गुजार, भावनाओ का आरोहण तथा व्यापक सौन्दर्यबोध की नवोज्वलता है। कुछ सर्गों मे प्रसादजी की कला हिमशिखरो पर फहराती हुई ऊपर की स्वर्णिम आभा की तरह हृदय को विस्मयाभिभूत कर देती है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है। अधिकतर वह आधे खुले आधे छिपे मुग्धा के अवगुठित मुख की तरह मन से आँख मिचौनी खेलती रहती है। वह हृदय को तन्मय नही करती केवल प्राणो मे रस स्रवण करती है। लज्जा सर्ग का आरम्भ प्रसादजी के कला जगत के लिए

उपयुक्त प्रवेशद्वार का काम करता है।

कोमल किसलय के अंचल में, नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी
गोधूलि के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी,
मजुल स्वप्नों की विस्मृति मे मन का उन्माद निखरता ज्यों
सुरभित लहरो की छाया मे बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों
नीरव निशीथ मे लतिका सी तुम कौन आरही हो बढ़ती,
कोमल बाँहे फैलाये सी आलिगन का जादू पढ़ती
किन इन्द्रजाल के फूलो मे लेकर सुहागकण राग भरे,
सिर नीचा कर ही गूँथ रही माला, जिससे मधुधार ढरे

इन उपमानो द्वारा प्रसादजी लज्जा का मूर्तिकरण करते हैं। सुरभित लहरो की छाया के बाद 'बुल्ला' शब्द खटकता है, जादू पढती तथा मधुधार ढरे भी अच्छे नही लगते। शब्दो के चयन मे इस प्रकार की शिथिलता कामायनी मे अत्यधिक मिलती है। जिसका कारण यह हो सकता है कि प्रसादजी को उसे दुबारा देखने का समय नही मिला। वैसे साधारणत कामायनी की कला चेतना मे जैसा निखार मिलता है कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प मे वैसी प्रौढता नही मिलती। कही कही छद भग तो असावधानी या छापे की गलती से भी हो सकता है, किन्तु बेमेल शब्द तथा श्लथ पद विन्यास इस महान् कृति के अनुकूल नही लगते। प्रायः प्रत्येक सर्ग एक स्वतन्त्र कविता की तरह आरभ होता है। उसमे बहुत कुछ ऐसा विस्तार तथा बाहुल्य है, जो प्रायः काव्य द्रव्य की दृष्टि से बहुमूल्य नही और जिस पर सयम रखने की आवश्यकता थी, जिससे सतुलन श्री वृद्धि हो सकती थी। 'दर्शन' शीर्षक सर्ग का छद भी उसके उपयुक्त नही प्रतीत होता। किंतु इन सब बातो का विस्तार पूर्वक विवेचन के लिए यह उपयुक्त अवसर नही है। रहस्य तथा आनद दायक सर्गों मे कुछ स्थलो को छोड कर कल्पना के आरोहरण के साथ ही कला मे भी सयम का सुमधुर निखार आ गया है। तथा—

सध्या समीर आई थी उस सर के वल्कल वसना
तारो से अलक गुँथो थी, पहनें कदम्ब की रसना
खगकुल किलकार रहे थे कलहँस कर रहे कलरव
किन्नरियाँ बनीं प्रतिध्वनि लेती थीं तानें अभिनव !
श्रद्धा ने सुमन बखेरा शत शत मधुपो का गुँजन
भर उठा मनोहर नभ मे मनु तन्मय बैठे उन्मन

अब हम सक्षेप मे कामायनी के दर्शन पर विचार करले। मानव मन की प्रवृत्तियो का सघर्ष, उत्थान पतन तथा उन्नयन ही कामायनी की दर्शन पीठ है। तर्क

बुद्धि इडा तथा श्रद्धा का समन्वय ही उसका निःश्रेयस भरा सदेश है। यह सब ठीक है मनु और इडा के आख्यान मे वर्तमान युग सघर्ष का भी यत्किंचित आभास मिलता है। यद्यपि उसमे नैतिक पतन को ही सघर्ष का कारण बतलाया गया है। जो आज के युग की समस्या के लिये पूर्णत घटित नही होता। किन्तु उसके बाद जो कुछ है वह केवल चिर परिचित तथा पुरातनतम, जिसे शायद आज का अध्यात्म अतिक्रम कर चुका है—अतिक्रम इस अर्थ मे कि वह मानव जीवन के अधिक निकट पहुच गया है। मनु इडा प्रेरित जीवन के सघर्ष से विरक्त हो भाग खडे होते है और जीवनकी भूमि को छोडकर मन के सूक्ष्म प्रतिमान रूप त्रिपुर को भी पार कर त्रिपुरारी के उस चैतन्य लोक मे पहुँचकर जीवन समस्याओ का समाधान पाते है जो सुख-दुख भेद-भाव के द्वन्दो से अतीत, समरस चैतन्य का क्रीडास्थल है। इडा, श्रद्धा, त्रिपुर और उनके पारस्परिक सबध मे तथा आनन्द की स्थिति के उद्वाहन के बीच अनेक प्रकार की जो छोटी मोटी दार्शनिक असगतियाँ तथा कल्पना का आरोप मिलता है उस पर विचार न करते हुए भी जिस अभेद चैतन्य के लोक मे पहुँचकर विश्व जीवन के सुख दुखमय सघर्ष से मुक्त होने का सदेश कामायनी मे मिलता है वह मुझे पर्याप्त नही लगता। मै मानव चेतना का आरोहरण करवा कर उसे वही मानस तट पर अथवा अधिमानस भूमि पर कैलाश शिखर के सान्निध्य मे छोडकर सतोष नही करता। वह आनन्द चैतन्य तो है ही और जीवन सघर्ष से विरक्त होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर यह तो विश्व जीवन की समस्याओ का समाधान नही है। मनुष्य के सामने प्रश्न यह नही है कि वह इडा श्रद्धा का समन्वय कर वहाँ तक कैसे पहुँचे—

उसके सामने जो चिरतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन, जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, इहलोक परलोक के बीच का, धरती स्वर्ग, एक बहु समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अतराल किस प्रकार भरा जाय। उसके लिये नि सशय ही इडा श्रद्धा का सामजस्य पर्याप्त नही। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नही लौट आये। आने पर भी शायद वह कुछ नही कर सकते। ससार की समस्याओ का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है, किन्तु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति मे पहुँच कर और वह भी व्यक्तिगत रूप से?

यही पर कामायनी कला प्रयोगो मे आधुनिक होने पर भी और कुछ अशो मे भाव परिधान से भी आधुनिक होने पर भी वास्तव मे जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नही दे सकी और अभिव्यक्ति देना तो दूर उसकी ओर दृष्टिपात कर उसकी संभावना की ओर भी ध्यान आकर्षित नही कर सकी। यह केवल आधुनिक

युग के विकासवाद मे काल्पनिक एव मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा आध्यात्म की दृष्टि से वही चिर प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एव समरस नित्य आनन्द चैतन्य का आरोहरण मूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य युग की अंतिम स्वर्णिम परिच्छन्द की तरह समाप्त हो जाती है।

किन्तु यह सब होने पर भी कामायनी इस युग की एक अपूर्व अद्वितीय महान काव्य-कृति है, इसमे मुझे सदेह नही। वह हमारे युग-प्रवर्तक प्रसादजी का शुभ्र शांत सौन्दर्य का पवित्र यश काय है, जिसे हिन्दी-साहित्य मे और सभवत विश्व-साहित्य मे भी जरामरण का भय नही है . . मैं यदि कभी लिखने की असभव बात सोचता भी तो मैं उसे इतना भी सफल तथा पूर्ण नही बना सकता, जितना कि उसे महान क्षमता तथा प्रतिभाशाली प्रसादजी बना गये है।

कामायनी उनके सौन्दर्य, प्रेम तथा भगवान के प्रति श्रद्धा की धरोहर की रहत सदैव अमर रहे और अपने प्रेमी पाठको को शाँति, सुख, सात्वना देकर आत्म कल्याण का पथ दिखाती रहे, यही एक मात्र मेरे हृदय की कामना है।

कामायनी में प्रतीकात्मकता

भगीरथ मिश्र

प्रतीक का प्रयोग काव्य मे प्राचीनकाल से चला आता है। वैदिक साहित्य मे विभिन्न देवता विभिन्न शक्तियो और गुणो के प्रतीक रूप मे आये है। उपनिषद् जातक आदि की कथाओ मे भी प्रतीको का प्रयोग है। यहाँ तक कि दर्शन के आधार पर विकसित नाथ, सिद्ध, सत और भक्ति साहित्य भी प्रतीको से ओत-प्रोत है। अत यह सोचना केवल भ्रम है कि आधुनिक हिन्दी काव्य मे प्रतीकात्मकता का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य के आधार पर हुआ है। 'पिलग्रिम्स प्रोगरेस' (अग्रेजी जॉन बनियन) के समान सत-साहित्य मे अनेक सवाद तथा केशव के 'विज्ञानगीता' काव्य है। जायसी तथा अन्य सूफी सतो के प्रेमाख्यान भी प्रतीक गर्भ है। दार्शनिक एव योगसाधना की प्रतीक शब्दावली से कबीर का साहित्य बोझिल है। इसी परम्परा मे, किन्तु आधुनिक युगीन नव्यता लिये हुए 'कामायनी' भी प्रतीकात्मकता महाकाव्य है। प्रतीको का प्रयोग नूतन ढग से भी आधुनिक युग के काव्य मे हुआ है।

स्थूल या इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष मे जब हम किसी सूक्ष्म वस्तु भाव, विचार या परम्परा आदि का आरोप करके, रूढ रूप मे उसको प्रस्तुत करते है, तब वह प्रत्यक्ष वस्तु प्रतीक कहलाती है। रूपक रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति और समासोक्ति से यह भिन्न है। रूपक मे प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनो का कथन होता है। रूपकातिशयोक्ति मे अप्रस्तुत का उपमान रूप मे केवल कथन होता है। अन्योक्ति मे अप्रस्तुत का कथन, आरोप-क्षेत्र की समस्त विशेषताओ के साथ किया जाता है और समासोक्ति मे अप्रस्तुत का अप्रधान रूप मे सकेत होता है। रूपकातिशयोक्ति से प्रतीक भिन्न इस बात मे है कि प्रथम मे उपमेय और उपमान, दोनो विशिष्ट एव स्थूल होते है। प्रतीक मे प्रस्तुत एक सूक्ष्मता या भावना का द्योतक होता है। अन्योक्ति के प्रतीक सबसे निकट है। परन्तु अन्योक्ति में, एक तो पूरे व्यापार का कथन होता है, वह क्षेत्र विशेष मे ही व्याप्त होती है, उस मे आरोप की परम्परा या रूढता आवश्यक नही, प्रतीक मे आवश्यक है। प्रतीक मे रूढता या परम्परा कभी-कभी अनभिव्यक्त किन्तु मान्य रहती है और कभी-कभी प्रयोग पुष्ट होती है। पर इसमे आरोप की विशेषताओ का प्रत्यक्ष निरूपण नही होता जैसा कि अन्योक्ति मे होता है। अन्योक्ति मे अप्रस्तुत का कथन होता है, प्रस्तुत का नही। यह भेद होते हुए भी कभी-कभी अन्योक्ति मे प्रतीकात्मकता आ जाती है।

'कामायनी' मे 'पद्मावत' के समान कथानक का महत्व प्रतीकात्मकता के कारण है। 'पद्मावत' का कथानक बिना प्रतीक बने ही रोचक है और प्रतीकात्मकता स्पष्ट

करने पर प्रत्यक्ष होती है। परन्तु 'कामायनी' मे कथानक की रोचकता प्रधानतया प्रतीकात्मकता के कारण ही है। और पात्रो मे प्रतीकत्व बराबर घुलामिला चलता है। 'कामायनी' मे प्रस्तुत स्थूल कथानक न विस्तृत है और न जटिल, परन्तु प्रतीकात्मकता ही उसमे मनोरमता का प्रमुख तत्व है। कहानी प्रतीक रूप मे इस प्रकार कही जा सकती है—

मनु चित्तवृत्ति के प्रतीक है, श्रद्धा रागात्मक हृद्‌वृत्ति की तथा इडा बुद्धि की प्रतीक है। ये देवत्व के अश या शेषाश है। देव-सस्कृति मे चित्तभोगोन्मुख एव साधन-सुख की अतिशय लिप्सा के कारण, प्रलयकारी परिस्थिति मे पडा और सब साधन ध्वस को प्राप्त हुए। यह देव-सस्कृति एक प्रकार से स्वर्ग की स्थिति की प्रतीक थी। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके पतति' के अनुसार मनु के रूप मे चित्त, प्रलय प्रताडित जलमग्न भूमि के निकट हिमगिरि अर्थात् साहस या धैर्य्य की उच्चभूमि मे प्रकट होता है। सुख-साधनो के नाश का दृश्य देखने के कारण विरक्ति और निराशा स्वभाविक है। उस स्थिति मे ममता, विश्वास, आशा, सेवा आदि रागवृत्तियो की प्रतीक श्रद्धा आती है। गाधारदेशीय उत्पत्ति, गधर्व देश मे कला की शिक्षा प्राप्ति, रागात्मक वृत्ति की परिष्कृति की द्योतक है। सर्वस्व समर्पण करके वह राग का विकास और विस्तार चाहती है पर मनु मे सस्कार-वशेन अह एव भोगलिप्सा विद्यमान है, अत पशु के स्नेह के प्रति उनमे ईर्ष्या होती है। यह चित्त की भोगवृत्ति आसुरी हिसावृत्ति (किरात आकुलि जिसके प्रतीक है) के मेल से पशु को मारती है। पशु शैवमत के पाशुपत सम्प्रदाय मे जीव का प्रतीक है। रागात्मिका वृत्ति के विकास और विस्तार के साथ, सकीर्ण चित्त के अह मे भोगलिप्सा के सस्कारो का मेल नही बैठ पाता और अपने निर्वाध स्वच्छद सुख की खोज मे निकल पडता।

मनु का सारस्वत प्रदेश मे गमन चित् का बुद्धि के साथ सयोग है। इसके परिणामस्वरूप नूतन शासन-शक्ति और अधिकार प्राप्त होता है। नियमो का निर्माण होता है, पर स्वछद अहकारी चित्तवृत्ति अपने बनाये नियमो का उल्लघन कर बुद्धि के साथ व्यभिचार करती है। इडा के साथ किया हुआ व्यवहार इसका प्रतीक है। इससे देवो के क्रोध का भाजन बनती है। वहाँ भी अपमान न सह सकने के कारण वह चिरआनन्द की खोज मे तप करने चली जाती है। रागात्मिका वृत्ति के सयोग पर ही उसे अभिलषित शान्ति प्राप्त होती है। यह शान्ति, इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामजस्य द्वारा आनन्द की स्थिति मे प्रवेश करती है। इच्छा, ज्ञान, कर्म—अर्थात् त्रिपुर के सामजस्य का रहस्य बताने वाली कामायनी या रागात्मिका हृद्‌वृत्ति ही है।

यह सामजस्य प्राप्त होने पर चित्वृत्ति जो रागात्मिकावृत्ति के साथ है, बुद्धि (इडा) और परम्परा (मानव) के लिए आराध्य या तीर्थ बन जाती है। इस स्थिति मे पहुँचने पर वह मनु (चित्), बुद्धि और परम्परा (इडा और मानव) को अद्वैतवाद

का उपदेश देते है। यह उपदेश 'कामायनी' मे इन पक्तियो मे आया है—

हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमी है।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमे कुछ नही कमी है।
शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है।

यहाँ पर जीवन चेतन का तथा वसुधा जड साधनो की प्रतीक है। चेतन और सम्पत्ति का सामजस्य है। इसके आगे है—

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में, बुद्‌बुद्‌-सा रूप बनाए।
नक्षत्र दिखाई देते, अपनी आभा चमकाए।
वैसे अभेद सागर मे, प्राणो का सृष्टि क्रम है।
सबमे घुलमिल कर रसमय, रहता वह भाव चरम है।
अपने दुख-सुख से पुलकित, यह मूर्त विश्व सचराचर।
चित् का विराट् वपु मगल, यह सत्य सतत चिर सुन्दर।
सबकी सेवा न पराई, वह अपनी सुख ससृति है।
अपना ही अणु अणु कण-कण द्वयता ही तो विस्मृति है।

यह समरसता के साथ अद्वयता की अनुभूति है। इसी स्थिति के साथ प्रत्यभिज्ञा अर्थात् परम चेतना की पुन पहिचान प्राप्त होती है और चारो ओर अखण्ड आनन्द दिखायी देता है। इसका वर्णन यो है—

प्रतिफलित हुईं सब आँखें, उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से।
समरस थे जड या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतना एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।

'कामायनी' के उपर्युक्त वर्णन मे अद्वैतवाद, शैवानन्दवाद, प्रत्यभिज्ञादर्शन, त्रिपुरा रहस्य आदि सिद्धान्तो का प्रभाव दिखाता है।

दैवी और आसुरी प्रवृत्तियो के सघर्ष को लेकर विभिन्न साहित्यो मे अनेक काव्य लिखे गये। 'रामायण', 'महाभारत', यूनानी कवि होमर का 'इलियड', अग्रेजी कवि मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट', 'रामचरित मानस' आदि इसके प्रमाण है। किन्तु 'कामायनी' मे उस प्रकार का सघर्ष नही है। इसमे दैवी प्रवृत्तियो का ही परस्पर असामजस्य और असहयोग दिखलाया गया है। इस असामजस्य और असहयोग की स्थिति मे उलझन, अविश्वास और उपद्रव बढते है। परन्तु इनकी समरस स्थिति मे द्वन्द्वत्व और द्वैतत्व नही, वरन् एकत्व, अद्वैतत्व और आनन्द है। इस प्रकार चेतन प्राणी की पूर्णता राग एव बुद्धितत्वो के सहयोग मे ही प्राप्त हो सकती है। यह 'कामायनी' का सन्देश है। मनु का साधक श्रद्धा के साथ ही विश्वास रूप हो सका

और श्रद्धा-विश्वास के मेल आनन्दरूप परमात्मा की प्राप्ति हो सकी जैसा कि तुलसी दास का मत है—"भवानी शकरौ वन्दे, श्रद्धा विश्वास रूपणौ। याभ्या विनान पश्चति सिद्धा स्वातस्थयीश्वरम्।"

'कामायनी' की प्रतीकात्मकता का यह दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से विश्लेषण है। अध्यात्मिक साधना की दृष्टि से एक और प्रकार की प्रतीकात्मकता भी 'कामायनी' मे देखी जा सकती है।

'तैत्तिरीयोपनिषद्' मे वर्णित आध्यात्मिक साधना कोशो मे मन शक्ति के प्रवेश का वर्णन है। 'कामायनी' मे इस साधना के दर्शन मनु के जीवन की विभिन्न अवस्थाओ मे देख सकते है। शरीर का सगठन पाँच कोशो (स्तरो) से युक्त माना जाता है—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। अन्न से बनी त्वचा से लेकर वीर्य तक का समुदाय अन्नमय कोश कहलाता है। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान इन पॉच प्राणो को प्राणमय कोश कहते है। मन, अहकार और कर्मेन्द्रियाँ मनोमय कोश के अन्तर्गत आती है। ज्ञानेद्रियॉ और बुद्धि का समूह विज्ञानमय कोश कहलाता है। शरीर का सब से भीतरी आनन्दमय कोश है। इसमे आनन्दमयी आत्मा का निवास होता है। 'कामायनी' की कथा मे आया है कि विलासिता के परिणाम स्वरूप प्रकृति का प्रकोप हुआ है और देवताओ का विनाश हुआ है। केवल मनु बच रहे है। मनु जो पाक यज्ञ करते है, वह अन्नमय कोश की अवस्था की प्रतीक क्रिया है। इसके पश्चात् श्रद्धा का साहचर्य प्राप्त होना और उत्साह का आना उनका प्राणमय कोश मे विकास होना है। फिर अह भाव का जागृत होना, सकल्प-विकल्प की स्थिति और इडा का ससर्ग होना मनोमय कोश का प्रतीक है। विज्ञानमय कोश की स्थिति तब आती है जब मनु और इडा सारस्वत नगर की व्यवस्था करते है, परिणामस्वरूप नगर की उन्नति होती है, उनकी एकाधिकार की भावना बढती है, इडा के प्रति अनैतिक व्यवहार वे करते है, फिर सघर्ष, विप्लव, ध्वस, पराजय की स्थितियॉ आती है। अन्त मे आनन्दमय कोश की स्थिति है जिसमे प्रसादजी श्रद्धा का त्रिपुरवेधन दिखाते हैं और उन्हे शिव के दर्शन होते है। बाद की समरसता, अद्वैतता और आनन्द की स्थितियॉ भी उसी के अन्तर्गत आती है।

सामाजिक दृष्टि से 'कामायनी' मे मनु, पुरुष के श्रद्धा साध्वी भावात्मक नारी तथा इडा बौद्धिक नारी की प्रतीक है। अनेक घटनाऐ तथा स्थितियाँ मानव सभ्यता के विकास और दशाओ की प्रतीक रूप सिद्ध होती हैं। जल-प्लावन की घटना भौतिक विलासिता एव सुख-साधन के भोग की अतिरेक अवस्था के परिणाम मे उपस्थित प्रवृति का प्रकोप या सर्वनाश है। मनु और श्रद्धा से इस प्रलय बचे हुए नर और नारी है। पुरुष के प्रतीक मनु मेस्वच्छन्दता, अहकार, निराशा, अधिकार-लिप्सा,

ईर्ष्या, परिवर्तन-प्रियता और पलायन है, परन्तु श्रद्धा मे इसके विपरीत नारी-सुलभ समर्पण, विश्वास, प्रेम, उदारता, ममता, सुकुमारता एवं आशावादिता है। इन गुणो से युक्त नारी को यदि पुरुष का विश्वास मिल गया तो वह जीवन के समतल मार्ग पर बहने वाली पीयूष-धारा बन जाती है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल मे
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल मे

पुरुष नारी से अलग या वियुक्त हो कर विराग, निराशा, चिन्ता और उलझन का शिकार बन जाता है। साथ ही नारी का एकातिक अधिकार उसकी वासना को जागृत करने वाला होता है। नारी के समर्पण को अधिकार समझना पुरुष की बर्बरता और अनाचारिता है। जैसा कि मनु से काम कहता है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की

अधिकार उसी अधिकारी को मिलता है जो समरस हो। द्वेषी, क्रोधी आवेशी व्यक्ति को नही। नारी सहनशीलता और क्षमा की प्रतीक है।

'कामायनी' की भूमिका मे प्रसाद जी ने इसकी प्रतीकात्मकता का स्वय सकेत किया है। उन्होने लिखा है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो बडा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने मे समर्थ हो सकता है।" (भूमिका पृष्ठ ४)। साथ ही, आगे इस प्रकार लिखा है—"अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य-स्थापना इत्यादि इडा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इडा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोपभाजन बनना पडा। इडा देवताओ की स्वसा थी। मनुष्यो को चेतना प्रदान करने वाली थी। यह इडा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच मे व्यवधान बनाने मे सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास मे—अधिक सुख की खोज मे—दुःख मिलना स्वभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इडा अपना ऐतिहासिक अर्थ रखते हुए, साँकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।" इस कथन से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक कथानक मे व्याप्त साकेतिक या प्रतीकार्थ के निर्वाह मे प्रसाद जी सचेत थे और दोनो ही का ध्यान रखते हुए उन्होने 'कामायनी' की रचना की थी। श्रद्धा, इडा और मनु के प्रतीकत्व को और स्पष्ट सकेतित करने के लिए ही प्रसाद जी ने लज्जा काम, वासना, निर्वेद जैसे सर्गो के नाम रखे है। लज्जा और काम को तो उन्होने साकार करने के लिए भी कुछ प्रयत्न किया है। लज्जा स्वय

अपना स्वरूप प्रकट करती हुई कहती है —

मै रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मै शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पग मे, नूपुर मे लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलो मे, आँखों मे अजन सी लगती।
कुचित अलको सी घुंघराली, मन की मरोर बनकर जगती।
चचल किशोर सुन्दरता की, मै करती रहती रखवाली।
मै हल्की सी मसलन हूँ, जो बनती कानो की लाली।

यहाँ पर लज्जा का स्वरूप, श्रद्धा की सखी के रूप मे साकार हुआ है। नारी का स्वरूप लज्जा के साथ अधिक आकर्षक होता है। पुरानी उक्ति है कि लज्जा नारी का आभूषण है। इसी की प्रसादजी ने यहाँ विवृति की है। श्रद्धा, नारी की सहज विशेषताओ मे युक्त मानवी है। जीवन मे सामजस्य का अमृत लाने वाली वही है। लेकिन उस पर पुरुष का विश्वास चाहिए। नारी के इस रहस्य का उद्घाटन करने वाली पक्तियाँ यह है :—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत पगतल मे
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल मे

मानव-सभ्यता के विकास के चित्रण मे अनेक घटनाये प्रतीकात्मक महत्व की है जैसे, पशु का पाला जाना और मारा जाना, तकली कातना —(स्वदेशी आन्दोलन का प्रतीक है), मनु का सारस्वत देशवासियो के साथ युद्ध (यात्रिक सभ्यता के विकास मे सघर्ष का प्रतीक है) शिव का ताण्डव सृष्टि के आदिम विकास का प्रतीक, कर्मलोक आज के भाग-दौड वाले युग का प्रतीक है। ये मोटे स्थल है, जिन मे प्रतीकात्मकता स्पष्ट है। अनेक अन्य चित्रणो में प्रतीक भाव विद्यमान है, जिन्हे विशद उदाहरणों के साथ 'कामायनी' मे दिखाया जा सकता है।

इस प्रतीकात्मकता के स्पष्ट होने पर यह बात प्रकट हो जाती है कि 'कामायनी' के कथानक की ऐतिहासिकता मानव सभ्यता के विकास की प्रतीक है, केवल एक प्राचीन कथानक नही। साथ ही इसका सदेश सघर्ष और द्वन्द से छिन्न-भिन्न मानव को सामरस्य के आनन्द मे मग्न करने का मार्ग बताने वाला है। 'कामायनी' से भी अधिक विकसित प्रतीकात्मकता को अपनाकर रचा हुआ महर्षि अरविद का 'सावित्री' महाकाव्य है जो आज के वैज्ञानिक युग की अद्भुत आध्यात्मिक कविता की देन है। 'कामायनी' मे काव्य-तत्त्व प्रधान और स्पष्टतया परिव्याप्त है। प्रतीकात्मक होते हुए भी यह काव्य ही है, दर्शन या अध्यात्म नही। इस महाकाव्य ने केवल हमारी अनुभूति को समृद्ध बनाया, वरन् उसका परिष्कार कर उच्च भावभूमि की ओर अभिमुख किया है। अतएव कामायनी' हमारे युग को प्रसाद की एक महत्वपूर्ण देन है।

'कामायनी' और मानवीय प्रेम

कृष्णचन्द्र जोशी

'कामायनी' मे प्रसाद ने कहा है कि मानव-भावो का सत्य ही हमारी चेतना का इतिहास है। इनमे प्रधान मानव की प्रेम-भावना है जिसका साम्राज्य 'कामायनी' के प्रथम से अन्तिम सर्ग तक फैला हुआ है परन्तु जिसने अनन्त रमणीक आदि-प्रकृति से अथवा उस आदि सृष्टि के पहले होने वाले स्रष्टा से भी कोई सम्बन्ध नही रखा है। मनोरवसर्पण के सौदर्य और प्रकृति की सत्ता का आवरण कथा मे सर्वत्र विद्यमान है पर कवि या मनु का उसके लिए प्रेम नही है। मनु के मुख से कहा गया है "स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मै वैसी चाहता नही इस जीवन की" जैसे कि वे शैल-शृग। और ईश्वर की तो मानो अवहेलना ही की गई है, खोजने पर भी 'कामायनी' मे उस स्रष्टा की, उस नीति विधाता की कोई चर्चा नही मिली, जिसके आदेश और नियम पर मनु ने सृष्टि रचना का भार लिया था। एक स्थान पर उस विराट् विश्वदेव के प्रति पुकार है जो आकाश मे ग्रहो, नक्षत्रो को चलाता है और जो जीवन मे लालिमा देता है। उत्तर के रूप मे हिमालय का विश्व-कल्पना सा ऊँचा आकार सान्त्वना देता है। अन्य स्थानो पर चिन्ता का निवारण श्रद्धा या इडा के दर्शन से होता है। हिमालय प्रकृति का उत्कृष्ट रूप अवश्य है परन्तु सृष्टि मे सर्वत्र नही है, मानव मानव के नैतिक सम्बन्ध मे बाहरी प्रकृति का प्रभाव होना आवश्यक नही। इसी सम्बन्ध मे ईश्वरी प्रेम विद्यमान है जो मनुष्य को मनुष्य से, पति को पत्नि से, पिता को पुत्र से मिलाता है, एक व्यक्ति के प्रेम को विश्व स्तर पर ले जाता है। क्योकि प्रसाद ने इस महान सम्बन्ध की अवहेलना की वे मनु के चरित्र को जीवित नही बना पाये। प्रजापति मनु ने प्रजा से युद्ध किया, पत्नी को छोडा, पुत्र की ओर तो विरक्ति पहले से ही थी, एक सुधरे हुए कामुक व्यक्ति के समान उन्होने केवल नारी को ही आराध्य माना। प्रसाद की कल्पना मे इस न्यूनता को समझते हुए ही इस लेख के शीर्षक मे मैने इस अभिप्राय को रखा है।

जिस प्रेम को मनु नही समझ सके उसे श्रद्धा ने ही निबाहा। जब हम प्रेम की कल्पना करते हैं तो नर और नारी के बराबर भाग को उसके आदर्श मे देखते है। Milton का आदम अपनी सहचरी के पतन को देखकर स्वय भी अपनी अमरता के स्वर्ग को छोड कर गिरने के लिये उद्यत हो जाता है। Othello और Desdemona, Antony और Cleopatra साहित्य के अन्य युगल प्रेमी है जो प्रेम पर साथ-साथ बलि होते हैं, उनका अन्त मानो प्रेम की विजय का प्रतीक है। परन्तु यहाँ श्रद्धा अकेली

है, सृष्टि को अपने शरीर मे वहन करने के साथ मनु की चेतना को भी वही जागृत करती है। प्रेम के दो महान उद्देश्य यही है-समाज की सृष्टि और मानव की आन्तरिक चेतना का विकास जिनमे सृष्टि-प्रजनन के लिए प्रसाद की घोर विरक्ति है क्योकि इसको पूर्ण करने के लिए नारी को नर की वासना का शिकार होना पडता है और उसे जो प्रसाद के शब्दो मे कवि की कात कल्पना के समान सुन्दर है अपरूप होना पडता है। उसका 'पीलापन' और 'खेद भरा रूप' प्रसाद को सह्य नही है और इसकी आवश्यकता पर उन्हे बडा क्षोभ है—'पल भर की इस चचलता ने खो दिया हृदय का स्वाधिकार'। इसीलिये मनु का चरित्र वह ज्वलत नही बना पाये और काम को मनु मे तथा अन्य पात्रो मे उन्होने मदिरा का सगी दिखाया। इस प्रकार मनु और श्रद्धा उस पुरातन सघर्ष को भी दिखाते है जो सदैव से वासना और भावना मे होता आया है। विशुद्ध प्रेम मे वासना की आवश्यकता क्यो रहे, वासना यदि मन को सतप्त करती है तो क्या वह प्रेम की स्वच्छता पर पाप जैसी नही बैठती—यह प्रश्न सभी धर्मों मे सदैव से उठते आये है और सभी साहित्यो मे प्रतिबिम्बित हुये है। पुरुष की वासना की विशेष ताडना ईसाई मत मे हुई है। Genesis की कहानी मे नारी नर को वासना की ओर प्रेरित करती है। Ecclesiast मे नारी की बाहे अहेरी के जाल के समान कही गई है और St Paul के शब्द थे कि नारी से ही ससार मे पाप प्रवेश करता है और हमे नष्ट करता है। हिन्दू सतो ने भी नारी ही को दोष दिया, यहा तक की मीरा के प्रेम को निरर्थक कर दिया और तुलसी से नारी की अवहेलना कराई। तुलसी ने आदर्श नारी को पार्थिव नही परन्तु लक्ष्मी का अवतार समझा था। इसी लिये उन्होने उर्मिला का विचार तक न किया, तारा के चरित्र को संशय मे डाला और यदि जीवित किया तो कैकेयी और मन्थरा को। उसके बाद हमारे धर्म साहित्य मे वासना का भय एकमूलक सिद्धान्त बन गया। मन तनिक भी विचलित हो तो उसको चाबुक मारो—'ऐसो जो हो जानतो तू जैहै रे विसै के सग, ओरे मन मोरे हाथ पाव तोरे तोरतो' इस प्रकार हिन्दी के Metaphysical कवि देव ने उसको व्याख्या दी। प्रिय का प्रथम दर्शन और उसके बाद प्रेम-व्यापार भय, सशय, सकोच, लज्जा के मिश्रण से अनोखे सौन्दर्य को प्राप्त कर गये। तुलसी के राम ने जब सीता को प्रथम बार देखा तो कुतूहल को भय ने दबाया। बालकाण्ड के 'लरिका' राम ने भी शेखी बघारी कि मैं तो रघुवशी हूँ कभी परनारी नही देखी, मन पर बडा विश्वास है, फिर यह चचलता कैसी। "रघुवसिन का सुहज सुभाऊ, मन कुपथ पगु धरे न काऊ। मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी, जेहि सपनेहु पर नारी न हेरी।" इस भय और सकोच ने फिर प्रेम के ऐसे विशुद्ध रूप को साहित्य मे रखा कि उसका निखार विरह मे ही मिला क्योकि वासना तो मिलन मे आती है। इस विचार की और वृद्धि हुई और कुछ लेखको ने प्रेम की असीम वेदना को मिलन मे

भी देखा, उस रहस्यमय दीवार मे जो कि समीप बैठे हुए प्रेमियो के भी बीच मे आ जाती है और उनके हृदयो को अवरूद्ध कर देती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा कि यह वेदना भावी विरह की सूचक है क्योकि विरह अवश्यम्भावी है। Gide और Pronst ने इस वेदना को सस्कारो मे देखा, प्रेमी एक दूसरे के सम्मुख है एक दूसरे के लिए आतुर है परन्तु जन्म-जन्मान्तर के आक्षेप से एक आलिगन तक के लिये असमर्थ मानो कि छूते ही कल्पना की तामीर गिर पडेगी। 'कामायनी' मे यह सघर्ष पूरे चार सर्गो तक चलता है—'श्रद्धा', 'काम', 'वासना', 'लज्जा' और तब आता है 'कर्म' मानो प्रसाद झिझकते थे इसका असली नाम देने से। पहले तो मालूम ही नहीं होता कि श्रद्धा कौन है, मनु भी बाद तक यही पूछते रहते है, उसका अवतरण लिङ्ग-हीन अवस्था मे हुआ है और उसका वर्णन केवल उपमा के आडम्बर से किया गया क्योकि शारीरिक वर्णन मे वासना प्रवेश कर जाती। केवल काम के उत्पन्न होने पर ही कवि ने उसके 'खुले मसृण भुजमूल' दिखाये है। उसके पहले श्रद्धा एक नितान्त रहस्य है।

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष
गूढ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष

मनु उससे अत्यधिक आकर्षित है परन्तु सकोच मनु के हृदय मे अकारण वेदना उत्पन्न करता है, समीप होने पर भी श्रद्धा दूर है—"तुम समीप, अधीर इतने आज क्यो है प्राण", परन्तु श्रद्धा की ओर से कोई अन्य आमन्त्रण नही है क्योकि उसका आनन्द इसी स्नेह वर्षा मे है, मनु के ऊपर, पशु, वृक्ष और समस्त चराचर जगत पर। इस सकोच के मूल मे प्रसाद ने विश्व वेदना से चिन्तित और सृष्टि भार से त्रस्त मनु के हृदय को रखा है यद्यपि उस चिन्ता और त्रास का कोई कारण समझ मे नही आता। परन्तु अभिप्राय स्पष्ट है—श्रद्धा का चित्र इतना स्वच्छ तथा निर्मल रहे कि जिससे सिद्ध हो कि नर और नारी के प्रणय की वेदना केवल नारी ही सह सकती है और प्रेम पर बलि हो सकती है। श्रद्धा का समर्पण एक प्रकार का त्याग सा प्रतीत होता है और जैसे Eve के फुसलाने पर Adam ने भी पाप मे गिरना ही अच्छा समझा वैसे ही श्रद्धा ने भी मनु के फुसलाने पर कदाचिद् सोमपात्र मुख से लगा लिया। प्रसाद की प्रेम-सृष्टि की देवी सर्वमगला नारी है और उस नारी को शरीर और मन से विकृत करने वाला, उच्छृखल नर है।

कदाचित् नारी के चरित्र को ही उज्ज्वल और तीक्ष्ण करने के लिये मनु को श्याम रग मे बनाया गया। परन्तु अपने साकेतिक अभिप्राय को सिद्ध करने के हेतु प्रसाद ने अचानक मनु के चरित्र को अपूर्ण और असगत बना डाला। श्रद्धा के अवतरण की भूमिका मे उन्होने मनु को सतप्त, देव द्रोही Naturalist दिखाया जो केवल प्रकृति की सत्ता का ही लोहा मानता है। इसका कोई कारण नही दिया गया

है परन्तु ऐसे बुद्धिवाद के सम्मुख जब देव बाला श्रद्धा प्रकृति से विभिन्न अपने सौन्दर्य को लेकर प्रकट होती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनु अब नई भाषा सीखेगे और चार सर्गों तक प्रेम के पाठ मे मनु का शिक्षण होता है। यह चार सर्ग 'कामायनी' मे सब से उत्तम है परन्तु मनु अस्वाभाविक ईर्ष्या के शिकार क्यो होते है ? श्रद्धा का पशु के प्रति स्नेह देखकर मनु के हृदय की टीस असगत है क्योकि प्रेम मे ईर्ष्या इस प्रकार नही जन्म लेती। ईर्ष्या प्रेम का inversion है। प्रेमी दूसरे के प्रेम मे अपने से भी प्रेम करता है और उसमे ठेस लगने पर ईर्ष्या उत्पन्न होती है, परन्तु वह बराबर के व्यक्ति के लिये होती है पशु के लिये या सन्तान के लिये नही। दुष्यन्त को इस विचार से अनुराग उत्पन्न होता है कि उसकी शकुन्तला कोमल मृगियो से स्नेह करती हुई स्वय भी उन्ही के समान हो गई है। सन्तान की ईर्ष्या से पत्नि को छोड देने का दृष्टान्त साहित्य मे कदाचित् ही मिले और इसमे प्रसाद का अभिप्राय यही हो सकता है कि श्रद्धा को विरह की आँच मे भी रखा जावे और किसी प्रकार इडा कथानक मे लाई जावे, यद्यपि इडा का प्रवेश इसके बिना भी सभव था। परन्तु यह सब प्रजापति मनु के चित्रण मे विस्मयकारी स्थल है। जिन्होने वृक्ष जगत के बीज लगाये, फिर अपनी नाव मे बचाये हुये पशुओ का, छलने वाले मत्स्य का भी पोषण किया, फिर जिन्होने उस महत्वपूर्ण क्षण की प्रतीक्षा की जिससे सृष्टि का प्रजनन हुआ, वे मनु गर्भिणी श्रद्धा को देखकर भाग खडे हुये। भवभूति के राम ने गर्भिणी सीता की दोहदेच्छा पूरी करने के लिये नाना प्रबन्ध किये थे, एक रात्रि एकान्त मे सीता के उदर मे उन्होने अपने हाथ से दो बालको की आकृति पहचान कर विशेष आनन्द का अनुभव किया। उसके उपरान्त जनता के आक्षेप पर गुरुजनो के आदेश से उन्हे सीता को बन मे छोडना पडा। यह विच्छेद इतना करुणाजनक है कि 'अपि ग्रावा रोदिति', पत्थर भी रोता है। परतु श्रद्धा के विरह मे केवल विस्मय होता है, करुणा बहुत साधारण।

'कामायनी' कथा मे पात्रो को छोडकर यदि हम उसके साकेतिक अर्थ पर जावे तो प्रसाद का अभिप्राय कुछ अधिक समझ मे आ सकेगा। उन्होने पुरुष मे दो प्रधान गुण दिखाने का प्रयत्न किया—एक ज्ञान की पिपासा जो इडा के मोह मे हमने देखी और दूसरी मुक्ति की इच्छा जो श्रद्धा के परित्याग मे देखी। दोनो बाते प्रेम की शत्रु है। इस प्रकार मनु की कल्पना European साहित्य के Faust और Don Juan से प्रभावित मालूम होती है। मनु की आने वाले बुद्धि मानव की कल्पना है थोडी भिन्नता के साथ। जबकि Faust और Don Juan की नारियाँ उनके उच्छृंखल चरित्र को तीव्र बनाने का साधन थी यहाँ पर मनु साधन बनता है नारी के चरित्र को और मधुर बनाने के लिए। कवि के लिए यह उद्देश्य इतना प्रबल है कि इडा के चरित्र मे भी उसी नारी का दूसरा रूप है। इस देश के पहले

साहित्यकार अपनी कहानियो मे एक ही नायिका रखते थे क्योकि दो रखने मे उन दोनो मे भेद कैसे कर पाते। आदर्श नारियाँ सभी एकसी होती है और समीप से देखने मे भी कालीदास की शकुन्तला, मालविका, उर्वशी मे कोई विशेष भेद नही मिलता। आदर्श लेकर चित्रण करने वाले कवि के लिए चरित्र भेद कठिन कार्य है और इसलिये प्रसाद की इडा श्रद्धा का दूमरा रूप है। उन्होने भिन्नता देने का प्रयत्न अवश्य किया है जैसे शारीरिक वर्णन मे। इडा का केश पाश कैसा था, जैसा तर्कजाल और वक्षस्थल ज्ञान-विज्ञान सदृश्य, क्योकि इडा मे बुद्धि का सकेत है। पर वह भी श्रद्धा जैसी तिरस्कृता हुई क्योकि मनु ने उसकी बात को ठुकराया। मनु के पतन पर उसने भी मनु का साथ नही छोडा, मनु कुमार से उसने भी माता के समान स्नेह किया और मनु के लिए वही नारी का हृदय दिया जिसके सिन्धु मे 'बाडव ज्वलन' थी। इडा और श्रद्धा दोनो अपने अस्तित्व को मनु के दर्पण मे ही देखती है, दोनो एक रूप है।

ईमाई मत और हिन्दू सन्त परम्परा ने मानवी प्रेम को ईश्वरी प्रेम के बराबर रख कर, वासना को बाधा और नारी को वासना का मूल मानकर नर-नारी के प्रेम को काम और विषय का प्रतीक समझा। साहित्य ने इस सघर्ष को समय समय पर अतीव वेदनामय तथा मधुर रूप दिया और ऐसे प्रेम की कल्पना की जिसमे वासना का प्रवेश नही था, और जो ज्वाला के समान समस्त चराचर जगत् को अपने पाश मे लेकर उसके स्रष्टा के समीप पहुँच सकता था। नर और नारी को भी अलग रखना आवश्यक नही रहा। जिस कवि ने बुद्धि और बल को ससार के लिए अनिवार्य समझा उसने नारी के माधुर्य को उसका अनुगामी बनाया। परन्तु जिसने भावना और श्रद्धा को प्रधान माना उसने मनु जैसे उद्धत, आस्था रहित नर को उसका आवश्यक परन्तु वाम अग बनाया। प्रसाद की नारी वासना की मूल नही है पर वासना की रोक है, श्रद्धा से उसकी अन्त काया लज्जा कहती है—"मै एक पकड हू जो कहती ठहरो कुछ सोच विचार करो।" तो अब पात्र बदल गए और नर वासना का मूल हो गया क्योकि शरीर की बनावट और प्रकृति से काम-बल उसी के पास तो है। नारी केवल श्रद्धा रह गई, वह पुरुष को मसार मे कर्म के लिये, आखेट और युद्ध मे गौरव के लिये बाहर भेजती है जब स्वय घर मे जीवन और सृष्टि के भार को वहन करती है, ब्रह्माण्ड के ऋतु नृत्य को अपने शरीर मे झेलती है। इसी लिये नारी का चरित्र पुरुष से भिन्न होता है, जिस भिन्नता को मूर्खतावश पुरुष रहस्य का भी नाम देता है। वह न उन्मुक्त है न अकेली रह सकती है। एक पुरुष को प्राप्त करने के पश्चात् वह अधिकतर उसके ही बन्धन मे सन्तुष्ट रहती है। अमेरिकन नारी स्वतत्र समझी जाती है परन्तु कुछ अन्वेषको की पूछताछ के पश्चात् निष्कर्ष निकला है कि विवाह के उपरान्त बहुत कम स्त्रियाँ ऐसी थी जिन्होने पर 'पुरुष के'

सहवास की इच्छा की जब कि विवाह के पहले ऐसी स्त्रियो की सख्या बहुत अधिक थी जिन्होने ऐसे पुरुषो से सहवास किया जिनसे उन्होने विवाह नही किया। दूसरी ओर पुरुष की वासना-पूर्ति के लिये अमेरिकन नगरो मे एक प्रतिशत आबादी केवल वारागनाओ की है। प्रसाद ने सृष्टि मे नारी की पुन स्थापना की कल्पना की है, चाहे नर को क्या ईश्वर को भी हटा कर की हो। प्रारम्भ मे ही मैने 'कामायनी' की ईश्वर-हीनता की ओर सकेत किया था, अब वह स्पष्ट हुआ। इस सृष्टि की विधायिका नारी रहेगी जो पत्नी, प्रेमिका, सहचरी, माता, गुरु और देवी भी है। सारस्वत प्रदेश के राज्य सचालन मे मनु की यात्रा मे इडा और श्रद्धा मनु के गुरु बनते है और मनु का उद्गार—'तुम देवी आह कितनी उदार, वह मातृ मूर्त्ति है निर्विकार' किसी ईश्वरीय शक्ति के लिये प्रार्थना सा लगता है। नारी ही प्रसाद की कल्पना मे ईश्वर है और उसकी सृष्टि का विधान नीति या बल या धर्म पर नही वरन् भावना, श्रद्धा और प्रतीति पर रहेगा।

कथा के चित्रण मे जहाँ कमी है वहाँ कवि की इस मूल कल्पना ने तारतम्य अवश्य स्थापित कर दिया है। अन्तिम सर्ग मे आनन्द प्रेम की विजय से नही परन्तु नारी की विजय से प्राप्त होता है। इस लेख मे ऊपर यह भी अनुभव किया गया था कि मनु और श्रद्धा प्रेम-व्यापार मे समान रूप से भागी नही है, मनु की प्रारम्भिक अनास्था, ईर्ष्या और श्रद्धा का परित्याग समुचित कारण से नही हुए। इडा के प्रति आकर्षण और फिर श्रद्धा की ओर वापिसी कथानक की आकस्मिक परिस्थितियाँ है—जिनके लिये पर्याप्त भूमि नही दी गई। और अन्त मे आनन्द की उपलब्धि केवल इसी से है कि पुरुष अपने कुटुम्ब को लौट आया, जिसकी अधिष्ठात्री उसकी पत्नी है और जो इतना व्यापक है कि इडा के लिये भी उसमे स्थान है। यह आनन्द केवल सतोष मे है जो युरोपीय प्रेम कथानको के तुमुल निष्क्रमण की अपेक्षा बहुत साधारण है। परन्तु 'कामायनी' तो श्रद्धा नारी की कथा है, नर-नारी के आदान प्रदान या उन मे से किसी के त्याग या बलिदान की नही। इसका विषय है नारी का स्नेह साम्राज्य जिसके द्वारा प्रजनन के पश्चात् चेतनता की जागृति होगी—'प्रेम मे सब भागी हों एक चेतनता का विलास'। प्रसाद की आने वाली सृष्टि मे नारी कुटुम्बिनी भी है जो पुरुष का साथ देती है, उसके लिये आवश्यकतानुसार प्रसव भी करती है। आजकल के त्रस्त और बिखरे हुये जीवन मे प्रसाद ने ससार का त्राण इसी कुटुम्ब-विस्तार मे देखा।

नारी का यह साम्राज्य कहा तक जाएगा क्योकि 'कामायनी' मे पुरुष को केवल बौद्धिक सम्बल दिया है और जो प्रजनन शक्ति पुरुष के भाग से आवश्यक है उसको आकस्मिक, मदिरा और वासना के आवेश का परिणाम बना दिया है। यह आवश्यकता प्रसाद को अप्रिय है, तो क्या प्रसाद के मन मे वह विचार तो नही था जिसकी कल्पना Spinoza ने भी की थी कि ऐसे कुटुम्ब की अधिष्ठात्री नारी द्वारा

प्रजनन काम के बिना भी सम्भव हो सके। हमने मधु मक्खियो मे देखा है कि केवल एकमात्र सहवास से मक्खियो की रानी लगभग सदैव के लिये प्रसव करती जाती है। आधुनिक विज्ञान ने जीव 'कोश का पुनर्निर्माण न होने पर भी सम्भव माना है। प्रेम की विशुद्ध भावनामय कल्पना ऐसी ही अवस्था मे सम्भव है कि भविष्य की नारी एक Pantheistic कुटुम्ब की अधिष्ठात्री हो जिसमे काम अनावश्यक हो और वह द्वयता, जिससे प्रसाद विशेष चिन्तित थे, जो अनावश्यक सघर्ष कराती है, समाप्त हो जावे—'अपना ही अणु-अणु, कण-कण, द्वयता ही तो विस्मृति है।' प्रसाद इसको पूरा-पूरा नही कह पाए परन्तु इस ओर भी सकेत अवश्य था। भविष्य के कुटुम्ब मे, दूसरे की अपनी सेवा मे कोई भेद न हो, अपने दूसरे मे भेद न हो नारी मे कोई कमी न हो उसमे पुरुष के अवयव तक हो, कुटुम्ब के इस रूप मे ससार को आशा है। इस प्रकार नारीत्व जागृत होकर आने वाले युगो मे सृष्टि का निर्धारण करेगा। इसी को मनु ने श्रद्धा से सीखा और इसी को इडा से कहा—

हम अन्य न और कुटुम्बो, हम केवल एक हमी हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है॥

इस नारीश्वर की कल्पना करने वाले पुरुष कवि के प्रति मेरी यह श्रद्धाजलि है।

कामायनी में रूपक-तत्व

नगेन्द्र

कामायनी के रूपक-तत्व की व्याख्या करने से पूर्व दो प्रश्नो का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है —

१ रूपक से क्या अभिप्राय है ? और २ कामायनी रूपक है भी या नही ?

रूपक के हमारे साहित्य-शास्त्र मे दो अर्थ है। एक तो साधारणत समस्त दृश्य-काव्य को रूपक कहते है, दूसरे रूपक एक साम्य-मूलक अलकार का नाम है जिसमे अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद आरोप रहता है। इन दोनो से भिन्न रूपक का तीसरा अर्थ भी है जो अपेक्षाकृत अधुनातन अर्थ है और इस नवीन अर्थ मे रूपक अँग्रेजी के 'एलिगरी' का पर्याय है। 'एलिगरी' एक प्रकार के कथा-रूपक को कहते है। इस प्रकार की रचना मे प्राय एक द्वि-अर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ होता है। हमारे यहाँ इस प्रकार की रचना को प्रायः अन्योक्ति कहा जाता था। जायसी के पद्मावत के लिये आचार्य शुक्ल ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। रूपक के इस नवीन अर्थ मे वास्तव मे सस्कृत के रूपक और अन्योक्ति दोनो अलकारो का योग है। इसमे जहाँ एक ओर साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ—गूढार्थ रहता है, वहाँ अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत अर्थ पर श्लेष, साम्य आदि के आधार पर अभेद आरोप भी रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपक अलंकार मे जहाँ प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है, वहाँ कथा-रूपक मे एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। वहाँ भी एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्थूल भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म-सैद्धान्तिक होती है। यह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक, नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक आदि किसी प्रकार की हो सकती है, परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त नही होता। वह प्राय प्रस्तुत कथा का अन्य अर्थ ही होता है, जो उससे ध्वनित होता है—किसी प्रबन्ध काव्य की प्रासगिक कथा की भाति जुडा हुआ नही होता।

इस प्रकार इस विशिष्ट अर्थ मे रूपक से तात्पर्य एक ऐसी द्वि-अर्थक कथा से है जिसमे किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ अथवा अन्यार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप रहता है।

अतएव, 'क्या कामायनी रूपक है ?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमे यह देखना है कि क्या कामायनी की कथा मे प्रस्तुतार्थ के अतिरिक्त किसी सैद्धान्तिक

अप्रस्तुतार्थ की अन्तर्धारा भी वर्तमान है। इस प्रश्न के उत्तर का सकेत प्रसादजी ने स्वय कामायनी के आमुख मे दिया है :

"आर्य - साहित्य मे मानवो के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदो से लेकर पुराण और इतिहासो मे बिखरा हुआ मिलता है। " ' इसलिये वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बडा भावमय और श्लाध्य है। यह मनुष्यता का इतिहास बनने मे समर्थ हो सकता है।

यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिये मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, साँकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है। ' "' इन सभी के आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।"

इसका अभिप्राय यह है कि कामायनी को कवि ने मूलत एक ऐतिहासिक काव्य के रूप मे ही लिखा है, परन्तु इसकी कथा मे रूपक की सम्भावनाएँ निहित है और यदि इसे रूपक भी मान लिया जाय तो कवि को वह अस्वीकार्य नही होगा। अर्थात् मूल रूप से नही तो गौण रूप से कामायनी मे रूपक-तत्व निश्चित ही वर्तमान है। इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रो का प्रतीकमय साकेतिक व्यक्तित्व तथा उसकी मुख्य घटनाओ का श्लेष-गर्भित गूढार्थ दोनो ही इस मत की पुष्टि करते है। अतएव कामायनी मे रूपक-तत्व की स्थिति के विषय मे सदेह नही किया जा सकता। वह निश्चय ही है, और काफी स्पष्ट है।

कामायनी की व्यक्त कथा मे आदिम पुरुष मनु और उसकी सहचरी आदिम नारी श्रद्धा के सयोग से मानव-सृष्टि के विकास का वर्णन है। अहकार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक-मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक-उसका अप्रस्तुत पक्ष है। कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक–पौराणिक है और अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक है—और इस प्रकार दोनो पक्षो मे निकट सम्बन्ध है जो इस कथा की एक विशेषता है, अन्यथा रूपको मे साधारणत इस तरह का निकट सम्बन्ध रहता नही है।

पहले पात्रो को लीजिये : कामायनी के प्रमुख पात्र है मनु, श्रद्धा, इडा। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र हैं—मनु-श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर-पुरोहित आकुलि और किलात। काम और लज्जा अशरीरी पात्र हैं। वे मूलत ही साकेतिक है। मनु, जैसा कि स्वय प्रसादजी ने लिखा है, मन का—मनोमय कोश मे स्थित जीव का—प्रतीक है। एक स्थान पर व्याकरण मे मनु और मन को एक-रूप माना गया है।

'मन्यते अनेन इति मनु'—जिसके द्वारा मनन किया जाये वह मन है, वही मनु है। मन से अभिप्राय यहा चेतना से (Consciousness) है। उसका मूल लक्षण है अहकार—'मै हूँ' की भावना—जो अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्पो मे अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है। कामायनी के मनु के व्यक्तित्व का स्थायी आधार निःसन्देह वही अहकार है

मै हूँ यह वरदान सहश क्यों लगा गूँजने कानो मे।
मै भी कहने लगा, मै रहूँ शाश्वत नभ के गानो मे।

(आशा)

किन्तु सकल कृतियो की सीमा हैं हम ही अपनी तो।
पूरी हो कामना हमारी विफल प्रयास नही तो।

(कर्म)

यह जीवन का वरदान मुझे दे दो रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिता का तव चित्त बहन कर सके भार।
यह जलन नहीं सह सकता मै चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पचभूत की रचना में मै रमण करूँ बन एक तत्व।

मननशीलता अर्थात् निरतर सकल्प-विकल्प अहकार के सचारी है। उपनिषदो मे सकल्प-विकल्प को मन की प्रजा कहा गया है। प्रथम दर्शन के समय हमारा मनु के इसी मननशील, सकल्प-विकल्पमय रूप से साक्षात्कार होता है। मनु के व्यक्तित्व मे आदि से अत तक भूत-भविष्यत्, प्रकृति-परमतत्व आदि के चिंतन और तज्जन्य सकल्प विकल्प का प्राधान्य है।

कामायनी की दूसरी प्रमुख पात्र है श्रद्धा। श्रद्धा, प्रसादजी के अपने शब्दो मे, हृदय की प्रतीक है। **'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।'** (ऋग्वेद)। कामायनी मे स्थान-स्थान पर उसके इस रूप की स्पष्ट प्रतिकृति मिलती है·

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया उन्मुक्त।

वह गन्धर्वों के देश मे हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य खोजने के लिये आती है। उसके व्यक्तित्व के मूल तत्व है एक ओर सहानुभूति, दया, ममता, मधुरिमा, त्याग तथा क्षमा और दूसरी ओर अगाध विश्वास, उत्साह, प्रेरणा, स्फूर्ति आदि जो हृदय के कोमल और सबल पक्षो की विभूतियाँ है। शुक्लजी ने इसीलिये श्रद्धा को विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री माना गया है, और वह इस ससृति मे प्रेम-कला का सदेश सुनाने के लिये अवतरित हुई है :

यह लीला जिसकी विकस चली यह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका संदेश सुनाने को ससृति मे आई वह अमला।

तीसरी मुख्य पात्र है इडा जो स्पष्टतः बुद्धि की प्रतीक है। प्रसादजी ने

व्यक्त रूप से उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्र अकित किया है :

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल . . भरी ताल ।

उपर्युक्त चित्र मे बुद्धि के तर्क, भौतिक ज्ञान-विज्ञान, त्रिगुण आदि सभी तत्वो का अवयव-रूप मे समावेश कर दिया गया है। वैसे भी उसका चरित्र एकात बौद्धिक है। वह हृदय की विभूतियो से वचित व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा अनुशासित है। जीवन की अखण्डता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की व्यवस्था करती है।

अब गौण पात्र शेष रह जाते है ' सबसे पहले श्रद्धा-मनु का पुत्र कुमार आता है। उसका कोई विशेष व्यक्तित्व नही है—यहाँ तक कि उसका नामकरण सस्कार भी नही किया गया। वह नव मानव का प्रतीक है जो अपने पिता से मननशीलता, माता से श्रद्धा अर्थात् हार्दिक गुण और इडा से बुद्धि ग्रहण कर पूर्ण मानवत्व को प्राप्त करता है। असुर-पुरोहित आकुलि और किलात आसुरी वृत्तियो के प्रतीक है। ज्यो ही मनु (मन) पाप (हिसा-यज्ञ) की ओर आकृष्ट होता है, आकुलि-किलात (आसुरी वृत्तियाँ) उसको दुष्प्रेरणा देने के लिए तुरन्त ही उपस्थित हो जाते है और उसे दुष्कर्म मे प्रवृत्त करते है। फिर, जब मनु के विरुद्ध विद्रोह होता है तो ये ही विद्रोहियो के नेता बन कर सामने आते है। इसका अभिप्राय यह है कि आसुरी वृत्तियाँ पहले तो मन को पाप-कर्म मे प्रवृत्त करती है फिर जब उसे इसके लिए कष्ट भोगना पडता है तो ये आसुरी वृत्तियाँ उलटे उसके कष्ट मे योग देती है।

इनके अतिरिक्त देव, श्रद्धा का पशु, और वृषभ तथा सोमलता के भी निश्चय ही साकेतिक अर्थ है। देव इन्द्रियो के प्रतीक है। देवो की निर्वाध आत्म-तुष्टि का अर्थ है इन्द्रियो की निर्बाध तुष्टि :

अरी उपेक्षा भरी अमरते ! री अतृप्ति ! निर्बाध विलास ।

श्रद्धा का पशु भी जिसका नाम तथा जाति आदि का वर्णन तक नही दिया हुआ, स्पष्टत' एक प्रतीक है। वह सहज जीव-दया, करुणा—आधुनिक अर्थ मे अहिसा—का द्योतक है :

एक माया आ रहा था पशु अतिथि के साथ
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ।

वृषभ तो भारतीय अनुश्रुति मे अनादि काल से धर्म का प्रतिनिधि माना जाता रहा है

था सोमलता से आवृत वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि।

सोम-लता का साकेतिक अर्थ है भोग। इस प्रकार सोम-लता से आवृत वृषभ का अर्थ हुआ भोग-सयुत धर्म जिसका उत्सर्ग करके मानव चिरानन्द-लीन हो जाता है।

अब तीन-चार प्रतीक और रह जाते है। जल-प्लावन, त्रिलोक और मानसरोवर। जल-प्लावन भारत के ही नही पृथ्वी के इतिहास की अत्यन्त प्राचीन घटना है। हमारे दर्शन-साहित्य मे इसी को प्रतीक रूप मे ग्रहण कर उसको साकेतिक अर्थ भी किया गया है। जब मन अबाध इन्द्रिय-लिप्सा का दास हो जाता है अर्थात् जब मन ऊपर विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश की ओर बढने के स्थान पर निम्नतम अन्नमय कोश मे ही रम जाता है तो चेतना पूर्णत उस माया मे डूब जाती है।

त्रिलोक मे प्राचीन त्रिपुरदाह के रूपक से प्रेरणा ग्रहण की गई है, और इसका प्रतीकार्थ अत्यन्त व्यक्त है। तीन लोक—भाव-लोक, कर्म-लोक तथा ज्ञान-लोक चेतना की तीन अगभूत प्रवृत्तियो—भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के प्रतीक है। जब तक ये तीनो वृत्तियाँ पृथक्-पृथक् कार्य करती है मन अशात और उद्विग्न रहता है

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है इच्छा क्यो पूरी हो मनकी,
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।

परन्तु जब श्रद्धा के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद मे श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

मानसरोवर जिसे शतपथ ब्राह्मण मे मनोरवसर्पण कहा गया है—

'तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति'

—कैलाश शिखर पर वह स्थान है जहाँ मनु श्रद्धा की सहायता से पहुंचते है और अपने मानसिक क्लेश से मुक्ति पाते है। यह समरसता की अवस्था है मानसिक समन्वय की अवस्था जहा भाव, कर्म और ज्ञान मे पूर्ण सामजस्य हो जाता है।

मानसरोवर या मानस (कामायनी मे मानस शब्द का प्रयोग है) इसी समरसता की अवस्था का प्रतीक है। यह मानस कैलाश-शिखर पर स्थित है—कैलाश-पर्वत आनन्दमय कोश का प्रतीक है।

कामायनी की प्रस्तुत कथा मे मनु की कैलाश-स्थित मानसरोवर यात्रा का वर्णन है जहाँ पहुचकर मनु के समस्त क्लेश दूर हो जाते है। रूपक को हटाकर, यह मन का समरसता की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न है जिसके उपरान्त मन के समस्त भौतिक और आध्यात्मिक क्लेश नष्ट हो जाते है और वह पूर्णानन्द-लीन हो जाता है। पारिभाषिक शब्दावली मे यह मनोमय कोश मे स्थित जीव की आनन्दमय कोश मे स्थित होने के लिये साधना है। यह आनन्दमय कोश पिंडाड-रूप पर्वत का उच्चतम शिखर कैलाश है। कामायनी की रचना के समय वह वैदिक रूपक स्पष्टत. प्रसादजी के मन मे विद्यमान था।

अपने प्रकृत रूप मे मनु एकान्त मननशील तथा अहकारी है। वे अहकारमय निष्क्रिय चितन-मनन के अतिरिक्त और कुछ नही कर पाते। ज्यो ही काम की प्रेरणा से काम और रति की पुत्री श्रद्धा से मनु का सयोग होता है, उनमे जीवन के प्रति आकर्षण तथा स्फूर्ति का उदय होता है। श्रद्धा के साहचर्य से मनु के अहकार का सम्मार्जन होता है—वह 'स्व' से 'पर' की ओर बढता है। बीच-बीच मे उनका अहकार उभरता है और आसुरी वृत्तियो के प्रतीक आकुलि-किलात की सहायता से वे पशु-यज्ञ कर सोमरस की प्राप्ति करते है। परन्तु श्रद्धा उसका तीव्र विरोध करती है, और कम से मक कुछ समय के लिये उन्हे उसका अनौचित्य स्वीकार करने के लिये बाध्य करती है। इस प्रकार जब तक मनु श्रद्धा के प्रभाव मे रहते है। उनके अह का सस्कार होता रहता है। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नही रहती; मनु का अहकार फिर प्रबल होता जाता है

यह जलन नहीं सह सकता मै, चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पचभूत की रचना में, मै रमण करूँ बन एक तत्व।।

और वे श्रद्धा से विरत होकर फिर अपने मे खो जाते है। श्रद्धा से विमुख होने पर मनु की वृत्तियाँ पुनः अस्त-व्यस्त हो जाती है और वे जीवन-पथ पर भटकते हुये सारस्वत प्रदेश पहुचते है। सारस्वत प्रदेश जीव के निम्नतर कोश—प्राणमय कोश का प्रतीक है। यहाँ उनका साक्षात्कार इडा से होता है जो उन्हे बुद्धिवाद की दीक्षा देकर भौतिक जीवन की ओर प्रेरित करती है :

जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर नर किसकी शरण जाय!

... ...

यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन।
तुम उसका पटल खोलने मे परिकर कस कर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढा चलो अपनी क्षमता।

इडा के प्रभाव मे मनु बुद्धि-बल से प्राकृतिक साधनो को एकत्र कर शासन-व्यवस्था करते है—कर्म-विभाजन होता है, जीवन मे भौतिक सघर्स का सूत्रपात होता है। मनु इन सबके नियामक है परन्तु मनु का अहकार इतने से सतुष्ट नही होता—इडा पर भी तो उनका अधिकार होना चाहिए! वे उसके लिए प्रयत्नशील होते है—परन्तु यहा उन्हे घोर विफलता होती है। इस अनधिकार चेष्टा से वे रुद्र के कोप-भाजन बनते है। एक बार फिर प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, मनु का विद्रोही प्रजा के साथ युद्ध होता है जिसमे मनु की पराजय होती है।

इसका सकेत-अर्थ यह हुआ कि मन अपने प्रकृत रूप मे केवल मननशील तथा अहकारी है। श्रद्धावान होकर ही, और श्रद्धा का उदय मन मे राग-वृत्ति के प्राधान्य के कारण ही सम्भव है, उसका उचित दिशा मे विकास-सस्कार होता है।

श्रद्धा विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति का नाम है। 'श्रद्धा-समवेत' मन मे अपने प्रति विश्वास और जीवन के प्रति राग का उदय होता है। यो समय-समय पर उसके आसुरी सस्कार निश्चय ही उभरेगे—उसका सहज भोगवाद ऊपर आयेगा परन्तु जब तक वह श्रद्धावान है तब तक इन पर नियत्रण रहेगा और उसके अह का सस्कार होता रहेगा। परन्तु ज्यो ही मन श्रद्धा को त्याग देगा वह नीचे प्राणमय कोश मे पहुच जायेगा और बुद्धि के चक्र मे पड जायेगा। बुद्धि व्यवसायत्मिका वृत्ति है—वह उसको सघर्ष की निरतर प्रेरणा तो दे सकती है परन्तु सुख नही दे सकती। अहकार का सस्कार करने के स्थान पर वह उसे और भी उत्तेजित करती है—अत मे एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि मन बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करने के लिए लालायित हो उठता है। यहाँ उसका पूर्ण पराभव होता है और एक प्रकार की मानसिक प्रलय हो जाती है।

इस पराभाव के उपरान्त मनु को बडी ग्लानि होती है। इतने मे ही श्रद्धा के साथ उनका फिर सयोग होता है। श्रद्धा उन्हे ग्लानि और क्लेश का परित्याग कर फिर से कर्मशील होने के लिए उत्साहित करती है। इसी बीच मे उसका साक्षात्कार इडा से होता है। वह पहले तो अति बुद्धि-वादी होने के लिये इडा की भर्त्सना करती है—अत मे उसे क्षमा कर अपने पुत्र कुमार को उसे सौप देती है और आप मनु को साथ लेकर चल देती है। मनु और श्रद्धा दोनो हिमालय के शिखरो पर चढते-चढते एक ऐसे स्थान पर पहुँचते है जहाँ से त्रिदिक् विश्व के तीन पृथक् ज्योतिर्ष्पिड उन्हे दिखाई पडते है। श्रद्धा मनु को इनका रहस्य समझाती है—"ये तीन ज्योतिर्ष्पिड भाव-लोक, कर्म-लोक और ज्ञान लोक है। इनके पार्थक्य के कारण ससार मे विडम्बना फैली हुई है।" ऐसा कहते-कहते श्रद्धा की मुस्कान ज्योति-रेखा बनकर इन तीनो लोको मे दौड जाती है—तीनो लोक मिलकर एक हो जाते है, और बस फिर मनु के मन के क्लेश और विश्व की सारी विडम्बनाओ का अत हो जाता है। श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनन्द-लीन हो जाते है।

इसका प्रतीकार्थ इस प्रकार है—सुखवाद और बुद्धिवाद के अतिचार के फलस्वरूप मन का पूर्णतः पराभूत होना स्वाभाविक ही था। इससे मन को भयकर ग्लानि और निर्वेद होता है और वह फिर जीवन से पलायन करता है। इस स्थिति से श्रद्धा ही उसका निस्तार करती है। श्रद्धा-सयुत मन फिर उचित दिशा की ओर विकासशील होता है और एक ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है जहाँ उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। श्रद्धा की प्रेरणा से उसे अपने पराभव का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। वह अनुभव करता है कि उसकी विडम्बनाओ का एकमात्र रहस्य यह है कि उसकी तीनो मूल वृत्तियो मे सामजस्य नही है। उसकी भाव-वृत्ति, ज्ञान-वृत्ति और कर्म-वृत्ति (to feel, to know, to will) तीनो एक दूसरे से पृथक् रह कर क्रियाशील

है। ज्यो ही श्रद्धा के द्वारा इन तीनो का पूर्ण सामजस्य हो जाता है मन समरसता की अवस्था प्राप्त कर पूर्णानन्द मे लीन हो जाता है यह आनन्द शैव-योगी का आत्मानन्द है जो अपने भीतर आत्म-साक्षात्कार द्वारा प्राप्त होता है, सगुण भक्त का आनन्द नही है, जो चराचर मे व्याप्त प्रभु के दर्शन कर प्राप्त होता है, श्रद्धा द्वारा अपने पुत्र कुमार का इडा को सौपना भी इसी सामजस्य का प्रतीक है। मनु और श्रद्धा का आत्मज होने के कारण मानव जन्मत मननशीलता और श्रद्धासे युक्त है। इडा का निरीक्षण उसके बुद्धि तत्व को भी परिपक्व कर मानवत्व को पूर्ण कर देता है।

साधारणत कथा का अन्त यही होना चाहिए था। परन्तु इस प्रकार इडा, कुमार और सारस्वत-प्रदेश-वासियो की कहानी अधूरी ही रह जाती। अतएव उसके पर्यवसान-रूप मे इडा, कुमार और सारस्वत-प्रदेश वासियो के भी मानसरोवर जाने का वर्णन किया गया है जहाँ वे सोम-लता से मडित वृषभ का उत्सर्ग कर मनु से सामरस्य की दीक्षा लेते है। इसमे सन्देह नही कि मूल कथा से इस प्रसग का सहज सम्बन्ध नही है परन्तु सकेत अर्थ इसका भी सर्वथा स्पष्ट है और वह यह है कि समष्टि-रूप मे भी मानव-जीवन की परिणति आनन्द मे ही है। सोम-लता अर्थात् भोग और वृषभ अर्थात् धर्म (कर्म) का उत्सर्ग कर समरस मानव चिरानन्द-मग्न हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी निस्सन्देह ही रूपक है। प्रसादजी ने कथा के मूल तत्वो को ऐतिहासिक मानते हुये उनके आधार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था। किन्तु कथा का साकेतिक रूप उनके मनमे आरम्भ से अन्त तक वर्तमान था और मनके विकास का वैदिक रूपक उनको वैसे भी अत्यन्त प्रिय था।

परन्तु प्रसादजी ने इसे सर्वथा प्राचीन रूप मे ही ग्रहण नही किया। आधुनिक देश-काल का प्रभाव भी उस पर अत्यन्त व्यक्त है। मनु के जीवन की विडम्बना आधुनिक जीवन की विडम्बना है। इस विडम्बना का मूल कारण यह है कि आज हमारी भाव-वृत्ति अर्थात् सस्कृति जिसमें धर्म, नैतिकता और कला-साहित्य आदि आते है, कर्म-वृत्ति अर्थात् राजनीति जिसके अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था आदि भी समाविष्ट है, और ज्ञान-वृत्ति अर्थात् दर्शन विज्ञान तीनो एक-दूसरे से पृथक् है। उनमे सामजस्य न होने से जीवन आन्तरिक और बाह्य सघर्षो और विषमताओ से आक्रान्त है। व्यक्तिवादी मनु आधुनिक जीवन के व्यक्ति-परक भौतिक सुखवाद का प्रतीक है जिसका व्यक्त रूप पूँजीवाद मे मिलता है। वह इडा अर्थात् विज्ञान की सहायता से जीवन के सम्पूर्ण सुखो को अपने मे केन्द्रित करने का असफल प्रयत्न करता है। अन्त मे वह अनुभव करता है कि श्रद्धा के बिना जीवन की विडम्बना का अन्त नही। यह श्रद्धा अर्थात् रागात्मक वृत्ति गाँधीजी की अहिसा और पाश्चात्य दार्शनिको

की मानव-भावना की पर्याय है। आज इसी मानव-भावना की प्रेरणा से ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा सस्कृति, विज्ञान और राजनीति मे सामजस्य स्थापित हो सकता है। जब इन तीनो के पीछे मानव-भावना की सद्प्रेरणा रहेगी तो इनका समन्वय स्वत. ही हो जायगा। आज के पूँजीवाद से पीडित समाज की विडम्बनाओ का समाधान यही मानववाद है जिसका भौतिक रूप समाजवाद और आध्यात्मिक रूप गाँधीवाद है।

आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों ने भी आज की विषमताओ का यही समाधान बताया है। उनका निदान यह है कि इस युग का मानव अनेक प्रकार के सामाजिक-ऐतिहासिक तथा व्यक्त-अव्यक्त कारणो से स्वरति की भावना से आक्रात है। स्वरति भयकर रोग है जिसके कारण उसका मानसिक स्वास्थ्य सर्वथा नष्ट हो गया है। मानसिक स्वास्थ्य मन की भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के समन्वय का नाम है। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य के नष्ट होने का अर्थ यह है कि ये तीनो वृत्तिया पृथक् दिशाओ मे क्रियाएँ कर रही है। इस सामजस्य को पुनः प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि रति-भावना को 'स्व' से निकाल कर 'पर' की ओर प्रेरित किया जाये। यह उन्नयन-प्रक्रिया है। इसके पूर्ण हो जाने पर मन समरसता की अवस्था (Mental equilibrium) को प्राप्त कर लेता है। आज के मानव-जीवन की समस्या का यही समाधान है।

एक प्रश्न और रह जाता है। यह रूपक कहा तक सगत है ? तो, जहाँ तक कि मूल कथा का सम्बन्ध है, रूपक सामान्यत संगत और स्पष्ट है; उसमे कोई विशेष सैद्धान्तिक असगति नही है। हाँ, कथा के सूक्ष्म अवयवो मे सगति पूरी तरह नही बैठती। जब मनु मानव-मन अथवा मनोमय कोश मे स्थित जीव का प्रतीक है तो उसके पुत्र कुमार को नव मानव का प्रतिनिधि मानकर भी सगति नही बैठती क्योकि इम तरह पिता-पुत्र मे लगभग एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रसाद जी ने इस असगति का अनुभव किया था, इसलिये आनन्द-लोक की यात्रा पर जाने से पूर्व श्रद्धा कुमार को छोड जाती है। इसी प्रकार सारस्वत-प्रदेश-वासियो के साथ इडा और कुमार का चिरानन्द-लीन मनु के पास वृषभ आदि का उत्सर्ग करने के लिये जाना भी अप्रस्तुतार्थ मे एक पैबन्द जैसा ही है। इसकी सफाई मे दो कारण दिये जा सकते है। एक कारण तो यह है कि प्रस्तुत कथा को पूरी तरह अप्रस्तुतार्थ से जकड देना ठीक नही है—आखिर स्तुत कथा को थोडा-सा तो स्वतन्त्र अवकाश देना ही चाहिए। दूसरा यह है कि कामायनी की कथा का विकास ही असगतियो से भरा हुआ है; उसमे ही काफी जोड लगे हुए है। अतएव उपर्युक्त असगतियो का सम्बन्ध बहुत-कुछ कथा की असगतियो से भी है। इनके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने दो तात्विक असगतियो की ओर सकेत किया है। एक तो यह कि जब इडा की प्रेरणा

से ही मनु कर्म-विस्तार करते है अर्थात् जब बुद्धि ही कर्म-व्यापार का कारण है तो ज्ञान-लोक से पृथक् कर्म-लोक का अस्तित्व किस प्रकार सगत हो सकता है ? दूसरे रति और काम की दुहिता तथा मानव-करुणा, सहानुभूति आदि की समानार्थी होने के कारण श्रद्धा की स्थिति शुद्ध भाव की स्थिति है—उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति मे उसकी स्थिति भाव-लोक से ही नही वरन् भाव, कर्म, ज्ञान तीनो से ही परे कैसे हो सकती है ? इनमे से पहली आपत्ति तो अधिक सगत नही है। वैसे तो मानव-मन इतना जटिल है कि उसकी सभी वृत्तियाँ परस्पर अनुस्यूत और गुम्फित है, फिर भी दर्शन तथा मनोविज्ञान मे इच्छा, ज्ञान और क्रिया का भेद तो सर्वथा स्वीकृत है ही। भारतीय दर्शन मे भक्ति, ज्ञान और कर्म मार्ग का पृथक् विवेचन प्राय: आरम्भ से ही होता आया है। इसलिये कर्म के पीछे बुद्धि की प्रेरणा होने का यह अभिप्राय नही है कि इन दोनो मे कोई तत्वगत पार्थक्य ही नही है।

श्रद्धा-विषयक आपत्ति अधिक गम्भीर है। साधारण दृष्टि मे निस्सदेह ही श्रद्धा एक भाव है और भाव, ज्ञान और क्रिया के पृथक् वर्णन के समय भाव से भिन्न उसका अस्तित्व वास्तव मे समझ मे नही आता। परन्तु प्रसादजी ने कामायनी की सम्पूर्ण कथा की धुरी श्रद्धा को ही बनाया है। श्रद्धा का अर्थ है आस्तिक बुद्धि (भावना) **'आस्तिक-बुद्धि इति श्रद्धा।'** आस्तिकता का अर्थ है अस्तित्व मे सहज आस्था; इस प्रकार आस्तिक-भावना जीवन की एकान्त मूलगत भावना है इसी के द्वारा जीवन का सचालन होता है। प्रसादजी ने इसे इसी रूप मे ग्रहण किया है। इसमे सन्देह नही कि प्रसाद की श्रद्धा मे राग-तत्व की अत्यन्त प्रधानता है परन्तु यह स्वाभाविक है। अस्तित्व मे सहज आस्था स्वभावत ही राग प्रधान होनी चाहिए; जीवन के प्रति सहज आस्था निस्सन्देह ही रागमयी होनी चाहिए। परन्तु फिर भी तत्व-रूप मे श्रद्धा कोरी भावुकता नही है—आस्तिक बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमे अस्तित्व की तीनो अभिव्यक्तियो इच्छा, ज्ञान, क्रिया की स्थिति है। प्रसादजी ने भी श्रद्धा को कोरी भावुकता के प्रतीक-रूप मे चित्रित नही किया—वह वास्तव मे जीवन की प्रेरणा की प्रतीक है। इसके विपरीत भाव-लोक कोरी भावुकता—इच्छा की रगीन क्रीडाओ—का प्रतीक है, और स्पष्ट शब्दो मे—भाव-लोक केवल इच्छा का प्रतीक है और श्रद्धा जीवन के अस्तित्व मे आस्था अर्थात् विश्वासयुक्त जीवनेच्छा है।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओ का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत जाओ इसको भूल।

× × ×

तप नहीं केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,

तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।

\+ × ×

एक तुम यह विस्तृत भू-खण्ड प्रकृति वैभव से भरा अमंद,
कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड का चेतन आनन्द।

पूर्व तथा पश्चिम के धर्म-शास्त्रो तथा दर्शनो मे भी श्रद्धा की यही स्थिति स्वीकार की गई है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी के लिये श्रद्धा (फेथ) को आधार-भूत वृत्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है, उसके बिना मोक्ष (परमानन्द) की प्राप्ति सम्भव नही है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार श्रद्धा की स्थिति वही है जो युग-प्रतिपादित जीवन-चेतना की; जिसे कि उन्होने जीवन की मूलभूत वृत्ति माना है। स्वभावत ही वह रागवृत्ति (लिबिडो) से अधिक व्यापक है।

इसके अतिरिक्त वस्तु-रचना की दृष्टि से भी श्रद्धा की स्थिति का तीनो से स्वतन्त्र होना आवश्यक था। कामायनी की कथा का कार्य है त्रिपुर का एकीकरण जिसके उपरान्त मनु को आनन्द-लोक की प्राप्ति होती है अर्थात् कथा-वस्तु के उद्देश्य की प्राप्ति होती है. इसी प्रकार अप्रस्तुत कथा का कार्य है भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति का समन्वय। इसके उपरान्त ही मन समरसता की स्थिति प्राप्त कर चिरानन्द-लीन हो जाता है और कथा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। वास्तु-कौशल की दृष्टि से यह कार्य मुख्य पात्र के द्वारा ही सम्पादित होना चाहिए और मुख्य पात्र स्पष्टत कामायनी अर्थात् श्रद्धा है। इस प्रकार शुक्लजी की इस दूसरी गम्भीर आपत्ति का भी निराकरण असम्भव नही है और इसमे सन्देह नही प्रसादजी ने श्रद्धा की मनोवैज्ञानिक स्थिति की इन सगति-असगतियो पर पूर्णत. विचार करने के उपरान्त ही उसको यह रूप दिया था। शुक्ल जी द्वारा उठाई गई शका उनके मन मे न उठी हो यह बात नही मानी जा सकती।

कामायनी का दर्शन

शिवबालक शुक्ल

When passion and philosophy meet in a single individual we have a great poet

—Browning

प्रसादजी की प्रोज्ज्वल प्राञ्जल प्रतिभा मे प्रेम और दर्शन का अपूर्व सामञ्जस्य दिखाई देता है। 'प्रेम-पथिक' की आँखो से गिरते हुए वैयक्तिक विरह-जन्य 'आँसू' (आँसू मे वे वे है—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी) इस प्रकार पुंजीभूत हुये कि वे 'झरना' बनकर उत्तुंग 'लहर' उठाने लगे। उनमे केवल 'कानन-कुसुम' को ही प्रफुल्ल करने की शक्ति न थी वरन् आकुल मानवता के उर-उपवन को उत्फुल्ल करने की क्षमता भी। 'प्रसाद यौवन और प्रेम के कवि है,' ऐसा कहने वालो से उन्होने कह दिया था—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना

इसका कारण यह है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रेम-पथ पर परमार्थचिंतक भक्त तथा लोक-सामान्य प्रेमी समान गति से चल सकते है। उनकी व्यापक दृष्टि बडी सजग है जो ऊपर, नीचे बराबर गई है। भक्तो की भाँति ऊर्ध्व-दृष्टि रखने से या शृंगारी कवियो के सदृश अधःप्रेक्षण से गिरने या टकराने की संभावना थी। प्रेम के इस समरस स्वरूप की सुन्दर अभिव्यक्ति 'आँसू' मे हुई है—

जिसके आगे पुलकित हो, जीवन है सिसकी भरता
हाँ, मृत्यु नृत्य करती है, मुसकाती खडी अमरता
वह मेरे प्रेम विहँसते जागो मेरे मधुवन मे।

प्रेम के इस व्यष्टिगत मान को 'कामायनी' की श्रद्धा के माध्यम से प्रसादजी ने उद्घोषित करने का सफल प्रयत्न किया है। उनके इस प्रेम मे दया, माया, ममता, मधुरिमा, उत्सर्ग, प्रतीति तथा अगाध विश्वास तथा सर्वप्रमुख प्रतिदान-प्राप्त्याशा की परिहार-भावना है। श्रद्धा ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग, इसी पदतल में विगत विकार।

सच्ची मानवी का यही आदर्श (मातृ-रूप मे) दाते ने 'डिवाइन कामेडी' स्वर्ग खंड कैंटो २२ मे अपनी प्रिया बीएत्रिस मे देखा था—

And she was like the mother who her son,
Beholding pale and breathless with her voice
Soothes her and he was cheered

और मैं कह सकता हूँ कि 'cheered Manu is'[1] श्रद्धा ने जीवन को विगत विकार कहकर प्रतिदान-विषयक विकारो का प्रश्न ही नही उठाया। 'लज्जा' सर्ग और 'लहर' मे इसे तनिक और स्पष्ट कर दिया गया है—

इस अर्पण में कुछ और नहीं, केवल उत्सर्ग छलकता है
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है।

अथवा 'लहर' में—

पागल रे! वह मिलता है कब उसको तो देते ही हैं सब।

यह प्रेम-दर्शन की बात है। ऐसे प्रेम मे पश्चात्ताप की कटुता नही, आत्मतुष्टि की मिठास सदा बनी रहती है। और चूँकि वे शैवागम सिद्धान्त के मानने वाले थे अत· दूसरो से बिना कुछ आशा किये नीलकठ की भाँति गरल का घूँट पीना ही अच्छा समझते थे। 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' नाटको, 'आकशदीप', 'पुरस्कार' आदि कहानियो मे यह विचार परिलक्षित है। इसीलिये विगत-विकार श्रद्धा अपराधी मनु तथा अपराधिनी इडा का स्वागत करती है।

'शरीर त्व शम्भो' कहने वाले से ऐसी ही आशा की जाती है।

कामायनी प्रेम और दर्शन के ताने बाने से बुनी हुई है। दर्शन की ऋजु-अराल और गहरी रेखाएँ मस्तिष्क को बोझिल कर देती है अतः चिन्तना के चैत्य से उतर कर प्रेम-पयस्विनी मे अवगाहन कर लेना आवश्यक हो जाता है। प्रसाद ने किया भी यही है। सन्यस्त होकर तप करना कायरता है,[2] और केवल भोग, जीवन की विडम्बना और उपहास है। प्रसादजी के जीवन मे कितनी 'भगवती' आईं, इसे श्री विनोदशंकर व्यास और उनके अतरग मित्र बतायेगे। श्यामा (आँसू की षोडसी) की सरस ध्वनि ने उन्हे मोह लिया था। 'किशोरी' (११ से १६ वर्ष) 'शकर' का प्रसाद पा सकने मे असमर्थ रही पर आत्समर्पण उसने किया था। 'सिद्धेश्वरी' से प्रसाद का निकटतम सबध था। अन्य महान् कवियो के साथ भी ऐसी बात रही है। विश्व के महान् कवियो मे स्यात् एक ही दो ऐसे मिलेगे जिन्होने दिल मे किसी को जगह न दी हो। हाँ तो मैं कहना चाहता था कि एक ओर प्रसाद के जीवन मे यह भोगविलास और आमोद-प्रमोद था दूसरी ओर शैवागम सिद्धान्तों का निरूपण। मनु से श्रद्धा ने कहा—

अकेले तुम कैसे असहाय, यजन कर सकते! तुच्छ विचार?
तपस्वी! आकर्षण से हीन, कर सके नही आत्म-विस्तार।

१—तुम देवि! आह कितनी उदार, वह मातृमूर्ति है निर्विकार। —दर्शनसर्ग

२—स्त्रीमुद्रा झषकेतनस्य परमा सर्वार्थं सम्पत्करीं,
ये मूढाः प्रविहाय याति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणा
ते तेनैव निहत्य निर्दयतर नग्नीकृता मुडिता
केचित् पचशिखाः कृताश्चजटिलाः कापालिकाश्चापरे। —भर्तृहरि

सप्तसिन्धु की प्रथितयशा देव जाति का अवशेष और आनन्दवाद की उपेक्षा ! अरे समीप आने का आमन्त्रण या स्पर्श का आकर्षण अपना महत्त्व रखते है। परन्तु इनसे जो पराङमुख है, वीतराग है, उससे क्या कहा जाय ? उसने कहा, 'मनु !

हृदय मे क्या है नही अधीर लालसा जीवन की विशेष,
कर रहा है वचित कही न त्याग तुम्हे धर मन मे सुन्दर वेश ।'

'परिरभ कुम्भ की मदिरा' को साधारण गुड और महुए से बनी शराब समझना भूल होगी। और निश्वास एकात्म्य की द्योतक है। सुख श्रमजन्य निश्वास परम्पराओ के पारस्परिक व्यामिश्र भाव से स्त्री पुरुष की एकता स्फुट होती है।[१]

निराशाकुल मनु की दयनीय स्थिति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के उपरात श्रद्धा ने सोचा कि मनु मे अर्थात् मस्तिष्क मे ईड और इगो का असतुलन विद्यमान है। प्रेरणा, उत्साह तथा नवस्फूर्ति प्रभृति शक्तियो का स्रोत सूख सा गया है। लिबिडो अपने स्थान से हट गया है, अत मनु किकर्त्तव्यविमूढ है। जब जीवन मे मौज और मस्ती का केन्द्रविन्दु अस्वस्थ है तो इनकी कल्पनाएँ साकार तथा लालसाएँ सक्रिय कैसे हो सकती है ? श्रद्धा ने स्थिति को पहचान कर उचित शब्दो का प्रयोग किया है। उनका प्रेम शारीरिक प्रेम से ऊँचा है। निर्वेद सर्ग मे श्रद्धा का 'अनुलेपन सा मधुर स्पर्श' उसे रस्किन का 'बाम ऑफ डिस्ट्रेस'[२] सिद्ध करने पर तुला था। बुद्धिवाद, दम, सयम आदि प्रेममार्ग की बाधाएँ है[३]। इन्द्रियो का सम्यक् उपभोग साध्य तक पहुँचने की सीढी है। शिव के उपासक प्रसाद प्रेम, प्रमोद के केन्द्र शिव का महत्त्व समझते हुए, विस्तृत प्रकृति का आनन्द लेने के लिए शक्ति की उपासना भी करते है[४]। इसका कारण है बाह्य विरुपाक्ष शिव मे सौन्दर्य को उद्भूत करने के हेतु शक्ति की अपेक्षा होना। इसीलिए तो शकर तृतीय नेत्र के दहकते कालानल, सर्प-स्रक, कपालमाल के साथ ही चन्द्रभाल और अर्धनारीश्वर है। प्रियतमा को अर्धाग मे धारण करने वाले शकर अनुरागियो मे अग्रणी है, जागतिक भोग-विलास से सर्वथा तटस्थ वीतरागियो मे सर्ववरेण्य है। शिव के ऐसे महत्त्व को स्वीकार करते हुए ही तो प्रसादजी तुलसी के 'सियाराम मय' वाले ससार को शिव-मय समझते थे[५]।

साधारण व्यक्ति प्रसाद के भोग और विराग से समन्वित जीवन-दर्शन पर चलने से उपहासास्पद बन जायगा।

१— ' रतश्राति निश्वास धारा—
जस्र व्यामिश्र भावस्फुट कथित मिथ. प्राणभेदव्युदासम् । नैषधीयचरितम् १८।१५३

२—Sesame and Lilies.

३—जो कुछ हो मैं न सभालूँगा इस मधुर भार को जीवन मे

४—जयशकर प्रसाद—श्री नन्द दुलारे वाजपेयी। पृष्ठ ८०

५—जयशकर प्रसाद—श्री नन्द दुलारे वाजपेयी। पृष्ठ ८१

'काम मगल से मडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम' परन्तु सामान्य जन से सत्कृत होने पर 'काम' तो काम बना रहेगा उम गरीब पर बन ग्रायेगी। कारण कि—

शिव शक्त्यो समायोगादानन्दो योऽनुभूयते,
सा एव मोक्षो विदुषामबुद्धाना तु पातकम्।
— श्री हम विलास[1]

सही है—

कि है जो तेग बाजौहर उसे इज्जत है उरियानी।

मोर्चा लगी हुई तलवार म्यान मे ही शोभा देगी। मुग्ध और अबुद्ध, प्रबुद्ध प्रसाद नही बन सकता, 'प्रवाद' का पात्र बन जायेगा।

काम फायड के अनुसार पुरुषार्थ का दूसरा नाम है। बहुमुखी इच्छाओ को क्रियान्वित करने की अद्भुत शक्ति काम मे होती है। योद्धाओ का शौर्य, कलाकार की प्रतिभा, विचारको का विवेक काम का सस्पर्श पाकर निखर उठते है। विश्व की महान् विभूतियाँ अधरो की सुधा पीकर ही अमर हुई है। नपुसको और क्लीवो, के हेतु उस का कोई मूल्य नही। श्रीहर्ष पाणिनि की गवाही पेश करते है—

उभयी प्रकृति कामे सज्जेदिति मुनेर्मन
अपवर्गे तृतीयेति भणत. पाणिनेरपि।
— नैषधीय चरितम् १७/७०

इस तृतीय श्रेणी वाले मेरे कुछ मित्र काम की बात सुनकर ऐसे बिदकते हैं जैसे काले छाते को देखकर नाटा बैल। 'दिनकर' के भीष्म भले ही एक बार मधुर प्रेम के अभाव मे खीझ उठे[2], क्रानिक बेचलर[3] (श्रद्धेय पतजी मुझे क्षमा करे) पतजी मन मसोस कर रह जाये, परन्तु कामविडम्बित ये साम्प्रतिक ब्रह्मचारी काम का नाम सुनते ही शिव! शिव!! राम! राम!! कहकर वीप्सित हो उठते है। शैवागमो मे सामरस्य के विधान की ओर सबल सकेत है। मै सयमशील प० चन्द्रवली पाडे द्वारा उद्धृत ज्ञानार्णव तत्र के निम्न श्लोको को प्रस्तुत कर रहा हूँ —

अक्षुब्ध. सत्वारारो हे यावद्रेत प्रवर्तते,
रजोमयं रज साक्षात्सविदेव न सशय'।

१—व्यक्ति और वाड्मय —माचवे पृ० १०६

२—जीवन के अरुणाभ प्रहर मे कर कठोर व्रत धारण,
सदा स्निग्ध भावो का यह जन करता रहा निवारण,
प्रकटी होती मधुर प्रेम की मुझ पर कही अमरता,
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पडता॥ —'कुरुक्षेत्र', चतुर्थ सर्ग

३—मै बरामदे मे लेटा शैया पर पीडितअवयव —'याद' शीर्षक रचना

प्रकृति परमेशानि वीर्यं पुरुष उच्यते,
तपोर्योगो महेशानि योग एव न संशयः।
सीत्कारो मंत्र रूपस्तु वचनं स्तवन भवेत,
नखदंतक्षतान्यत्र पुष्पाणि विविधानिव।
कूजन गायन स्तुत्या ताडनं हवन भवेत्॥
आलिगनं सु कस्तूरी घृसृणादिक मद्विजे,
मर्दनं तर्पण विद्धि वीर्यपातो विसर्जनम्॥

श्रद्धा के सत्स्वरूप को न समझ सकने वाला 'मात्र साधक' अति अबोध, अपनी अपूर्णता से अपरिचित मनु को काम विगर्हित करता है। ययाति के दुर्व्यवहार से शुक्रचार्य ने कुपित होकर देवयानी का पक्ष लेते हुए जैसे नाहुष को अभिशाप दिया है —

धर्मज्ञः सन महाराज योऽधर्ममकृथा प्रियम,
तस्माज्जरा त्वामचिराद् घर्षयिष्यति दुर्जया॥
— महाभारत आदि पर्व ८३/३१

ठीक उसी प्रकार श्रद्धा को जडमात्र समझने वाले, जलन तथा वासना के गरल को सचय करने वाले नादान मनु को कामायनी के पिता ने शाप दिया था, (इडा सर्ग)। सौन्दर्य-जलधि से गरल सचय करने वालो, प्राणमयी ज्वाला से प्रणय-प्रकाश न करने वालो की ससार मे कमी नही है। ठीक है —

मय कि बदनाम कुनद अहले ख़िरद रा गलतस्त,
बल्कि मय मी शवद अज़ सोहबते नादा बदनाम।

उल्टी मति के व्यर्थ ज्ञान से ही तो मनु वासना-तृप्ति को स्वर्ग समझ बैठे थे।

प्रसाद के प्रेम-दर्शन की चर्चा करते करते स्यात् मै कुछ बहक गया हूँ। परन्तु यह अप्रासगिकता भी आनुषागिक है। महामत्स्य के एक चपेटे ने दीन पोत को उत्तर गिरि के शिर से लाकर टकरा दिया था और मेरी द्विजिह्वा लेखनी प्रेम-प्रवाह मे बह कर सामरस्य-सुधा के पास आ गई। कुछ बूदे उसके मुख मे पड ही जायेगी। दूसरो को वह कुछ पिला सकेगी, यह अनिश्चित है। कामायनी मे बार बार समरसता की चर्चा की गई है। उसके विरोधी तत्त्वो का निन्दा के साथ उस सिद्धात का अपूर्व ढग से प्रस्तवन और स्तवन है।[1] शैल-शृगो के तुषारावेष्ठन की भाँति सामरस्य कामायनी पर छहरा हुआ है।

सामरस्य द्वारा जीवन का यथार्थ चित्र सम्मुख आ जाता है। गोस्वामीजी ने 'क्रोध कि द्वैत-बुद्धि बिनु' कहकर सघर्ष के मूल मे द्वैत को स्थान दिया है। संसार

---

१ — उपक्रमोपसहारोवभ्यासोऽपूर्वता फलम्, अर्थवादीपपत्तीच लिग तात्पर्य निर्णये।
— षड्लिंग।

मे भीषण मारकाट, छीनाझपटी, कोलाहल-कलह, लूट-खसोट, ग्रासक्ति-अभिलाषा, विद्रोह-विद्वेष, अशाति-असतोष मचा हुआ है इसका कारण है द्वैत बुद्धि। सिर चढी बुद्धि द्वयता का साम्राज्य ससार मे स्थापित करती है। हृदयो पर वक्षस्थल की जड़ता का आवरण पड जाता है। नैतिकता के साम्राज्य मे बुद्धि-प्रसूत कोरे नियम और रुखे तर्क कुछ नही कर सकते। 'सुख दुख की मधुमय धूप छाँह' की सरल राह छोडकर वह भेदभाव उत्पन्न करती है। उसमे उत्तेजक तत्त्व तो विद्यमान है पर तृप्ति के साधन नही।[1] 'मरज मे मुब्तिला करके, मरीजो को दवा देना' वह नही जानती। सघर्ष, शोक, सताप, दैन्य, कटुता, को दूर करने की एकमात्र ग्रौषध है श्रद्धा। श्रद्धा और इडा का समन्वय इसीलिए परमावश्यक है। जो 'जगताम्, धात्रि' तथा 'सर्वस्व जीवनम् है वह एक प्राणी को दूसरे जीव पर आक्रमण करने के लिए कैसे प्रेरित करेगी। श्रद्धा समरसता की प्रतीक है। सारस्वत प्रदेश का उपद्रव सामाजिक समरसता के अभाव मे उठ खडा हुआ था —

अपना हो या औरो का सुख, बढा कि बस दुख बना वही

डा० प्रेमशंकर ने ठीक ही कहा है — श्रद्धा के अभाव मे ही समस्त विभीषिकाएँ आरम्भ हो जाती है ... मन बहिर्मुखी हो जाता है —इन्द्रियॉ इधर उधर भागने लगती है, पतन के साथ उसका सघर्ष होता है।[2] परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि बुद्धि का जीवन मे कोई स्थान नही।[3] हृदय की इच्छाओ को, ज्ञान के सचय से क्रियान्वित किया जा सकता है परन्तु जिसके पास उल्टी मति (बुद्धि) है उसका व्यर्थ ज्ञान ...... (देखिए कामायनी अष्टम सस्करण पृ० सख्या १६२) क्या अभिलाषाओ को सक्रिय होने देगा ? और तीनो के समरस होने मे त्रिपुर रहस्य खुल जाता है तथा तन्मयता आ जाती है। इसका विवेचन हम आगे चलकर करेगे।

भगवान कृष्ण ने समरसता को समत्व-भावना कहा है, ब्राह्मी स्थिति भी यही है। सुरी, आसुरी वृत्तियो का द्वन्द्व यही समाप्त हो जाता है। योगियो ने जीव और ब्रह्म के इसी मिलन बिन्दु को निर्विशेष स्थिति की सज्ञा दी है और शैव-दर्शन मे जहाँ शिव-शक्ति-तत्त्वो का सामरस्य होता है, इसे चिदानन्द प्राप्ति कहा गया है। प्रसादजी के सामरस्य का मूल उत्स शैवागम है सही परन्तु अपूर्वता लाने का सफल प्रयत्न उन्होने किया है। शैवागमो मे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन (साधारणत ज्ञान वस्तु अर्थात निर्विकल्प विज्ञप्ति को सूक्ष्म दृष्टि से निरुपित करना) का महत्त्व है। इस

१—कुरुक्षेत्र (दिनकर) मे भीष्म ने इस सिर चढी को कोसा है

बुद्धि शासिका थी जीवन की अनुचर मात्र हृदय था,
मुझसे कुछ खुलकर कहने मे लगता उसको भय था।

२—'प्रसाद का काव्य' पृष्ठ ३३१

३—इडामकृण्वन्मनुपस्य शासनीम् १--३९--११ क्रम कामायनी का आमुख

दर्शन के अनुसार शिव अखड-आनन्द स्वरूप है, जो बिना किसी उपादान के सृष्टि करते है। शिव-सूत्र-विमर्शिनी के अनुसार शिव-शक्ति मथ्य-मथ्यक-भाव मे परस्पर सघटित होकर इच्छा, कर्म तथा ज्ञान तीनो मे समरसता लाकर उल्लास या आनन्द का नवनीत उत्पन्न करते है। यह आनन्द आध्यात्मिक है, परन्तु प्रसाद के सामरस्य-सिद्धात मे न केवल शिव-शक्ति मे परस्पर समरसता है अपितु विरोधी वृत्तियो मे भी। अतः प्रसाद के सामरस्य मे आध्यात्मिक और लौकिक दोनो मतो का सफल निर्वहण हुआ है।[1]

आध्यात्मिक और लौकिक दोनो का एक साथ निर्वहण भावमय और श्लाध्य रूपक को प्रश्रय देने से हुआ है। आनन्द सर्ग मे यात्रियो के दल के साथ 'था सोमलता से आवृत वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि' अर्थात् सात्त्विक धर्म का प्रतीक धवल वृषभ है जिस पर पाथेय रखकर मानव 'अखड आनन्द' को प्राप्त करता है।

लौकिक पक्ष मे 'सोमलता' हमारे मार्ग मे सुख पहुँचाने वाली अति आवश्यक सामग्री मानी जायेगी। डॉ० फतहसिंह इसे सुखोपभोग की प्रतिमा मानते है और डा० नगेन्द्र ने इसका साकेतिक अर्थ भोग माना है[2] किन्तु माचवेजी सोमलता को आनन्द की अवस्थाओ तथा प्रकाश का प्रतीक मानते है और डा० नगेन्द्र पर टूट पडते है, 'दर्शन के उथले अध्ययन से हमारे आलोचको मे दर्शन तथा मनोविज्ञान की शब्दावली गलत-सलत प्रयुक्त करने की परिपाटी सी चल पडी है,[3] परन्तु मेरी समझ मे दृष्टिकोण का ही भेद है। बात दोनो एक ही कहते है। गोस्वामीजी की इस पक्ति के प्रकाश मे 'कामिहि नारि पियारि जिमि' आदि के देखने से विदित होगा कि आध्यात्मिक दृष्टि से सोमलता प्रकाश है, आनन्दावस्था है जो तन्मय लोगो के लिए है और लौकिक दृष्टि से यह मार्ग, के अति आवश्यक उपकरणो का प्रतीक है। वृषभ साधारण वृषभ है (कुजडो और धोबियो का भी तो वृषभ होना है)।

महाचिति मे जिसके अतिरिक्त और सत्ता है ही नही सभी अनुरक्त होते है ऐसा प्रसादजी ने श्रद्धा सर्ग मे कहा है।

श्रद्धा ने विश्व-वैषम्य मे सामरस्य-सूर्य को उदित होता हुआ दिखाया है। जैसे नील परिधान के मेघवन मे श्रद्धा का गुलाबी मुख बिजली के फूल की भाँति द्रष्टव्य था वैसे ही नीले झीने परदे मे सुख का छिपा हुआ '...... गात ......'। यदि बुद्धि तर्क की जननी है तो इडा की अलके तर्क-जाल सी बिखरी कही गई है और उसके रूप चित्रण मे पदो का प्रयोग है— दार्शनिक सिद्धातो के गहरे-गहरे खड्ड है—श्रद्धा के रूप, परिधान की अभिव्यक्ति शृंगार के मृदुल मसृण छद द्वारा हुई

१—कामायनी अनुशीलन, रामलाल सिह

२—कामायनी मे रूपक तत्व, साहित्य सदेश सितम्बर १९५० पृष्ठ २९२

३—व्यक्ति और वाड्मय पृष्ठ ९५

है। आगे इस समरसता का पल्लवन इस प्रकार किया गया है —

विषमता की पीडा से व्यस्त, हो रहा स्पदित विश्व महान,
यही दुख-सुख विकास का सत्य, यही भूमा का मधुमयदान।

कार्य मे कारण की भाँति शिवत्व सब मे विद्यमान है —

नित्य समरसता का अधिकार उमडता कारण जलधि समान,
व्यथा की नीली लहरो बीच बिखरते सुख मणिमय द्युतिमान।

उपर्युक्त विषमता को साख्य-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली मे हम (Hetrogenous) विरूप परिणाम कह सकते है। लगे हाथ इसे स्पष्ट ही कर दिया जाय। जब गति, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध तथा विषय-हीन अव्यक्त पिड मे गुण अस्फुटित रूप मे रहते है तो यही 'प्रकृति' कहलाती है यही गुणो का सरूप परिणाम है।[1] परन्तु जब गुणक्षोभ होता है अर्थात् एक की प्रवलता से दो दब जाते है, तब विषयो का प्रादुर्भाव होता है। यही सृष्टि का उद्भव रहस्य है।[२]

सुख को अपने मे सीमित करने का अर्थ हुआ पर-पीडा की उपेक्षा। अपने पास दूसरो के दुख का कियदश रखना ही समरसता होगी —

सुख को सीमित कर अपने मे, केवल दुख छोडेंगे,
इतर प्राणियो की पीडा लख, अपना मुँह मोडेंगे।

प्रसादजी की ऐसी दर्शन-गर्भित पक्तियो से तथाकथित लोकसग्रही प्रगतिवादी कलाहीन, गालीबाजो को कुछ शिक्षा लेनी चाहिए जो ठडे देश की कल की कलमो को लगाने की हठधर्मी कर रहे है। यहाँ के तुख्मी का स्वाद वे क्या जाने ?

सच्ची मानवता के सम्यक् प्रचार के लिए ही तो सारस्वत-प्रदेश छोडते समय श्रद्धा ने मानव से कहा था —

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप-निचय, हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सबकी समरसता का प्रचार, मेरे सुत, सुन माँ की पुकार।

इसके द्वारा शासक-शासित, व्यक्ति-समाज और अधिकारी तथा अधिकृत मे समरसता का प्रचार होगा। श्रद्धाहीन मनु तर्कमयी इडा के राज्य मे भौतिकतावादी रहे है। वैज्ञानिक जडता मे आध्यात्मिक पुट देना अनिवार्य है —

प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

प्रजा के इन शब्दो से मनु की 'अपूर्ण अहता' को चोट पहुँचनी आवश्यक थी ? छाया-

1—Homogenous

२—'भारतीय दर्शन' सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, धीरेन्द्र मोहन दत्त, हिन्दी रूपातर, पृष्ठ २७७

वादी वृहत्रयी (प्रसाद, पत, निराला) ने यात्रिक सभ्यता मे आध्यात्मिक भावो का पुट दिया है ।[1]

पुरुष का जीवन समरस तब तक नही हो सकता जब तक उसे पुरुषत्व का मोह बना रहता है, और जब तक श्रद्धा-स्वरूपिणी नारी उसके जीवन की ऊँची नीची भूमि को पीयूष धारा से सीचकर समतल नही कर देती । यह तो हुआ लौकिक पक्ष । अब आध्यात्मिक पक्ष पर भी विचार कर लिया जाय । 'कामायनी' का चिता सर्ग मरुभूमि मे चित्रित मननशील जीव के स्वर्णिम अतीत का आभास देता है । एक समय था जब जीव अन्नमय-कोश मे फँसा हुआ मासल भोगो के समक्ष अनागत भविष्य की चिता से निर्बन्ध मुक्त था किन्तु विज्ञानमय कोश की द्वैत प्रकट करने वाली समनी (गतिमय, अचल माया) और उन्मनी (अगतिमय, चलमाया) शक्तिया, उस पर क्रमश हिम और जल के रूप मे अपना माया-जाल फैलाती है । विलासी देवताओ का हुआ क्या ?

वे सब डूबे डूबा उनका विभव बन गया पारावार।

वासना की उपासना और विनाश का यह समीकरण समरसता ही तो है ।

मत्स्य की कृपा से मननशील जीव टुटुरुटू बच रहा । जो मनोमय कोश पर हिमगिरि के उत्तुग शिखर पर जल माया का इन्द्रजाल देखने लगा । इस मननशील जीव के दो रूप कामायनी मे दिखाए गए है । हृदय-तत्व (श्रद्धा तत्व) युक्त तथा मूर्द्धातत्व या इडातत्व युक्त ।[2] श्रद्धा-तत्व के अतर्गत जाग्रत होने पर वह तप को तिलाजलि देकर कर्मरत होता है । परन्तु कर्म करते समय जैसे विविध व्याघात मार्ग मे पडते है वैसे ही जीव को आसुरी वृत्तियो ने भटकाना आरम्भ किया । हृदय तत्व से पराड्मुख जीव पर जडवादी बुद्धिवाद का आवरण पड जाता है । अतः वह आसुरी शक्तियो से प्रेरित किये जाने पर ऐसे कार्य करता है कि उस पर भयकर वज्रपात होता है । इससे प्रसादजी का उद्देश्य सुस्पष्ट हो जाता है । सप्तसधु (सप्तसिधु, सरस्वती, दृषद्वती, शतद्रु, परुष्णी, असिक्री एव वितस्ता आदि का सामूहिक नाम) प्रदेश की वियुक्त शक्ति सम्पन्न देव-जाति के ध्वस मे उन्होने जीवन की पूर्ण इकाई देखी है । सारस्वत-प्रदेश मे विपक्षी प्रजा और मनु मे सहत सग्राम छिडा है । परन्तु मुमूर्ष मनु श्रद्धा का सबल पाकर अभीष्ट प्राप्त करते है । सात्विकी श्रद्धा इसीलिए सात्विक है, सत्व प्रकाशक है कि वह रजोगुणमयी इडा और तमोगुणमय आकुलि किलात पर विजय प्राप्त करती है । और इन दो गुणो की प्रबलता से प्रकृति मे जो, विषमता आ गई थी उसका शमन कर उसको साम्यावस्था मे लाने

१—आज सभ्यता के वैज्ञानिक दृढ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर —'अणिमा', निराला

२—कामायनी सौन्दर्य पृष्ठ ७७

में कृतकृत्य हुई। तुलसी सात्त्विक श्रद्धा को धेनु कहते हैं मैं उसे कामधेनु कहूंगा। श्रद्धा का प्रश्रय पाकर मनु विश्व की कुत्सा करने वाले कोरे आनन्दवादी, कर्त्तव्य-पराङ्मुख, दायित्वहीन ही नहीं रहे वरन् कर्मशील रहे है और उन पर योगवाशिष्ठ के ये शब्द चरितार्थ हो गये—

यद्यत्संवद्यते किंचिन तेन तेनाऽऽन्युभूयते।
मनो मननं निर्माणं यथेच्छसि तथा कुरु॥[1]

श्रद्धा जीव को पर्वत की चोटियों पर विविध कोशों (अन्न, प्राण, मन, विज्ञान आनंद) और चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा) पर चढ़ाती है। मनोमय कोश की चोटी से जीव को इच्छा का रागारुण छायामयी भावमयी प्रतिमा का मंदिर जैसा लोक, कर्म का श्यामल धुँधला अविज्ञात धुआँधार सा मलिन लोक तथा ज्ञान का सुख दुख से उदासीन ज्ञानक्षेत्र दिखाई देता है। वस्तुतः ये तीनों लोक श्रद्धा के ही अंश हैं। अतः विज्ञानमय कोश में पहुँचकर तीनों एकाकार हो जाते हैं —

स्वप्न, स्वाप जागरण भस्म हो, इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

यहां 'ज्ञानी त्वात्मेव मे मतम्' गीता का सिद्धांत प्रतिपादित होता है। अंत में आनन्दमय कोश में ध्याता और ध्येय, शिव और शक्ति, माया तथा ब्रह्म, प्रकृति एवं पुरुष किं बहुना श्रद्धा और मनु अभिन्न हो जाते हैं, द्वैत समाप्त हो जाता है। केवल एक ही स्वर सुनाई देता है—'हम केवल एक हमीं हैं'

कहना न होगा कि प्रारंभ से 'एक तत्व की प्रधानता' का सफल उपबृंहण अंत तक किया गया है उपक्रमोपसंहार की एकता रुप लिंग है। कामायनी का अंतिम छंद है—

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था।

सामरस्य सिद्धान्त की यही अपूर्वता है। प्रसादजी के इस सिद्धान्त से ही आनन्दवाद प्रसूत हुआ है। इसे आत्मावाद, अद्वैतवाद, कर्मवाद, हृदयवाद (डा० रामकुमार वर्मा के हृदयवाद के अर्थ में मैं इसे नहीं प्रयुक्त कर रहा हूं) या श्रद्धावाद कहेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से हम दो निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। एक तो यह कि इसमें साँख्य-सिद्धान्त का निरूपण है। सांख्य के अनुसार यह पुरुष या आत्मा (चैतन्य-

---

१—मानव वही या उसी प्रकार का हो जाता है, जो या जैसा वह होने की इच्छा करता है। मन का कार्य मनन करना, निर्माण करना है। अतः मन की कर्मशक्ति के द्वारा वह जैसा और जो चाहता है वैसा वह कर सकता है। वशिष्ठ रामचन्द्र से····

स्वरुप) जब अपने को शरीर इद्रिय मन या बुद्धि समझ बैठता है तब भासित होता है कि वह परिवर्तन के प्रवाह मे पडकर डूब उतरा रहा है। प्रकृति प्रमेय है, ज्ञातव्य है, विषयो की जडाधार है। पुरुष ज्ञाता है, प्रमाता है। श्रद्धा की कृपा से मनु ने जो आनद प्राप्त किया है उससे ध्वनित होता है कि जड-प्रकृति ने प्रकाश मे आने के हेतु निष्क्रिय पुरुष का प्रश्रय लिया है। मनु (पुरुष) कैवल्यार्थ (स्व को पहचानने के हेतु) प्रकृति की सहायता लेते है।

दूसरे निष्कर्ष से प्रसादजी की नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा का परिचय मिलना है। प्रसादजी ने कामायनी की कथावस्तु मे मनुष्य की तीन प्रकार की इच्छाओ का क्रमिक विकास दिखाया है। इन्हे भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक इच्छा से अभि-हित किया गया है। भौतिक इच्छा, जिससे मानव दैहिक सुख-साधनो के जुटाने मे प्रवृत्त होता है और वैयक्तिक सुखशाति लाभ करता है। देवताओ के साथ मनु का वासना की उपासना करना भौतिक इच्छावृत्ति का सूचक है। यह नाटक के सूच्य दृश्य सदृश 'चिता सर्ग' मे द्रष्टव्य है। 'चिर किशोर वय नित्य विलासी' प्रभृति (३६ से ४१ तक के) छद इसके साक्षी है। सहानुभूति और समवेदना के गहन पाठ पढने वाले मनु का मन 'आशा सर्ग' मे सामाजिक भावना से भर गया है। मनु स्वत स्फूर्त्त प्रेरणा से प्रचोदित होकर ही तो अवशिष्ट अन्न बाहर रख आते है न कि किसी सामाजिक बधन के कारण। परिणामत· मनु और श्रद्धा का मिलन होता है। परन्तु मन को अभी शाश्वत शाति नही मिली। नैतिक इच्छाओ की पूर्ति पर मनु पहले श्रद्धा के प्रणय की अवहेलना कर बैठे। श्रद्धा ने उनसे कहा—

यह हिसा इतनी है प्यारी, जो भुलवाती है देह गेह

परन्तु मनु ज्वलनशील अतर लेकर निकल पडे। सारस्वत प्रदेश मे उनके कर्त्तापन और नियामकता को ठेस पहुँची और जिसका परिशमन आनन्द सर्ग मे हुआ है जहाँ 'हम केवल एक हमी है' का एकतत्र शासन है। जीवन की यही आध्यात्मिक इच्छा है जिसकी प्राप्ति अहकार को उसकी चरम सीमा पर ले जाकर शून्य में विलीन कर देती है। प्रो० लालजी राम शुक्ल के शब्दो मे यहा इच्छाओ का दमन नही होता प्रत्युत व्यक्तिगत (भौतिक) एव सामाजिक (नैतिक) इच्छाओ का भेद ही नष्ट हो जाता है।[1]

अब हम नियतिवाद को लेते है। नि सदेह प्रसाद का काव्य (मेरा आशय समूचे साहित्य से है) प्रेम की लेखनी तथा करुणा की बूँदो (मसि) से लिखा गया है जिसमे जीवन सबधिनी मान्यताओ तथा सिद्धान्तो का सच्चा बिब है। अनन्य प्रेमी घनानद का उद्घोष है—

१—कोष्ठक के शब्द लेखक के है 'मनोवैज्ञानिक रश्मियाँ' ब खड 'जीवन का नया दर्शन' शीर्षक लेख पृष्ठ ५५

मोहि तो मेरे कवित्त बनावत

किन्तु प्रसाद की कृतियो मे मानवता के प्रति ललक है, कवि के जीवन की झलक है। उनकी कृतियो मे नियतिवाद की प्रतिष्ठा हुई है। जनमेजय के नाग-यज्ञ मे 'अखडनीय कर्मलिपि' का गुरुनाद सुनाई पडता है। 'चन्द्रगुप्त' सा कर्म-निष्ठ विधाता की स्याही की एक बूँद से घबराता है। व्यास मनुष्य को अदृष्ट शक्ति का क्रीडा कदुक मानते है। बिबसार प्रकृति द्वारा भाग्य-चिट्ठा समझाये जाने की चर्चा करते है। स्कन्दगुप्त मनुष्य की अदृष्ट लिपि को क्षरणक्षरण मे प्रज्ज्वलित और विलीन होने वाली 'कृष्णमेघ मे बिजली की वर्णमाला' से उपमित करते है और यही नियतिवाद कामायनी मे यत्र तत्र विद्यमान है। इसका मूल कारण है जीवनस्थिति। मानव परिस्थितियो का दास है। काल के निताात निष्ठुर आघातो (पूज्य पितरौ और अग्रज-निधन) ने उन्हे नियतिवादी बना दिया था।

चिता सर्ग मे नियम भग कर्त्ता विलासी देवो को दड भोगते देखकर कोई अन्तरिक्ष मे प्रलय हलाहल नीर के व्याज रोया और फिर उनकी कायरता और निराशा देखकर किसी ने पथ-प्रदर्शन किया। नियति पथ बनी। मनु आशा सर्ग मे नियति को शिरसानमन् करते है—

उस एकात नियति शासन मे चले विवश धीरे धीरे

और इडा सर्ग मे काम की अभिशाप प्राप्त ध्वनि के लीन होने पर—

वे (मनु) सोच रहे थे आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया
जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया
लिख दिया आज उसने भविष्य। यातना चलेगी अतहीन,
अब तो अवशिष्ट उपाय भी न।

किसी ने ठीक कहा है—

मैने मजबूरियो से काम लिया, इख्तियारात जब न काम आये।

परन्तु प्रसाद के नियतिवाद मे दैव दैव पुकारने की भावना नही, कर्मनिष्ठ बनने के सकेत है। उनकी दृष्टि मे नियति सचेतन प्रकृति की वह अनिर्दिष्ट अनिर्वचनीय शक्ति है जो मानव के बढते हुए दैन्य और अहकार का शमन करती है—[१]

कर्म का भोग भोग का कर्म, यही जड का चेतन आनन्द

तभी मनु ने कहा था—

देव न थे हम और न ये है, सब परिवर्तन के पुतले।

परन्तु मनुष्य की जब अपनी ही जान पर आ बनती है तब वह एक बार

२४—साख्या-सिद्धात मे प्रकृति अपने प्रथम विकार बुद्धि (महत्तत्व) से अहकार का प्रादुर्भाव करती है।

भगवान् से भी मोर्चा लेने के हेतु तैयार हो जाता है।[1] एकाकी मनु सारस्वत प्रदेश मे पौरुष और साहस बटोर कर—

तो फिर मै हूँ आज अकेला जीवन-रण मे,
प्रकृति और उसके पुतलो के दल भीषण मे।

कहते हुए प्रकृति और उसके पुतलो को चुनौती देते है। यही वास्तविक कर्मण्यता है। विराट् पुरुष का महत्त्व तो आशा सर्ग मे वे स्वीकार ही कर चुके है।

कपिल के साख्य-दर्शन, कणाद के परमाणुवाद पर भी प्रसादजी की दृष्टि गई है। निम्न पक्तियो मे प्रकृति और पुरुष के सामञ्जस्य की चर्चा है, जिसमे साख्य सिद्धान्त की झलक भी है—

एक तुम, यह विस्तृत भू खड प्रकृति वैभव से भरा अमंद
कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड का चेतन आनद

एक से पुरुष का बोध होता है। तुम्हारे अस्तित्व की सार्थकता इस बात मे है कि प्रकृति-विभव से उपभोग्य पदार्थो से युक्त स्पर्श, रूप, रस, गध भरे भूखड के तुम चैतन्य भोक्ता बनो। दुख तुम झेल ही चुके हो। कर्म का भोग भोग का कर्म मे कार्य-कारण का नियम समाविष्ट है। साख्य के अनुसार प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि है, यही महत्त्व है। अहकार के मूल मे भी यही है। इसी अपूर्ण अहता के कारण उस देव जाति का विनाश हुआ और प्रकृति के शक्ति-चिन्ह निर्बल दिखाई दिये। परन्तु प्रसाद ने विराट् पुरुष की कल्पना की है जो इनका नियता है जिनके शासन मे यह अम्लान घूमते है।[2] इसीलिए प्रसाद मे कपिल के निरीश्वर साख्य के कम, पतजलि के योग-दर्शन या सेश्वर साँख्य के दर्शन अधिक होते है।

अब परमाणुवाद को लीजिए। पचभूतो का न तो भैरव मिश्रण ही सामान्य रीति से होता है और न परमाणु वालो की दौड—

वह मूल-शक्ति उठ खडी हुई अपने आलस का त्याग किए
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुंदर अनुराग लिए।

और भी—

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी सश्लिष्ट हुए बन सृष्टि रही।

सृष्टि का अर्थ ही प्रचीन प्रणाली का विध्वस और नवीन की सर्जना है। जीवात्माओ के सुख दुख का दायित्व प्राकृतिक नियमो से परे है। परमाणु सश्लिष्टि, परमाणु विश्लिष्टि का अपना महत्त्व है। प्रसादजी पार्वतीपरमेश्वरौ को एक मानकर आदि शक्ति के उठ खडे होने की बात कहते है जिससे वायु, जल, पृथ्वी, तेज आदि पर-

१—मिलाइए—'मुझे फूल मत मारो'—उर्मिला, 'साकेत' के नवम् सर्ग का गीत

२—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत
वेदान्त दर्शन (गीता प्रेस, पष्ठ २४६ पर) बृ० उ० ३/८/२५ से उद्धत

माणुश्रो के बाल सयुक्त होने के हेतु दौडते है। प्राक्तन कर्मों (पाप या पुण्य) के अनुसार जीव दुख सुख का भोग करते है। जड प्रकृति भी चेतन की भाँति इस प्रकार के भोग भोगती है। केवल मनुष्य ही नही प्रसादजी ने शैल-सरिता धारिणी-जलनिधि के मिलन के उदाहरण दिये है।

'औलूक्य दर्शन' के इस शुष्क विवेचन के उपरान्त 'छायावादी उपनिषद्' की उपपत्ति मे (पुनरुक्ति दोष की चिन्ता न करते हुए) अखड आनन्दवाद के सूचक कामायनी के अतिम छद के पुनरुद्धरण का लोभ सवरण नही कर सकता।

समरस थे जड या चेतन, सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती आनन्द अखड घना था—

नाटककार 'प्रसाद'

लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जबकि एक महापुरुष का अपूर्ण कार्य दूसरे महापुरुष द्वारा पूर्ण हुआ है। हिन्दी-साहित्य मे ऐसा ही एक उदाहरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०–१८८५ ई०) और जयशकर 'प्रसाद' (१८८९–१९३७ ई०) के व्यक्तित्वो मे मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चद्र ने जब साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया था उस समय व्रजभाषा-काव्य की प्रधानता थी और गद्य के क्षेत्र मे खडी बोली का आधिपत्य था। खडी बोली गद्य मे उपयोगी और वैज्ञानिक-साहित्य का अभाव तो न था, किन्तु ललित-साहित्य का सृजन होना शेष था। यह कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पन्न हुआ। भाषा, भाव, साहित्य-रूपो आदि सभी दृष्टियो से वे आधुनिक हिन्दी-साहित्य के जनक सिद्ध होते है। इतना ही नही कि उन्होने अपनी अनवरत साधना द्वारा हिन्दी-साहित्य को मध्य-युगीन ह्रासोन्मुख जीवन के अध-विश्वासो, अध-परम्पराओ और कुरीतियो एव कुप्रथाओ के कर्दम से निकाल कर स्वस्थ और प्रशस्त मार्ग पर ला खडा किया, वरन् अपने व्यक्तित्व की चौमुखी प्रतिभा से अपने समकालीन साहित्यकारो को अदम्य उत्साह और चेतना से अनुप्राणित भी किया। उनके इस सभी युग-परिवर्तनकारी कार्यों की समीक्षा करने का यह अवसर नही है। इस समय नाट्य-साहित्य के क्षेत्र मे उनके द्वारा किए गए कार्य पर दृष्टिपात करना है। ऐसा करने से हम 'प्रसाद' का महत्त्व भी समझ सकेंगे। इतना तो निश्चित है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व साहित्यिक नाटको का अभाव था। रीतिकालीन कवियो ने जहाँ विविध-विषय सबधी लक्षण-ग्रन्थ लिखे, वहा उनका ध्यान नाटको, या दृश्य-काव्य की ओर न गया। इसलिये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को एक दम नवीन कार्य मे सलग्न होना पडा था। उनका यह नवीन कार्य साहित्य की दृष्टि से ही नही, देश के व्यापक जीवन की दृष्टि से भी था। ये दोनो ही कार्य दुस्तर थे और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसा युग-पुरुष ही उन्हे सम्पन्न कर सकता था। उन्होने देश के जीवन का पुनर्संस्कार करने के लिये नाटक को उपयुक्त साधन समझा। अशिक्षित से अशिक्षित व्यक्ति भी रगमच पर घटित होने वाली घटनाए समझ सकता है और नाटककार के विचारो से प्रभावित होकर आत्म-परिष्कार की भावना से ओतप्रोत हो सकता है। बीसवी शताब्दी मे जो स्थान उपन्यास का है, वही स्थान भारतेन्दु-युग मे नाटक का था। भारतीय नवोत्थान के प्रथम चरण की समस्त भावनाएँ तत्कालीन नाट्य साहित्य मे घनीभूत हो उठी थी। ऐसे

उपयोगी साहित्यिक साधन की रचना के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्मुख हिन्दी का अपना कोई आदर्श नही था। नाटक नाम से अभिहित जो रचनाए उनके सामने थी वे नाममात्र की थी या भ्रष्ट थी। पारसी रगमच उनकी कलात्मक अभि-रुचि से कोसो दूर था। नाट्य-रचना की दृष्टि से वे या तो सस्कृत नाट्य-साहित्य का अनुसरण कर सकते थे, या फिर वे पाश्चात्य नाट्य-साहित्य और रचना-पद्धति से प्रेरणा ग्रहण कर सकते थे। तत्कालीन सामाजिक रुचि को ध्यान मे रखते हुए इन दोनो मे से किसी एक का अवलबन ग्रहण करना उनके लिये सभव नही था। इसलिए कुछ समकालीन प्रभाव स्वीकार करते हुए भी उन्होने समन्वयात्मक मार्ग अपनाया है और हिन्दी का अपना स्वतत्र नाट्य-धर्म स्थापित किया। उनके बताए हुए मार्ग को ही अन्य नाटककारो ने आदर्श रूप मे ग्रहण किया यद्यपि पारसी रंग-मच की लोकप्रियता और आर्य-समाज की प्रचारात्मकता के प्रभावान्तर्गत हिन्दी के नाटककार, आगे चलकर, उस आदर्श का पूर्ण-रूपेण निर्वाह न कर सके और फलत, कलात्मक दृष्टि से हिन्दी का नाट्य-साहित्य पतित हो गया। तथापि, भारतेन्दु तथा उनके समकालीन उच्च कोटि के नाटककारो की रचनाओ के अनुशीलन से स्पष्टत दो निष्कर्ष दृष्टि गोचर होते है—(१) भारतीय नवोत्थान के प्रथम चरण की भावना का प्रधान्य, और (२) पूर्व और पश्चिम की नाट्य-रचना-पद्धतियो का समन्वय।

जयशकर 'प्रसाद' का जन्म १८८९ ई० मे हुआ था, अर्थात् भारतेन्दु हरि-चन्द्र की मृत्यु के चार वर्ष बाद। दोनो के कुलो, कुल-परम्पराओ, शिक्षा दीक्षा, नाट्य-साहित्य का निर्माण आदि दृष्टियों से, ऐसा लगता है, मानो भारतेन्दु हरि-चन्द्र ने ही 'प्रसाद' के रूप मे नवीन जन्म धारण किया हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित नाट्य-परम्परा को ही 'प्रसाद' ने, कालानुसार, आगे बढाया। यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतीय नवोत्थान के प्रथम चरण की भावना से ओतप्रोत थे, तो 'प्रसाद' उसके द्वितीय चरण की भावना से। नाट्य-रचना-पद्धति की दृष्टि से 'प्रसाद ने पूर्वी और पश्चिमी रचना-पद्धतियो के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी नाट्य-रचनाओ द्वारा तत्कालीन भारतीय जीवन का परिष्कार किया, उसके उज्जवल भविष्य की आधार शिला का सफलतापूर्वक निर्माण किया, उनके सच्चे उत्तराधिकारी के रूप मे 'प्रसाद' द्वारा भी वही पुनीत कार्य सपन्न हुआ। काव्यक्षेत्र मे जिस भावना से प्रेरित होकर 'भारत भारती' की रचना हुई थी, और वस्तुत जो भारतेन्दुयुगीन भावना से बहुत भिन्न नही थी, उसी भावना से प्रेरित होकर 'प्रसाद' ने अपने नाटको की रचना की। भारत का प्राचीन सास्कृतिक गौरव उसका अध पतन, और उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य की, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, यही प्रधान एव मूल ध्वनि

है। ये सब बाते उन्हे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही उत्तराधिकार मे मिली थी। उनका व्यक्तित्व चिरविकास-शील था। इसीलिए भारतेन्दु-युग मे जड जमी रहने पर भी उनका व्यक्तित्व सर्वथा स्वतत्र और नूतन रूप मे दृष्टिगोचर होता है। महापुरुषो के जीवन की कहानी ही ऐसी होती है।

प्रसाद के जीवन के प्रथम ग्यारह वर्ष भारतेन्दु-युग (१८५०-१९०० ई०) मे व्यतीत हुए थे। पॉच वर्ष बाद उनका साहित्यिक-जीवन प्रारभ होता है। इस समय उन्होने नाटको का अत्याधिक प्रचार, व्रजभाषा और खडी बोली के पारस्परिक सघर्ष मे व्रजभाषा का ह्रास और खडी बोली का उत्कर्ष, हिन्दी साहित्य मे विविध-रूपता, अँगरेजी भाषा और साहित्य का उत्तरोत्तर बढता हुआ प्रभाव आदि बाते साहित्य-क्षेत्र मे देखी। ऐसे सक्रमण-काल मे पालित-पोषित होते हुए भी वे, भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखते हुए, नवीनता के अग्रदूत बने। यदि एक ओर पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के माध्यम द्वारा साहित्य एव भाषा के परिमार्जन की चेष्टा मे सलग्न थे, तो दूसरी ओर 'प्रसाद' 'इदु' द्वारा साहित्य मे नवजीवन और नवीन चेतना अनुप्राणित करने मे प्रयत्नशील थे। वास्तव मे जिस भवन का निर्माण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था उसके जीर्ण खण्डो का उद्धार यदि पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी कर रहे थे, तो 'प्रसाद' कला की बारीकियो और विचारो की सूक्ष्मत्ता की दृष्टि से, उस पर पच्चीकारी कर उसे और भी अधिक सुन्दर और भव्य बना रहे थे।

'प्रसाद' ने जिस युग मे अपने नाट्य-साहित्य की रचना की वह युग अभूत-पूर्व क्रियाशीलता और प्राचीन मूल्यो अथवा मान्यताओ के, नवीन वैज्ञानिक अध्ययन के प्रकाश मे, परीक्षण का समय था। देश का मानसिक जीवन चारो ओर से एक विचित्र रूप मे उद्वेलित हो रहा था। भारतीय-जन अपने लिए, अपने समाज और देश के कल्याण के लिए, और अन्ततोगत्वा, विश्व-मानव के लिए कुछ कर सकने के लिए छटपटा रहा था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के फौलादी पजे मे जकडा रहने पर भी वह अपनी स्वतत्र सत्ता घोषित करने के लिए दृढारूढ था। राज-नीतिक पराधीनता और आर्थिक शोषण से पिसते रहने पर भी, आशा-निराशा के बीच डूबते-उतराते रहने पर भी, उसकी गति मन्द न हुई। वह निरतर अपने लक्ष्य की ओर बढता गया। 'प्रसाद' के जन्म से चार वर्ष पूर्व ही इडियन नेशनल कॉग्रेस का जन्म हो चुका था और, यद्यपि, उसमे 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधि-कार है' का स्वर उच्च करने वाले उग्रवादी नेता तिलक का पदार्पण हो चुका था, तो भी वह अभी गोखले और नौरोजी जैसे उदार-नीति में विश्वास रखने वाले महा पुरुषो के प्रभाव मे थी। 'प्रसाद' के साहित्यिक-जीवन के प्रारभ मे ही बग-भग आन्दोलन और, आगे चल कर, होमरूल आन्दोलन छिड गए थे

अनेक नवयुवक उत्साही राष्ट्रीय-वीर भारतमाता की दासता की शृखला तोडने के लिए अधीर हो उठे और उन्होने अग्नि-पथ ग्रहण किया। 'प्रसाद' के जीवन-काल मे ही प्रथम महायुद्ध (१६१-४१६१८ ई०) की विभीषिकाओ से ससार का जीवन सत्रस्त हो उठा था और उनके जीवन के अन्त तक भारतीय राष्ट्रीयता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद मे कई बार मुठभेड हुई और महात्मा-गाँधी जैसे महापुरुष ने भारतवासियो को आशा का सम्बल प्रदान कर ऐसे क्रान्तिकारी आन्दोलनो की अवतारणा की जिनसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सिहासन हिल उठा और देश के धार्मिक एव सामाजिक-जीवन मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए बिना न रह सके। प्रथम महायुद्ध के भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर हुए जिनमे से एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह था कि तीन ऐसे बडे समुदाय सामने आए जो मानव-जीवन का अपने-अपने ढग से सचालन करना चाहते थे। यह समुदाय थे—१ ऐग्लो-सैक्सन जातियो का समुदाय, (२) यूरोप की अन्य विजयी जातियो का समुदाय और (३) रूसनिवासियो का समुदाय। पहले दो समुदायो मे शक्ति पूँजीवादी और मध्यमवर्गीय लोगो के हाथ मे थी। तीसरे समुदाय मे शक्ति श्रमिको और सर्वहारावर्ग के हाथ मे आई थी। इस तीसरे समुदाय के प्रति प्रारभ से ही पहले दो समुदायो मे अविश्वास उत्पन्न हो गया था, लेकिन उसमे शक्ति और आत्मविश्वास का अभाव न था। इस सबके साथ-साथ भारतवर्ष मे ही नही, एशिया के अन्य देशो मे भी जागृति के चिन्ह प्रकट होने लगे थे और ये देश पश्चिम की साम्राज्यवादी, शक्तियो को उखाड फेकने के लिए सचेष्ट हो उठे थे। रूस-जापान युद्ध मे जापान की विजय से उनमे आत्मगरिमा की भावना अधिकाधिक तीव्र हो उठी। अपनी खोई हुई गरिमा को फिर से प्राप्त करने की आकाक्षा से प्रेरित भारतवर्ष के लिए राजनीतिक सघर्ष एक साधन मात्र था, क्योकि दासता की शृखला तोडे बिना सास्कृतिक, आध्यात्मिक या सामाजिक क्राति के स्वप्न देखना विडम्बना मात्र थी। भारतवासी ये समझते थे कि ससार के लिए उनके पास अपना सन्देश है, लेकिन राजनीतिक एव आर्थिक दासता उनके मार्ग मे बाधक थी। राजा राममोहन राय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द, तिलक, स्वामी रामतीर्थ रवीन्द्रनाथ, महात्मा गाँधी जैसे उन्नीसवी शताब्दी से चली आ रही भारतीय महापुरुषो की शृखला इस बात की पुष्टि करती है। यह ध्यान देने की बात है कि पराधीन भारत के नेता वैसे नही थे जैसे प्रायः पाश्चात्य देशो मे दृष्टिगोचर होते है। इन नेताओ का आविर्भाव उस समय हुआ जबकि भारत पश्चिम से प्रभावित होते हुए भी अपना विश्व-धर्म, त्याग, आध्यात्मिकता और जीवन के उच्च आदर्शों, सेवा-धर्म, कर्त्तव्य-परायणता, सवेदनशीलता, रागात्मकता, निष्काम कर्म, वैराग्य वृत्ति (ससार

मे अलग हो जाने के अर्थ मे नही) आदि ऐसी बाते रखनी चाही जो ससार के जीवन को मधुर और सुखमय बना सकती थी। जीवन मे ही 'निर्वाण', 'करुणा' आदि का सन्देश उन्होने ससार को देना चाहा। ऐसे समय मे देश के अतीत गौरव की ओर ध्यान जाना अनिवार्यत स्वाभाविक था। 'प्रसाद'जी के अन्तिम क्षणो तक देश मे एक ओर पराधीनता के कारण उत्पन्न जीवन की विभीषिकाएँ और दूसरी ओर देश के सास्कृतिक गौरव के प्रतीको के प्रति आकर्षण ये दोनो बाते साथ-साथ मिलती है। इसमे कोई सन्देह नही कि सास्कृतिक चेतना का अटूट सम्बन्ध राष्ट्रीयता से था। वस्तुत 'प्रसाद' का युग वह युग था जब कि भारतीयजन सघर्षपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी अपना दृष्टिकोण व्यापक बनाने मे सलग्न था और मध्ययुगीन प्रवृत्तियो पर प्रहार-पर-प्रहार कर रहा था। यह कार्य भारतेन्दु के जीवन-काल मे ही प्रारभ होकर 'प्रसाद' के समय मे नित्य नवीन एव सशक्त रूप धारण कर रहा था। पाश्चात्य जगत् के साथ स्थापित सम्पर्क के फलस्वरूप जनतत्रवाद, नवीन वैज्ञानिक शिक्षा, नारी आन्दोलन और समानाधिकार, व्यक्तिवाद आदि का देश मे प्रचार हुआ। ऐतिहासिक कारणो से भारत मे इँगलैड के आदर्शो को अधिक प्रश्रय प्राप्त होना आश्चर्य की बात नही किन्तु रूस तथा अन्य देशो के आदर्शो का प्रभाव बिल्कुल नही पडा, ऐसा नही कहा जा सकता। भारतीय-जीवन के विविध क्षेत्रो, जैसे उद्योग, विज्ञान, शिक्षा, राजनीतिक नियम एव विधान, साहित्य, कानून आदि मे विविध सुधार हुए और भारतीय जीवन को आधुनिक रूप देने की चेष्टा की जाने लगी। इस दृष्टि से भारतीय शिक्षित वर्ग ने अपनी समन्वयात्मक शक्ति, तर्क-बुद्धि और सास्कृतिक एव राष्ट्रीय गौरव का परिचय दिया। 'अपना देश' और 'स्वदेशी' (आर्थिक क्षेत्र मे) की भावनाओ ने पूर्वजो का गौरव भी स्मरण कराया। गाँधीजी का असहयोग-आन्दोलन राजनीतिक होते हुए भी प्राचीन सास्कृतिक और नैतिक मूल्य ले कर चला था। सत्य और अहिसा पर आधारित होने के कारण उनके द्वारा प्रचलित आन्दोलन ससार के राजनीतिक आन्दोलनो के इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। सोवियत सघ के जन्म के फलस्वरूप राष्ट्रीय-उत्थान, दलितो और पीडितो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के प्रति विरोधी भावनाओ का जन्म हुआ।

वास्तव मे जिस समय 'प्रसाद' ने नाट्य-रचना की थी उस समय, उन्ही के जीवन-काल मे, एक महान् ऐतिहासिक क्रम पूर्ण हो रहा था या लगभग हो चुका था। उन्नीसवी शताब्दी मे यूरोप ने एशिया के जीवन को जगाया नही, कहना चाहिए, झकझोर दिया था, उसे धक्का लगाया था। इससे एशियाई देश सचेत हो गये थे और उनमे परस्पर ऐक्य की भावना दृढ होती जा रही थी। और, यद्यपि, इँगलैड मे

ऐसे लोग थे, जो 'पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम, और दोनो कभी मिल नही सकते', का नारा लगाते थे, तो भी विविध राजनीतिक आन्दोलनो के फलस्वरूप मानवता की एकता का स्वप्न देखा जाने लगा था। यह बात विचित्र-सी अवश्य लगती है, किन्तु है वास्तविकता लिए हुए। उन सघर्षो के बीच मे से विश्व-बन्धुत्व, मानव-जाति की एकता का आदर्श स्पष्टत: भारतीय जन के सामने उपस्थित हो रहा था। स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी की वाणी मे इस महान् आदर्श का स्वर साफ सुनाई पडता है। उनका यह स्वर भारतीय सास्कृतिक आदर्श के अनुरूप ही था। भारत अपना सन्देश ससार के घर-घर पहुचा देना चाहता था। भारतीय नेताओ ने जनता मे अपने सास्कृतिक उत्तराधिकार की सुरक्षा की भावना उत्पन्न की और यूरोप की भौतिकता की निस्सारता सिद्ध कर उस उत्तराधिकार का श्रेष्ठत्व स्थापित किया। प्रथम महायुद्ध की विभीषिका और नर-सहार ने उनकी यह धारणा और भी दृढ कर दी और वे फिर बडे जोरो के साथ भारतीय आध्यात्मिकता, मानव-प्रेम, सुख, शाति, वसुधैव कुटुम्बकम् आदि का सदेश लेकर आगे बढे। बीसवी शताब्दी की नई अँगरेजी-शिक्षित पीढी भी यूरोपीय वेशभूषा, आचार-विचार आदि के प्रति अविश्वासी होने लगी। यूरोपीय भौतिकता का प्रचार भारतीय सस्कृति के प्रति विश्वासघात समझा जाने लगा। इस भावना से ओत-प्रोत नई पीढी अल्प-सख्यक अवश्य थी, किंतु उसकी वाणी मे शक्ति थी। यह कहना गलत न होगा कि उन्नीसवी शताब्दी के बहुत से अँगरेजी शिक्षित व्यक्तियो द्वारा निर्धारति मार्ग अब छोडा जाने लगा था और देश की समस्याओ पर भारतीय सस्कृति की पुष्ट परम्पराओ के प्रकाश मे विचार करने की चेष्टा होने लगी। उनकी दृष्टि मे यह वही प्राचीन सस्कृति थी जिसने यूरोप मे शॉपेन-हॉयर और उनके शिष्यो, वाग्नर, नीत्शे और बर्गसॉ जैसे उच्चकोटि के विचारको के दार्शनिक दृटिकोणो को प्रभावित किया था। इसी उत्साह मे प्राचीन देवी-देवताओ का विदेशी आक्रमणकारियो को निकालने के लिए आह्वान् होने लगा। नव-युवको मे भारतीय सास्कृतिक उद्यान को रौंदने वाले अँगरेजो के प्रति रोषपूर्ण भाव थे। वे यूरोप मे स्वतत्रता के लिए किए गए आन्दोलनो का अध्ययन करते थे। इटली तथा आयर्लैंड के आदर्श उनके सामने थे। पार्नेल, गैरीबाल्डी, मैजिनी, कौसथ (Kossuth) की जीवनियो का अध्ययन और भारतीय भाषा मे उनके अनुवाद हुए। रूस, आयर्लैन्ड, इटली आदि की भाँति राष्ट्रीयता और भारतीय सस्कृति की पोषक गुप्त क्रातिकारी सभा-सोसायटियाँ स्थापित हुईं। ये नवयुवक भारतमाता का गुणगान करते और विदेशियो से गोली-बारूद और बमो से बात करते। वे अँगरेजी-शिक्षित होते हुए भी दुर्गा, काली, भवानी, आदि के सामने देश-सेवा की शपथ खाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रसाद' के जीवन-काल मे चारो ओर राष्ट्रीय-रोमास

और सास्कृतिक जोश उमडा हुआ दिखाई पडता है। तिलक द्वारा प्रचलित गणेश-चौथ उसका एक उदाहरण है। उनके नेतृत्व मे यूरोपीय प्रभावो के प्रति प्रतिक्रिया होने लगी। वे प्राचीन सास्कृतिक प्रथाओ और रीतियो का राष्ट्रीयता के पोषण के लिए उपयोग करने में विश्वास रखते थे। उन्होने स्वामी विवेकानन्द का कथन अपने सामने रखा। उनका कहना था—'I do not believe in reform, I believe in growth'। भारतीय सस्कृति के प्रति तिलक के प्रेम की प्रतिक्रिया यहाँ तक हुई कि कुछ लोग स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, वर्ण व्यवस्था दूर करने आदि बातो के विरोधी हो गए—यह दूसरी बात है कि वे लोग गगा को उल्टी न बहा सके। इँगलैड और यूरोप के जिस सम्पर्क से भारतवर्ष मध्ययुगीन वातावरण का कैंचुल छोड सकने मे समर्थ हुआ अब वही सम्पर्क भारत के स्वाभाविक विकास मे बाधक समझा जाने लगा। भारत-भूमि और भारतीय-सस्कृति ने लोगो की दृष्टि मे लोकोत्तर दिव्य रूप धारण कर लिया। जिस प्रकार रूस मे Slavophilism के अतर्गत जन-आन्दोलन छिडा था, उसी प्रकार बीसवी शताब्दी को भारतवर्ष मे प्राचीन सास्कृतिक वैभव के प्रति एक रोमाटिक भावना उत्पन्न हुई और जीवन मे एक नई चेतना उमड पडी। इस चेतना ने उन्नीसवी शताब्दी से चली आ रही अनेक परम्पराओ को भी उखाड फेका। तिलक और गाँधी दोनो ने गीता का सदेश दिया और गीता को युग-ग्रन्थ बनने का श्रेय प्राप्त हुआ। स्वामी दयानन्द के शिष्य और मित्र कृष्ण वर्मा (लदन मे 'Indian Sociologist' के सम्पादक) विपिनचन्द्र पाल, विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त, अरविंद घोष, वीर सावरकर आदि की राष्ट्रीयता सास्कृतिक परिधि मे ही सवलित थी। हिन्दी मे श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त आदि अनेक कवियो द्वारा प्रस्तुत भारत-स्तुति या वदना राष्ट्रीयता की रोमाटिक भावना ही लिए हुए है। 'प्रसाद' के जीवन-काल मे राष्ट्रीयता और सास्कृतिक गौरव का किस प्रकार सम्मिश्रण हो गया था वह विपिनचन्द्र पाल का उद्धरण देते हुए एक लेखक के कथन से स्पष्ट हो जाता है; Their mother country was a symbol of the national idea, the divine idea, the Logos, which had revealed itself through the whole course of their past history and, indeed, its very soul. This divine idea or the Logos was the divinity whom they saluted with the words, 'Bande Mataram'. In truth, the mother country was a synthesis of all the gods that had been worshiped and still were worshiped by the Hindus' उसी लेखक ने आगे चलकर लिखा है कि प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीयता ने आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर लिया था और भारतवासी उसका नैतिक आधार ढूँढने लगे थे। उन्हे अपनी राष्ट्रीय शक्ति का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया था और वे 'अपनेपन' की सीमित परिधि छोडकर मानव जाति की सेवा की ओर ध्यान देने लगे। गाँधी-

कालीन राष्ट्रीयता भौगोलिक सीमाओ का अतिक्रमरण कर गई थी और उसकी दृष्टि मे जाति-भेद, रग-भेद, धर्म-भेद आदि का कोई स्थान न रह गया था। जिन अँगरेजो से भारतवासियो ने सघर्ष लिया उन्ही से प्रेम करना भी गाँधी जी ने सिखाया और व्यक्ति के स्थान पर जनता-जनार्दन की स्थापना की। उन्होने भारतीय सभ्यता और सस्कृति का उत्कृष्ट सार रूप ससार के सामने रखा। अब भारतीय गुलाम होते हुए भी सिर ऊपर उठाकर चलने लगे।

'प्रसाद' के नाटको मे युग-धर्म को अपनी भुजाओ मे भरे हुए जीवन की अनुपम मादकता और सौन्दर्य है।

पुनरुत्थान-काल मे प्राचीन इतिहास के गौरवपूर्ण अशो की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। 'प्रसाद' के साहित्यक जीवन का प्रारम्भ एक प्रकार से १९०६ ई० से प्रारम्भ हुआ माना जा सकता है। शुरु से ही उन्होने प्राचीन भारतीय इतिहास और स कृति का अनुशीलन किया था। उनकी लगभग सभी नाट्य-रचनाये ऐतिहासिक वृतो पर आधारित है। उनकी प्रथम प्रारम्भिक नाट्य-रचना 'सज्जन' (१९१०-११ ई०) उस समय प्रकाशित हुई जबकि देश मे राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान की भावना चरम उत्कर्ष पर थी। 'सज्जन' पौराणिक अवश्य है, किन्तु पुराण भी इतिहास का ही रूप है। इसी प्रकार 'कल्याणी-परिणय' (१९१२ ई०) 'प्रायश्चित' (१९१४ ई०), 'राज्य श्री' (१९१५ ई०), 'विशाख' (१९२१ ई०), 'अजात-शत्रु' (१९२२ ई०), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२६ ई०), 'स्कदगुप्त' (१९२८ ई०) 'चन्द्रगुप्त' (१९३१ ई०), और 'ध्रुव स्वामिनी' (१९३२-३३ ई०), सभी नाटक पौराणिक ('जनमेजय का नागयज्ञ') और ऐतिहासिक है। पौराणिक सामग्री का भी 'प्रसाद' ने वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। केवल 'प्रायश्चित' को छोड कर, उनकी सभी रचनाओ का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय इतिहास से है। 'प्रायश्चित' की कथा जयचन्द के समय से सम्बन्धित है। उस समय भारतीय नरेशो का पतन हो गया था और रजपूती शौर्य की लौ मन्द पड गई थी। उनकी इस रचना का ही सम्बन्ध मुसलमानी शासन काल के प्रारम्भिक वर्षो से है, और 'प्रसाद' की समस्त रचनाओ मे से एक यही रचना है जिसमे मुसलमान पात्र है और उर्दू का प्रयोग हुआ है। शेष प्रारम्भिक रचनाओ मे 'करुणालय' (१९१२ ई०) भी पौराणिक है। 'कामना' (१९२७ ई०) और 'एक घूट' (१९३० ई०) ऐसी रचनाये है जो अपने-अपने ढग से पाश्चात्य सभ्यता के प्रभावो का भारतीय दृष्टिकोण से विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

'प्रसाद' के नाटको के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने गडे मुर्दे उखाडना कहा था, जो बिल्कुल गलत था। नाटक लिखकर 'प्रसाद' ने पलायनवादी या शुतुर्मुर्ग वाली प्रवृति का द्योतन नही किया था। सच तो यह है कि भारतीय जीवन के जिस भव्य

निर्माण का स्वप्न 'प्रसाद' ने देखा था वह स्वप्न उनके नाटको के रूप मे साकार हो उठा। भारतीय सस्कृति की विशाल पृष्ठभूमि मे उन्होने आधुनिक समस्याओ के सुलझाने का प्रयास किया। उनके पात्रो मे उन सभी गुणो की समष्टि दिखाई देती है जो भारतीय सस्कृति के प्रधान अग माने जाते है— सयम, मर्यादा, त्याग, कर्त्तव्य-पालन, निष्काम कर्म ('निर्भय कर्म-कूप' मे कूदना), सर्वभूतहितरता बुद्धि, विविधता मे एकता, लोक-सेवा सघर्षो के बीच कल्याण-भावना, समन्वय, करुणा आदि। तत्कालीन युग मे इन गुणो से अधिक और किन गुणो की आवश्यकता हो सकती थी? क्या तिलक और गाँधी के व्यक्तित्व इन गुणो के आदर्श उदाहरण उपस्थित नही कर रहे थे? 'सज्जन' के युधिष्ठिर, 'प्रायश्चित' के जयचन्द (प्रायश्चित तो आत्म-सस्कार का सबसे बडा साधन है), हर्षवर्द्धन, राज्यश्री, विशाख, प्रेमानन्द, व्यास, गौतम, दाण्डयायन, चाणक्य, मिहिरदेव, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, धातुसेन, वासवी, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी आदि सभी भारतीय जीवन की विविध विभूतियो की साक्षात् प्रतिमाएँ है। मनुष्य कही भी, किसी भी परिस्थिति मे हो उसे हृदय के गुण नही छोडने चाहिए, मनुष्य के नाते उसे अपना कर्त्तव्य नही छोडना चाहिए। मनुष्य मनुष्य पहले है पीछे कुछ और। यदि ऐसा ही माना जाय तो ससार मे क्या घर, क्या बाहर, क्या देश मे, क्या आन्तराष्ट्रीय क्षेत्र मे, क्या व्यक्तिगत जीवन मे, क्या सामूहिक जीवन मे सुख और शाति स्थापित हो सकती है, और सुख और शाति ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। अजात शत्रु और विरुद्धक जैसे पात्र यही भूल जाते है। प्रसाद स्थूल से सूक्ष्म की ओर ही बढे है। यह ठीक है उनके नाटको मे राजनीतिक षड्यन्त्र, प्रतारणाएँ है, विविध प्रकार के घटना-चक्र है, व्यक्तिगत वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार है, किन्तु इन सबसे ऊपर मनुष्यत्व है और अन्त मे उसी की विजय होती है। ससार मे जो कुछ है मनुष्य के लिए है, विश्वमानव के लिए है। राजनीति तथा अन्य सामान्य जीवन की छलनाओ से प्राप्त सफलता से, भीषण कुचक्रो मे पड कर, ससार मे प्रेम करने वाला हृदय नही खो देना चाहिए। दो हृदयो के बीच निवास करने वाली स्वर्गीय ज्योति प्रकाशित करना 'प्रसाद' के नाटको का अन्तिम लक्ष्य है। 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', इन सभी रचनाओ मे सघर्षो, प्रतारणाओ, वात्याचक्रो आदि का अभाव नही है, तो भी अन्त मे जो एक बात हमारे सामने आती है वह है मानव-हृदय की विभूति। यह विभूति स्वय नायक या नायिका के माध्यम द्वारा नैसर्गिक रूप मे प्रकट हो, अथवा किसी महाचेता की प्रेरणा से नायक या नायिका मे उत्पन्न हो, किन्तु उनकी दृष्टि मे अतिम सत्य है सूक्ष्म मन का प्रकाश। 'अजात शत्रु' मे जिस करुणा का सदेश दिया गया है वह व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य आदि सभी के लिए कल्याणप्रद है। प्रथम महायुद्ध की ज्वालाओ से सतप्त ससार के लिए इस सदेश

से अच्छा और क्या सदेश हो सकता था ! 'प्रसाद' का यह व्यापक दृष्टिकोण उनके साहित्य मे प्रारम्भ से ही पाया जाता है। और, यह कहना अनुचित न होगा कि 'प्रेम पथिक' (काव्य) से लेखक 'कामायनी' तक मे उनका जो दृष्टि-कोण है वही दृष्टि-कोण नाटको मे सर्वत्र व्याप्त है— उसे चाहे 'आनन्दाम्बुनिधि का अवगाहन' या 'सौन्दर्य प्रेमनिधि मे मिलना' या 'विश्वात्मा का सुन्दरतम रूप' या 'आनन्दवाद' या 'समरसता का सिद्धात', या 'लोक-सेवा', या 'हृदय का स्वराज्य', या 'करुणा', 'अपने रूप का विस्तार करना' या 'पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की चेष्टा' या 'बालुका-पूर्ण करारो के बीच मे एक निर्मल स्रोतस्विनी का प्रवाहित होना' किसी भी रूप मे व्यक्त किया जाय। विविध सघर्षो और विकृतियो के बीच प्रेम और सौन्दर्य की मादकता मे बसा हुआ विश्व-मानव ढूंढना 'प्रसाद' का अन्तिम लक्ष्य है ? भारतीय नवोत्थान की भूमिका ही कुछ ऐसी महान् थी। जिस शक्ति ने स्वामी दयानन्द, स्वामी राम कृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, तिलक, गाँधी आदि को जन्म दिया उसी शक्ति के एक कण 'प्रसाद' थे। उनके कवि ने उसमे मधुरिमा और उत्पन्न कर दी।

अपने युग की इस मूल ध्वनि को अपने दृष्टि-पथ मे रखते हुए ही 'प्रसाद' ने अन्य समस्याओ को स्थान दिया। मतृभूमि का भावुकतापूर्ण गौरव-वर्णन, उसकी एकता एव अखडता, उसका सास्कृतिक श्रेष्ठत्व (तत्कालीन राष्ट्रीयता के विविध पक्ष), सम्प्रदायवाद का खण्डन, तलाक-प्रथा का समर्थन, लोकतत्रवाद का समर्थन आदि विषयो का वर्णन तो उनकी नाट्य-रचनाओ मे मिलता ही है, किन्तु सबसे अधिक सुन्दर रूप मे उन्होने नारी-शक्ति को पहिचाना, यद्यपि इस दृष्टि से उनके और नारी-आन्दोलन के अन्य प्रवर्तको के दृष्टिकोण मे अन्तर था। उन्होने ऐसी नारी की कल्पना नही की जो अपने अधिकारो के लिए सघर्ष करती है, जो यह विश्वास करती है कि नारी पुरुष का सा कार्य कर सकती है। वे स्त्री और पुरुष का कार्य क्षेत्र अलग-अलग समझते थे। उन्होने ऐसी नारी की कल्पना की जो, यदि कहना चाहे तो कह सकते, कि ध्रुवस्वामिनी और श्रद्धा का अद्भुत सम्मिश्रण है और जो मानव जीवन की नैतिकता, सुख और शाति की आधार-शिला है। वह मैथिली शरण गुप्त द्वारा चित्रित 'आँचल मे है दूध और आँखो मे पानी'-वाली नारी नही है। वह प्रेममयी और ममतामयी है, वह हृदय की सभी विभूतियो से विभूषित और मानवता की पोषिका है। वह करुणा, क्षमा, सवेदनशीलता और कर्त्तव्य-परायणता की प्रतिमूर्ति है, सेवा और आत्म-समर्पण उसके जीवन-लक्ष्य है-। ये गुण उसकी दुर्बलता के चिन्ह नही, शक्ति के प्रतीक है। वह आत्म-सम्मान, आत्म-गरिमा प्रखर तेज और आत्मबल की साक्षात् प्रतिमा है। 'प्रसाद द्वारा चित्रित नारी मूलत 'श्रद्धा' है, किन्तु अवसर पडने पर वह ध्रुवस्वामिनी भी हो सकती है। जिस नारी

ने इस मार्ग का परित्याग किया, उसी ने न केवल अपने जीवन को, वरन् अपने चारो ओर के जीवन को भी दु:खी बनाया है। छलना, शक्तिमती और अनन्त देवी जैसी नारियो का ससार मे अभाव नही है। किन्तु, 'प्रसाद' की दृष्टि मे नारी का यह वास्तविक एव स्वाभाविक रूप नही है। आखिर छलना और अनन्त देवी जैसी नारियाँ जीवन मे क्या पाती है ?— पश्चाताप और आत्म ग्लानि। मागधी जैसी नारियाँ भी इसी कोटि के अतर्गत आती है। यह नारी का घृणित रूप है। वास्तव मे प्रत्येक देश के नवोत्थान-आन्दोलनो की भाँति भारतीय नवोत्थान-काल मे उदार। नारी-शक्ति को पहिचाना गया और जीवन मे उसे उच्च स्थान दिया गया। 'प्रसाद' ने युग-धर्म का पालन करते हुए नारी को भारतीय सास्कृतिक पीठिका मे एक कवि-नाटककार की दृष्टि से देखा।

'प्रसाद' शैव थे, किन्तु उनमे साम्प्रदायिक सकीर्णता का अभाव था जो किसी भी विचारक एव साहित्यिक के लिए नितात आवश्यक है। उन्होने कुछ शाश्वत सत्यो का अवलम्बन ग्रहण कर उन पर अपने साहित्य की नीव खडी की— यहाँ तक कि कुछ बाते उन्होने पश्चिम से भी ली, यद्यपि उन्ही को अन्तिम सत्य मानकर उनका अन्धानुसरण नही किया। उनकी दार्शनिक विचारधारा पर प्रमुखत तीन प्रभाव दृष्टिगोचर होते है—शैव मत का, बौद्ध धर्म का और उपनिषदो का। इन्ही तीन स्रोतो से प्राप्त रस का परिपक्व रूप 'प्रसाद'-साहित्य मे मिलता है। नाटको मे इस रूप को ढूढ निकालना सरल कार्य नही है। सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने पर उनके नाटको मे भी आनन्दवाद जीवन का अन्तिम लक्ष्य दिखाई देता है। यह आनन्दवाद उस दार्शनिक रूप मे भले ही न हो जिस रूप मे वह 'कामायनी' मे है, किन्तु जीवन के प्रत्यक्ष सघर्षो और आरोहो-अवरोहो की भीडभाड मे से आनन्द का चरम लक्ष्य ही है जिस ओर जीवन प्रभावित होता है। 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त', (दे० चाणक्य के कथन) 'स्कन्दगुप्त' आदि सभी रचनाओ मे किसी न किसी रूप मे, प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप मे, आनन्द की खोज ही जीवन का उद्देश्य सकेतित हुआ है। पाठक को उसे समझने और ढूँढ निकालने की आवश्यकता है। 'लोक-सेवा', करुणा, सवेदनशीलता, 'आपे का मारना', मानवता-प्रेम, प्रकृति-सौन्दर्य आदि सब उसी आनन्दवाद के विभिन्न नाम है जो नाटक रचनाओ के अनुकूल है। 'कामना' मे उल्लिखित विराट विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सब को एक मिलाकर खेलने की सुखद क्रीडा का उल्लेख भी हुआ है। 'प्रसाद' के नाटको के सघर्षमय जीवन के उस पार ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासको के भेद-भाव के स्थान पर विराट-विश्व, जाति और देश के वर्णो से स्वच्छ होकर एक मधुर स्वप्न की सृष्टि हुई है। 'अहकारमूलक आत्मवाद' को उन्होने 'विश्वात्मवाद' मे परिणत

किया है ('स्कन्दगुप्त')। भारतीय सास्कृतिक उपकरण जुटा कर उन्होने नाटको मे उस स्वप्न के अभिनय का मगल-पाठ किया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होने नारी को सर्वोत्तम साधन माना है, क्योकि नारी हृदय की सत्ता का प्रसार अधिक स्वाभाविक रूप मे कर सकती है। उसके 'राज्य की सीमा' पुरुष के राज्य की सीमा से कही अधिक विस्तृत है। प्रकृति ने उसे बनाया ही ऐसा है। जीवन के इस लक्ष्य को प्राप्त करने मे, 'भूमा का वरदान' प्राप्त करने मे, नारी ही पुरुष को समत्त्व और समन्वय के दर्शन कराती हुई, द्वन्द्वो के बीच से अभिन्नता की ओर सकेत करती हुई आगे ले जाती है— 'कैलास' के सर्वोच्च शिखर पर ले जाती है। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक भौतिक-प्रेम मानव-हृदय के सत्ता के प्रसार की प्रथम सीढी है। प्रेम मे विपर्यय हो सकता है, विकार हो सकता है, विष हो सकता है, किन्तु इन सब के मन्थन के बाद अमृत की ही सृष्टि होती है। इसी अमृत से समाज मे मगल की स्थापना होती है, भिन्नत्व मे अभिन्नत्व के दर्शन होते है। 'प्रसाद' ने अपना जीवन-दर्शन व्यक्त करते हुए अपनी निजी शब्दावली का प्रयोग भले ही किया हो, किन्तु वह है वही जिसे गीता मे स्थितप्रज्ञ का जीवन कहा गया है। उनकी 'नियति' का अर्थ लोकप्रचलित कोरा 'भाग्यवाद' नही है, हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहना नही है। 'नियति' शैवागमो से लिया गया शब्द है। यह माया की वह शक्ति है जो जीव का नियमन करती है, दूसरे शब्दो मे, जो जीव का, या सम्पूर्ण विश्व का सचालन करती है। 'प्रसाद' ने अपने नाटको मे नियति की डोरी पकड कर निर्भय कर्म-कूप मे कूद जाने और शुद्ध-बुद्धि से प्रेरित निर्लिप्त भाव से कर्म क्षेत्र मे सलग्न होने का आदर्श उपस्थित किया है। गीता मे भी तो 'निष्काम कर्म' का उल्लेख हुआ है और भारतीय सस्कृति मे वैराग्य-भावना (ससार से विरक्ति के अर्थ मे नही) को महत्त्व प्रदान किया गया है। 'प्रसाद' का दृष्टि-कोण भी वही है। मनुष्य के कर्म-पूर्ण जीवन मे इसी से सुख मिल सकता है। इसी से जीवन मे समन्वय, सत्कर्म और समरसता की सृष्टि हो सकती है, द्वन्द्व-पताडित मानव समाज मे सुख की अवतारणा हो सकती है, अपूर्ण जीवन पूर्ण हो सकता है।

रचना-पद्धित की दृष्टि से यह तथ्य ध्यान मे रखने योग्य है कि हिन्दी का अपना कोई शिष्ट रगमच प्रारम्भ से ही नही रहा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस ओर प्रयत्न किया था, किन्तु वे इस महत्वपूर्ण कार्य को अपूर्ण छोडकर ससार से चल बसे और उनके समय मे तथा उनके जीवन-काल के बाद पारसी रगमच का ही प्रचार रहा। यद्यपि उन्होने पारसी रगमच को भ्रष्ट कह कर पुकारा, तो भी उनकी रचनाओ मे उसका तथा नौटकी आदि का प्रभाव यत्रतत्र दृष्टिगोचर होता है। उनकी मृत्यु के बाद और बीसवी शताब्दी के प्रथम बीस-पच्चीस वर्षो मे पारसी रगमच का ही एक प्रकार से एकाधिपत्य हो गया था। इसी बीच फिल्मो का प्रचार हो जाने के

कारण हिन्दी के शिष्ट-साहित्यिक रगमच के स्थापित होने का अवसर ही प्राप्त न हो सका। अब भी यद्यपि शिष्ट-साहित्यिक रगमच के सम्बध मे अनेक पाडित्यपूर्ण वाद-विवाद होते और लेख लिखे जाते है, तो भी इस सम्बध मे आशा और सफलता के चिन्ह दृष्टिगोचर नही हो रहे। हिन्दी नाट्य-साहित्य की रचना-पद्धति पर विचार करते समय शिष्ट रगमच का आभाव ध्यान मे रखना आवश्यक है। 'प्रसाद' के नाटक भी इस दृष्टि से अपवाद-स्वरूप नही रहे। दृश्य-विभाजन, कथोपकथन, स्वगत-कथन, अभिनय आदि की दृष्टि से उनके नाटको मे जो दोष दृष्टिगोचर होते है वे रगमच के अभाव के कारण ही है। अत्यधिक इतिहास-निष्ठा के कारण उनका कथा-सगठन भी बोझिल और अनावश्यक प्रसगो से पूर्ण मिलता है। उनके कवि-व्यक्तित्व और दार्शनिकता के कारण भी कथा-सगठन और कार्य-व्यापार मे शिथिलता आ गई है और कथा-प्रवाह टूटता नजर आता है। पात्रो की भीडभाड भी बहुत-कुछ उनकी इतिहास-निष्ठा के कारण है। भाषा उनकी अवश्य साहित्यिक और कही-कही पर काव्य-तत्त्व से समन्वित तथा अलकृत है। उनकी भाषा के सम्बन्ध मे लगाया गया क्लिष्टता का दोष निराधार है। उसमे जो कुछ क्लिष्टता है वह भावो की सूक्ष्मता है और काव्य-सौदर्य के कारण है। 'प्रसाद' की पात्र-योजना प्राचीन भारतीय सास्कृतिक गौरव के अनुरूप है यद्यपि उनके कुछ पात्र एक से हो गए है, गाने या गीत प्रारम्भिक रचनाओ मे, एक प्रकार से 'अजातशत्रु' तक, पारसी रगमच के अनुकरण पर भी मिलते है। किन्तु इन तथा 'अजातशत्रु' के बाद की रचनाओ मे गीत स्वाभाविक रूप मे भी पाए जाते है। राष्ट्रीय भावना से धार्मिक एव भक्ति की प्रेरणा से राजसभा मे नर्तकी द्वारा गाए गए, विलासी नरेश के समक्ष गाए गए अथवा इसी प्रकार के अन्य रूपो मे गाए गए गीत अस्वाभाविक नही कहे जा सकते। रस की दृष्टि से 'प्रसाद' ने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके नाटको की रस-निष्पत्ति से क्रियाशीलता और प्रभावान्विति को बल प्राप्त हुआ है। प्राचीन नाटको के विदूषको की भाँति उन्होने भी वसतक जैसे पात्रो का निर्माण किया है। किन्तु यह स्वीकार करना पडेगा कि हास्य रस की दृष्टि से 'प्रसाद' को अधिक सफलता प्राप्त नही हुई। वीर और शृगार के साथ-साथ शात रसो के निरूपण मे वे अद्वितीय है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' नामक प्रबध मे भारतीय और पाश्चात्य रचना-पद्धतियो का समन्वय उपस्थित किया था। 'प्रसाद' का भी वही समन्वयात्मक दृष्टिकोण था, यद्यपि वह उनके अपने समय के अनुसार था। अपनी प्रारम्भिक रचनाओ मे उन्होने भारतेन्दु-युगीन परिपाटी ग्रहण कर अको और दृश्यो का विभाजन किया था (जिसके सम्बध मे आलोचको मे अनेक भ्रम प्रचलित है। कुछ आलोचक तो उनकी कुछ प्रारम्भिक रचनाओ को एकाकी मान बैठे है।) और

पद्यात्मक कथोपकथन ग्रहण कर लिया था। 'राज्यश्री' तक उन्होने प्राचीन भारतीय रचना-पद्धति के कुछ आवश्यक तत्व भी ग्रहण किए। साथ ही उन्होने बँगला के अनुकरण पर लम्बे-लम्बे कथोपकथन और स्वगत-भाषण भी रखे। किन्तु शीघ्र ही उन्होने, 'विशाख' और 'अजातशत्रु' के निर्माण-काल से, भारतेन्दु द्वारा निर्धारित समन्वयात्मक मार्ग को ध्यान मे रखते हुए अपनी एक नवीन नीति निर्धारित की जिसमे भारतीय और पाश्चात्य रचना-पद्धतियो का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया। 'प्रसाद' ने अत्यन्त निपुणता के साथ अपने नाटको के बाह्य आधुनिक पाश्चात्य कलेवर मे वस्तु, नायक और रस की दृष्टि से भारतीय आत्मा सुरक्षित रखी। उन्होने भारतेन्दु युगीन परिपाटी छोडी, पारसी कपनियो का प्रभाव छोडा और बँगला नाटको की रीति का अनुसरण करना बद कर दिया और अपनी निजी 'प्रसाद'-पद्धति को जन्म दिया। नाटको के अत तक मे उन्होने अपनी स्वतत्र किन्तु स्वस्थ प्रवृत्ति प्रदर्शित की।

'प्रसाद' एक उदार और प्रगतिशील शिल्पी थे, इसका प्रमाण 'ध्रुवस्वामिनी' मे मिलता है। यद्यपि उन्होने रगमच के अभाव की चुनौती स्वीकार की थी और अपनी रचनाओ मे केवल दोष ढूँढने वालो को ललकारते हुए कहा था कि यदि हिन्दी रगमच का निर्माण-होना है तो मेरे नाटको के आधार पर होगा, न कि मेरे नाटक रगमच के अनुसार लिखे जायेगे। वास्तव मे उन्होने अपने नाटको के लिए एक सुसस्कृत, सुशिक्षित और शिष्ट दर्शक-समाज की कल्पना की थी। किन्तु इतने पर भी उनमे कठमुल्लापन नही था। उन्होने 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना का दृश्य-विभाजन, भाषा, कथोपकथन, स्वगत-भाषण, दार्शनिकता, कथा-सठन, अति विस्तार आदि की दृष्टि से बताए गए दोषो का परिहार किया और अपनी नाट्य-रचना-पद्धति को नवीन मोड देकर अपने आलोचको का मुँह बन्द कर दिया। 'ध्रुवस्वामिनी' जल्दी मे लिखी गई रचना नही है, जैसा कि कुछ आलोचको का मत है। वह निश्चित रूप से 'प्रसाद'-पटुता के साथ लिखी गई रचना है और 'प्रसाद'-रचना-पद्धति के क्षेत्र मे वह नवीन प्रयोग प्रस्तुत करती है। 'ध्रुवस्वामिनी' उनकी अन्तिम नाट्य-रचना है। यदि वे और अधिक जीवित रहते तो सभवत. इस नवीन पद्धति का और भी अधिक विकास होता।

रगमच की दृष्टि से दोष होने पर भी 'प्रसाद' के नाटको का महत्त्व कम नही हो जाता। विश्व-साहित्य मे ऐसी अनेक नाट्य-रचनाएँ मिलती है जो रगमच की दृष्टि से दोषपूर्ण है। किन्तु तब भी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र मे उनका शीर्ष स्थान है। 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य के सम्बन्ध मे भी यही बात सरलता पूर्वक कही जा सकती है। नाट्य-रचनाएँ केवल रगमच के लिए हो, या केवल साहित्यक आनन्द प्राप्त करने के लिए हो, या दोनो के लिए हो, यह निर्णय तो अभी होने को है।

रचना-पद्धति की दृष्टि से कुछ दोषो के विद्यमान रहते हुए भी 'प्रसाद' के नाटको मे एक साहित्यिक गरिमा एव सौष्ठव है जो अन्य नाटककारो की रचना मे दुर्लभ है। उनमे एक रस है जो पाठको का हृदय आन्दोलित करने की क्षमता रखता है। उनमे प्राचीन भारत का जीवन-रस, उसकी मुमुक्षु आत्मा, कुशल राजनीति, उच्च नैतिक आदर्श, राजकुल की तरुण एव सुकुमार ललनाओ का अग और भाव-लालित्य, भारतीय वीरो का स्नायुबद्ध सौन्दर्य, इतिहास के दर्पण मे प्रतिबिंबित आर्यावर्त मे हुए अनेक परिवर्तन, भारतीय दर्शन की स्वच्छ आभा, विदेशी आक्रमण कारियो के लिए भारत की कालाग्नि सदृश मुखमुद्रा, भारत की अखडता आदि सभी कुछ तो है। 'प्रसाद' के नाटको मे ऋषियो के चिन्तन, भगवान् कौटिल्य की प्रखरता और मेनका के मद का अद्भुत मिश्रण है। साथ ही उनमे भावी राष्ट्र-निर्माण के लिए गभीर गर्जन है। उनमे भारतीय इतिहास के एक स्वर्णिम युग की उल्लास-तरगे है जो पतित-पावनी गगा की तरगो की भाँति हमारे भाव-धाम का निरतर आलिगन करती हुई जीवन को पवित्र करती रहती है।

'प्रसाद' को कैलाशवासी हुए शताब्दी का लगभग चतुर्थांश व्यतीत हो चुका है। किन्तु हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र मे उनके रिक्त स्थान की पूर्ति अभी तक नही हुई। यही एक तथ्य उनके असामान्य व्यक्तित्व का अखण्ड प्रमाण है।

प्रसाद के नाटकों के नारी-पात्र

कान्ति त्रिपाठी

भिन्न-भिन्न नारी-पात्रो के चरित्र के अध्ययन से प्रसाद की चरित्र-चित्रण-कुशलता और चरित्र मे कलात्मक अकन का स्पष्टीकरण तो हो जाता है फिर भी नारी की कल्पना अर्थात् पुरुषेतर-कमनीयता की वह रूप-रेखा जो कही शक्ति मे रति और कही रति मे शक्ति के रूप मे प्रकट होती रही है, 'प्रसाद' के अन्तस्तल पर किस भाव मे उदय हुई—यह समझना अधिक सार-पूर्ण है। प्रसाद की नारी-चरित्र-सृष्टियो मे प्रत्येक के वैयक्तिक विकास का लेखा 'प्रसाद' के भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के अध्ययन को सुचारु और सरल तो अवश्य बना देगा पर 'प्रसाद' के मन और मस्तिष्क मे कलाकार की इन नारी-पुतलियो को नचाने वाले, नियन्ता का पता कम देगा। अतः 'प्रसाद' द्वारा निर्मित नारी-चरित्रो का विश्लेषण हमारा लक्ष्य नही। उनकी आदर्श नारी का चित्र प्रसाद की कल्पना-पटी मे कैसा उतरा है, तथा आदर्श-नारी सम्बन्धिनी उनकी स्थापनाएँ क्या है, इन बातो को स्पष्ट रूप से हृदयगम करना (कराने का कार्य कोई कृतविद्य साहित्य-महारथी कर सकता है) हमारा लक्ष्य है।

एक व्यक्ति वशानुसक्रमित एव पर्यावरण-गृहीत गुणो द्वारा सचालित होता है। जो सस्कार जम जाता है वह प्रकृति बन जाता है। उसकी छाया व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आच्छादित किए रहती है। व्यक्ति जाने या अनजाने अपने सस्कारो मे प्रभावित होता है। तर्क एव चिन्तन द्वारा निर्मित व्यक्तित्व और सस्कारो मे सघर्ष होता है। यदि सस्कार उस व्यक्तित्व से प्रबल हो जाते है तब व्यक्ति के जीवन मे घात-प्रतिघात आते है। कभी सस्कार व्यक्तित्व पर अपनी विजय घोषित करते है, कभी व्यक्तित्व सस्कारो पर।

चरित्र के निर्माण मे इन्ही सस्कारो और मनोविज्ञान (परिस्थिति) का बडा भारी हाथ रहता है। प्रसाद के सभी पात्र—विशेष रूप से नारी-पात्र—सस्कार और परिस्थिति से जीवन भर लडते रहते है। इसी से उनके जीवन मे सघर्ष—आतरिक और बाह्य—प्रबल हो उठता है। सघर्ष से उनके जीवन मे असीम करुणा उत्पन्न होती है और करुण वेदना से मार्मिक व्यथा—जो उनके चरित्र का मेरु दड बन जाती है। लगता है कि सघर्षों से नारी-पात्रो की कमर टूट गई है, हृदय के तार टूटकर ढीले पड गए है। पर फिर भी हृदय मे असीम उत्साह भरकर वे जीवन पथ पर सघर्ष के लिए आगे बढती है। सघर्ष के लिए उनके पास असीम धैर्य और विस्मयाभिभूत कर देने वाली शक्ति है। प्रसाद की इस करुण-नारी-प्रतिमा के सम्मुख सभी पुरुष-पात्र

श्रद्धा से झुक जाते है।

प्रसाद का जीवन सघर्ष-पूर्ण रहा है ऐसा लगता है कि उनके निजी जीवन के सघर्षो को नारी-पात्रो के करुणासिक्त हृदयोद्गारो मे अभिव्यक्ति मिली है। प्रसाद की प्रतिभा का चरम-विकास उनके इन्ही पात्रो मे पाया जाता है। उनके जीवनगत आदर्शो द्वारा ही ये करुण-नारी-पात्र गढे गए है। देवसेना तो त्याग और वैराग्य के शैलश्रृग पर प्रतिष्ठित की जा सकती है। प्रबल आतरिक सघर्ष उसके जीवन मे मुखर हो उठा है परन्तु हृदय को उद्वेलित कर देने वाली हलचल के मध्य भी त्याग की वह देवी मौन है। व्यथा के समुद्र मे डूबकर भी वह उसमे तिरती रही है। सस्कारो और परिस्थितियो के प्रबल आघातो को सहती हुई भी देवसेना प्रलय का वेग अपने हृदय मे समेटे है।

आत्माभिमान का सस्कार उसने उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त किया था। जिस स्कन्दगुप्त को उसने अपने हृदय की सम्पूर्ण अनुरक्ति से चाहा था, यह जानकर कि विजया भी उसकी ओर आकृष्ट है और स्कन्द भी विजया की ओर, उसी स्कन्द के याचना करने पर भी उसको यह जानकर अस्वीकार कर देती है कि उसका निर्माल्य दूषित हो गया। परिस्थिति कुछ ऐसी बन गयी कि बन्धुवर्मा द्वारा मालव की रक्षा करने के उपलक्ष्य मे स्कन्द के साथ उसका परिणय हो जाए, वह प्रणय को किसी मूल्य पर भी खरीदना नही चाहती अत जिसके लिए उसका हृदय जीवनभर पुकार मचाता रहा, उसी को उसने अपने द्वार से वापिस भी लौटा दिया। अत मे वह जीवन के भावी सुख, आशा और आकाक्षा सबसे विदा लेती है। स्कन्दगुप्त जब देवसेना से महादेवी की समाधि के सामने कभी अलग न होने का वचन माँगता है तो देवसेना की स्वाभिमानिनी विद्रोहमयी आत्मा यह कभी स्वीकार नही कर सकी कि मालव ने देश के प्रति जो उत्सर्ग किया है उसका प्रतिदान लेकर दिवङ्गत आत्माको अपमानित करे। अत परिस्थिति का निर्माण कुछ ऐसे ढग से हुआ कि वह अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर उसकी उपासना करने को तो तत्पर है पर पति रूप मे स्वीकार करने को नही। सहना तो उसने सीखा है पर झुकना नही, उसने आत्म-उत्सर्ग की ऐसी लौ प्रज्ज्वलित की जिसमे वह स्वयँ भी जीवन भर तिलतिल जलती रही और स्कन्द ने भी कौमार्यव्रत धारण कर अपना साम्राज्य पुरगुप्त को निष्कटक छोड दिया।

सस्कार और परिस्थिति के सघर्ष की चरम सीमा तब देखने मे आती है जब सखियो के मध्य होने वाले हास-परिहास के बीच वह रो उठती है और कहती है, "आज ही मै प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हू, बस फिर नही। यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।" पुन सखी के यह पूछने पर कि तुम्हारे हृदय मे एक बरसाती नदी वेग से भरी है, देवसेना उत्तर देती है "कूलो मे उफन-

कर बहने वाली नदी, तुमुल-तरग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा ! परन्तु उसमे भी नाव चलानी ही होगी।" देवसेना की इस मन स्थिति से भिन्न होती हुई जयमाला कहती है, "तू उदास है कि प्रसन्न कुछ समझ मे नही आता। जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।"

देवसेना के निराश-जीवन की झाँकी इन पक्तियो मे कितनी स्पष्ट हो उठी है "सगीतसभा की अतिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गध-धूम रेखा, कुचले हुए फूलो का म्लान सौरभ, उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबो की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन। मेरे प्रिय गान, अब क्यो गाऊँ और क्या सुनाऊँ ! इस बार बार के गाए हुए गीतो मे क्या आकर्षण है,—क्या बल है जो खीचता है ? केवल सुनने की ही नही प्रत्युत जिसके साथ अनन्त काल तक, कठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।"

सासारिक वैभव और ऐश्वर्य के उपकरण ही विजया के चरित्र की वह प्रज्ज्वलित दीप-शिखा है जिसकी चकाचौध से वह कभी स्कन्द की ओर, कभी भटार्क की ओर और कभी पुरगुप्त की ओर आकृष्ट होती है। श्रेष्ठी कन्या होने के कारण भौतिक-ऐश्वर्य और समृद्धि की ओर आकृष्ट होने के सस्कार उसने अपने पूर्वजो से प्राप्त किए थे जिन्होने उसे जीवन भर नचाया और जो मृगतृष्णा की भाँति सुख की आशा मे व्यर्थ भटकती रही और जो अपनी अतृप्त इच्छाओ को आमरण अपने घट से लगाए रही। देवसेना का जीवन तो उसने विषाक्त बनाया ही, स्वय भी कुछ न पा सकी। व्यक्तित्व और सस्कार के द्वन्द्व मे अशान्ति, विनाश और पतन की ओर ले जाने वाले उसके सस्कार ही अत मे उसे आत्महत्या करने की ओर प्रेरित करते है। यही उसके सघर्ष और पराभव का चरम-बिन्दु है जहाँ स्कन्द द्वारा लाछित और तिरस्कृत होने पर वह अपना जीवन समाप्त कर देती है।

चन्द्रगुप्त नाटक मे सौम्यता और शिशु-सारल्य मे लिपटी मालविका चाणक्य की कूटनीति के जालो मे उलझकर आत्म-उत्सर्ग की अकम्पित लौ से हमारे अन्तरतम की परतो को मार्मिकता से स्पर्श कर जाती है। अपने कम्पित अधरो पर प्रणय की स्निग्ध स्मृति का शीतल लेप लगाकर वह भोली बालिका हमारी करुणा और सहानुभूति को सहज ही उमडाकर हमारे दृष्टिपथ से दूर कहाँ हो पाती है ? इस तथ्य से पूर्ण परिचित होने पर भी कि चन्द्रगुप्त के जीवन को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उसके जीवन का बलिदान किया जा रहा है—वह चिर-विश्राम-गृह-मृत्यु का वरण हँसते अधरो से करती है। वह बालिका स्वभाव से ही कोमल और सरल है। सारल्य उसका उपार्जन नही है वह तो मुख-मुद्रा की भाँति सहज और स्वतः व्यञ्जित है। सरलता की भूमि मे उसके स्वभाव की जडे गहरी है। राजनीति का पथ ऐसा टेढा-

मेढा है कि इसमे जो एक बार पड गया वह फिर इसमे से नही निकल पाया। चाणक्य की कूटनीति के चक्रव्यूह मे पडी मालविका अपनी स्थिति को ठीक से निश्चित ही नही कर पाई। अत भोलेपन के सस्कार और परिस्थिति की भयानकता ने आत्म-उत्सर्ग का द्वार उसके लिए खोल दिया।

सस्कार और परिस्थितिजन्य दूसरी नारी-मूर्ति सुवासिनी है। उसके जीवन ने कितने ही मोड़ो का स्पर्श किया है। नद द्वारा मत्री शकटार के बन्दी किए जाने पर वह नद की रगशाला मे अभिनेत्री हो जाती है। कभी वह नद के आपानक मे उसे मदिरा पान कराती है। वह आचार्य चाणक्य की प्रणयिनी भी बनी—उस चाणक्य की, जिसकी आँखो मे युद्ध की विभीषिकाएँ नृत्य करती रहती थी। अत मे वह चाणक्य के प्रतिद्वन्द्वी राक्षस की अर्धाङ्गिनी बनती है। परिस्थितियो ने उसका रग-बिरगे जीवन के उपकूलो से परिचय कराया, सस्कारो ने उसको राजा नन्द की सभा की नर्तकी बनाया। जो यात्रा सुवासिनी तय कर सकी वह राजकीय परिवारो मे पली कल्याणी नही। विलास के सस्कारो और नद द्वारा पिता के अधकूप मे डाले जाने पर विषम परिस्थिति मे पडकर सुवासिनी क्या से क्या हो गयी ?

शकटार की कूटनीति की असफल प्रतिकृति सुवासिनी एक ओर तो कूटनीतिज्ञता की वशानुसक्रमित् खाई से बचती है दूसरी ओर परिस्थितियो की विभीषिका मे आक्रान्त भी हो जाती है। बसेरे की खोज मे उन्मुख एक निराश्रित विहग-बालिका की भाँति अत मे वह राक्षस की बाहो की छाह मे निश्चितता की सास लेती है।

'अजातशत्रु' नाटक मे मागन्धी दरिद्रवश मे जन्म लेकर रूप और यौवन के मद से उच्छृखल राजरानी के पदपर प्रतिष्ठित होती है। रूप के गर्व की ज्वाला ने उसको अपनी सपत्नी पद्मावती के विरूद्ध उदयन के कान भरने में विष उडेला। तब भी उसको शाँति नही मिली। गृह-त्याग कर श्यामा ने काशी की वार-विलासिनी बनकर अपनी अतृप्त वासनाओ की पूर्ति करनी चाही परन्तु जिस प्रकार मृग की तृष्णा शात नही होती, मरुभूमि मे सूर्य की रश्मियो मे पानी का भ्रम पैदाकर वालुकाराशि मृग को तृषित ही रखती है उसी प्रकार मागन्धी भी जीवनभर अतृप्त इच्छाओ के स्फुल्लिगो मे जलती रही। जीवन के आरम्भ मे गौतम द्वारा अस्वीकृत किए जाने पर उसके अतर मे छिपी नारी की प्रतिहिंसा प्रलय की अनल-ज्वाला सी विस्फोटक बनकर गृह की शाति को ही नही उखेडती बल्कि उसको भी दग्ध करती है। अत मे 'आम्रपाली' के रूप मे जब उसकी भेट गौतम से होती है तो उसमे सहसा परिवर्तन उपस्थित होता है। रूप के गर्व और यौवन की ऊष्मा ने उसके तलुओ को किन किन कण्टकित विजनो मे नही भटकाया ? कौशाम्बी के राजा उदयन की वह पत्नी बनी, गृह-कलह कराकर कलक की कालिमा को छिपाने के प्रयत्न मे वह काशी

की बार विलासिनी बनी । इस रूप मे उसने विरुद्धक साहसिक के प्रति प्रेम प्रकट कर आत्म-समर्पण किया । विरुद्धक द्वारा उसके विश्वास की हत्या होने पर वह आम्र-पाली बनकर गौतम द्वारा जीवन की सन्ध्या मे आश्वस्त होकर, निष्कलुष होकर बौद्ध धर्म की शरण मे चली जाती है। दरिद्र-कन्या होने की भावना ने उसको कितनी लम्बी यात्रा कराई जिसका पाथेय जीवन की कटु स्मृतियाँ ही रही । मानव चरित्र के दो पार्श्व होते है एक उज्ज्वल और दूसरा श्याम । श्यामा (मागन्धी) जीवन के श्याम-पार्श्व को ही झलकाती है । जीवन मे असत् का प्रतीक मागन्धी ही है । मल्लिका के साहचर्य ने उसके हृदय मे सात्त्विक भावनाओ को जगाया और गौतम की करुण और शात वाणी ने प्रतिशोध की ज्वाला से दग्ध हृदय को शाति प्रदान की । प्रसाद का आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार रूपगर्विता मागन्धी, गौतम द्वारा तिरस्कृत मागन्धी, अतृप्त वासनाओ की अग्नि मे जलती मागन्धी, राजमहलो मे प्रतिहिसा मे लिपटी मागन्धी, गौतम की शरण मे जानेपर पश्चाताप और आत्म-ग्लानि द्वारा निष्कलुष मागन्धी का चित्रण करने मे सफल हुआ है ।

छलना ने क्रूरता, कठोरता आदि कुप्रवृतिये लिच्छिवी बश से प्राप्त की । उसकी राजमाता होने की महत्त्वाकाक्षा ने अपने पुत्र को विद्रोही बनाया । पगपग पर वासवी को लाछित करने पर भी उसकी प्रतिहिसा-भावना तृप्त नही होती । अत मे अजातशत्रु की असफलता पर वासवी के स्नेह-प्रदर्शन के क्षणो मे उसकी दुर्बलता परिलक्षित होती है । उसकी महत्त्वकाक्षा ने ही उसको गिराया । कोमलता का परित्याग कर जब वह अपनी कठोरता और स्पर्धा से अपने पति और पुत्र दोनो को खो देती है तो उसके नेत्रो को दिव्य-ज्योति-सात्त्विक भावनाओ की प्रतीक बासवी द्वारा प्राप्त होती है । विषम मानसिक परिस्थितियो के कटु-विषाक्त अनुभवो को प्राप्त करने पर वह सत्-पथ पर आ जाती है । प्रसाद की कोई भी नारी अत मे कलक रेखा नही रह जाती । किसी न किसी सत्पात्र का स्पर्श पाकर वह उजली हो जाती है । वासवी की छलना पर विजय, सत् की असत् पर, न्याय की अन्याय पर, सात्त्विक भावनाओ की राजसी-भावनाओ पर, निवृत्ति की प्रवृति पर विजय है । लिच्छिवी वश के नीच सस्कारो तथा राजमाता बनने की इच्छा ने उसे राजनीतिक कुचक्रो की भूलभुलैयो मे डालकर, परिवार मे अशाति कराकर उसको कितना नीचे गिरा दिया—इसका प्रत्यक्ष उदाहरण छलना है । लेकिन पथ-भ्रष्ट यदि जीवन-यात्रा के अत मे लक्ष्य की निकटता पा जाये तो वह पथ-भ्रष्ट नही रहता । कुप्रवृत्तियो द्वारा प्रेरित होने पर भी सघर्षों से जूझने पर छलना सत्-पथ पर आ जाती है । उसका यह प्रत्यावर्तन भी स्पृहणीय है ।

वासवी की वाणी की स्निग्ध पीयूषधारा उसके हृदय की कोमलता और

निश्लछ्ता, उसकी गरिमामयी, स्नेहमयी जननी की ममता—सभी उसको नारी जाति के उच्चतम शिखर पर बैठा देते है। उच्च सस्कारो मे पली वामवी मपत्नी द्वारा प्रताडित और लाछित होने पर भी अपनी सहिष्णुता और कोमलता का परित्याग नही करती। वह तो ऐसी दृढ चट्टान है जिसमें आघातो मे भी दरार नही पडती। उसके हृदय मे ऐसी अजस्र करुणा की धारा अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित हो रही है जो स्वयम् तो शीतल है ही दूसरो को भी शीतल करती है।

बौद्धधर्म की ममस्त करुणा और क्रियाशीलता मल्लिका के चरित्र में प्रस्फुटित हो गई है। मल्लिका आदर्शवाद का मानवीकरण है। गजातशत्रु छलना और विरुद्धक सभी को तो वह सन्मार्ग पर लगाती है। नारी मे जो कुछ दिव्य है सुन्दर है, स्पृहणीय है उसकी आदर्श मूर्ति मल्लिका के भव्य रूप मे साकार हो गयी है। करुणा, विश्व-मैत्री, उदारता, सहिष्णुता आदि गुणो से उसके चरित्र का निर्माण हुआ है। मल्लिका वह विस्तृत नीलाकाश है जहाँ आकाश-गगा मे गुम्फित नक्षत्र शीतलता की वर्षा करते है, जहाँ धूम्रकेतु नक्षत्र भी टूटकर अपना आलोक बिदु इधर उधर बिखरा जाते है—शेष उज्ज्वल और धूमिल नक्षत्र भी अपना आश्रय-स्थल खोजने जाते है—पर यह आकाश ही है जो कि मब स्थितियो मे समान रहता है। यही सम-दृष्टि मल्लिका को प्राप्त है। उसके व्यक्तित्त्व की दिव्य आभा और वाणी की शीतलधारा के सम्मुख सभी दुःखी शाति लाभकर अपने जीवन की दिशा निर्दिष्ट करते है। सभी पथ-भ्रष्ट उसी के द्वारा सत्-पथ पर लगते है।

वैधव्य नारी जीवन का सबसे बडा अभिशाप है। 'प्रसाद' की 'आसूँ' पुस्तक के आसूँ पता नही मल्लिका के जीवन मे आकर कहाँ सूख गए कि सेनापति बन्धुल की मृत्यु पर मल्लिका के अजल नेत्रो से दो बूँद आसूँ भी न निकल सके। कर्त्तव्य की कठोर वेदी पर उसके हृदय की समस्त कोमल अनुभूतियाँ सो गई है। कर्म-पथ की कठोरता ही उसके नारीत्व का शृगार करती है। पुरुषो की वीरता नारियो की शृगार-मजूषा मे बद करके नही रखी जा सकती। मल्लिका के यौवन-विलास की मदिरा अपने जीवन के मध्याह्न की प्रखरता मे भी उसकी वैराग्य-भावना मे शीतल विश्राम पा लेती है।

अपने पति की मृत्यु मे सहायक प्रसेनजित और विरुद्धक को भी वह करुणा का दान और विश्व-मैत्री का सदेश देना नही भूलती। इसी से पता चलता है कि विश्व-मैत्री की परीक्षा मे सफल मल्लिका मानवी नही, शाति की अधिष्ठात्री है।

मल्लिका का चरित्र वह आदर्श चरित्र है जिसका हृदय-मदिर करुणा, उदारता, कोमलता और सहिष्णुता आदि गुणो से आलोकित है और जो इन्ही सस्कारो की शीतल छाया मे अपने व्यक्तित्त्व की पूर्णता मे परिस्थियो के सम्मुख नही झुकती। परिस्थितियो का प्रभाव मल्लिका पर बिल्कुल नही पडता। उसका सक्षम

व्यक्तित्व अपने पथ की बाधाओ को रौदने मे कभी भी तो निराशा की कुहेलिका मे नही छिपा। खिन्नता के बादल उसपर कभी नही छाये। अपने पति की मृत्यु का समाचार सुनने के कुछ ही क्षणो बाद वह सारिपुत्र और आनन्द का स्वागत करती है और कर्त्तव्य से रचमात्र भी विचलित नही होती। इसी कर्त्तव्य-भावना को 'वह मानव का पवित्र अधिकार, शातिदायक धैर्य्य का साधन और जीवन का विश्राम' मानती है। मल्लिका के सारिपुत्र से कर्त्तव्य-पथ से कभी भी विचलित न होने के आशीर्वाद माँगने पर स्वय सारिपुत्र उसके चरित्र को धैर्य और कर्त्तव्य का अदर्श मानते है। मल्लिका को तो मार्तण्ड की सी प्रखरता और चन्द्रमा की सी शीतलता—अक्षय निधि की भाँति प्राप्त है। विद्वेष की अग्नि को शीतल कर देने वाली मल्लिका साधारण स्तर पर स्थित न होकर देवी के पदपर आसीन है। उसकी करुणा को देश काल की अपेक्षा नही।

'ध्रुवस्वामिनी' मे ध्रुवस्वामिनी के नारीत्व पर आँच पडते ही उसके अतर की नारी-सम्मान की भावना जाग्रत हो जाती है और क्रान्ति की पोषिका ध्रुवस्वामिनी अपने अधिकारो को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भैरवी का सा शखनाद करती है। गुप्त वश की बधू होने के कारण गुप्तवश की मर्यादा को वह ज्यो की त्यो बनाए रखना चाहती है। अत: रामगुप्त के क्लीव सिद्ध होने पर अदर ही अदर वह विक्षुब्ध रहती है। पर जब परिस्थिति ऐसी हो जाती है, कि ध्रुवस्वामिनी को शकराज के शिविर मे पहुचाने की व्यवस्था की जाती है तब उसका नारीत्व विद्रोह कर उठता है और वह अपना पथ अपने पैरो चलती है। उसके हृदय मे चन्द्रगुप्त के प्रति जो स्नेह की स्निग्ध तरलता प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित हो रही थी, वह सहसा उमड पडती है। उसके हृदय की उष्णता मे आत्म-सम्मान की शीतल ज्योति भी है। वह नही चाहती कि उसका आत्म-सम्मान तिरस्कृत हो। वह अन्याय को चुपचाप सहती है परन्तु जब उसका पति रामगुप्त उसकी रक्षा करने मे अपने को असमर्थ पाकर उसको शत्रु-शिविर मे भेजने का ध्रुव-निश्चय करता है तो ध्रुवस्वामिनी विद्रोहिणी बनकर क्राति की वाहिका सिद्ध हो जाती है। ध्रुवस्वामिनी के चारो ओर की घुटन-पूर्ण परिस्थिति ने ही उसे उसके अधिकारो के प्रति जागरूक बनाकर क्रान्ति के लिए उकसाया।

'प्रसाद' की करुणा और त्याग की मूर्ति भी आदर्श मूर्तियाँ ही है। मालविका, देवसेना और कोमा अत मे जीवन के शून्य-वृन्त पर एकाकिनी अपने उत्सर्ग के सौरभ से वातावरण को सुगन्धित एव उदास बनाकर प्रेम की स्निग्ध सशक्त लौ को हृदय मे छिपाये गहरी नि श्वास लेकर यो ही ससार से चली जाती है।

'कोमा' आशावादिनी है। हृदय की पूर्ण अनुरक्ति से उसने शकराज को चाहा। जीवन का उल्लास व्यक्ति के जीवन मे मगल और सौभाग्य का आवाहन

करता है। इस उल्लास से व्यक्ति को उदासीन नही होना चाहिए। शकराज के स्नेह ने उसके नीरव हृदय मे सुख और वसन्त की अजस्र वर्षा कर उसको असीम अनुभूतिमयी बना दिया था परन्तु वही शकराज जब ध्रुवस्वामिनी को अपने यहाँ बुलाता है तो कोमा के स्नेह के सूक्ष्म कोमल तन्तु एक झटके मे टूटा चाहते है। उसका भग्न-हृदय दु ख से समझौता कर लेता है। शकराज जब प्रेम की दुहाई देता है तब कोमा केवल इतना ही कह पाती है "प्रेम का नाम न लो, वह एक पीडा थी, जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे धीरे दूर हो जायगी।" शकराज और चन्द्र-गुप्त के बीच होने वाले युद्ध मे जब शकराज मारा जाता है तो वह उसके शव को ध्रुवस्वामिनी से माँगती है। ध्रुवस्वामिनी के अस्वीकार करने पर उसके हृदय की करुण रागिनी कह उठती है "रानी! तुम भी स्त्री हो, क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी? आज तुम्हारी विजय का अधकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढक ले, किन्तु सबके जीवन मे एक बार प्रेम की दीपावली जलती है, जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन मे वह आलोक का महोत्सव आया होगा जिसमे हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिए।" नारी के अवलम्ब खोजने वाले निर्बल अशक्त हाथ सदा ही पुरुषो द्वारा पीछे झटका दिये जाते है।

'प्रसाद' जी द्वारा वर्णित सवेदनाये देशकाल निरपेक्ष और मौलिक एव सार्व-भौम मनोभावो से उद्भूत है। चिन्तनशील होते हुए भी दार्शनिकताजनित गम्भी-रता स्नेह जैसी कोमल सृष्टि मे स्वभावत ही सन्तुलित एव स्निग्ध होने लगती है। इस स्नेह का सृजन करने वाली नारी है, पुरुष की प्राणी-शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक एव आध्यात्मिक व्यक्तित्त्व की पूरक नारी ही है। उसके बिना पुरुष का सासारिक-वैभव अपूर्ण अह का दम्भ है, एकान्त स्वार्थ का प्रतीक है। पुरुष की निर्माणात्मक एव उदयोन्मुख प्रवृतियाँ नारी के सहयोग द्वारा शक्ति और गति पाती है। अपने जीवन की अक्षय निधि स्कन्द के बिना देवसेना का जीवन किसी वृक्ष के शून्य वृन्त पर बैठी एकाकिनी विहग-बालिका के समान है। गाने पर जिसके हृदय की रागिनी रोती है, हँसने पर विषाद की प्रस्तावना होती है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि पर भी नारी पुरुष के जीवन को, उसके हृदय के रहस्यो को ठीक से समझने का प्रयत्न करती है। नारी के मधुराञ्चल की छाया मे पुरुष सतोष की साँस लेता है। स्कन्दगुप्त मे धातुसेन मातृगुप्त से कहता है, "पुरुष है कुतूहल और प्रश्न, और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातो का समाधान" ऐसी ही नारी के अभाव मे पुरुष का जीवन एक भटकी लहर हो जाता है—अनन्त भाव-उर्मियाँ एक अज्ञात किनारे की खोज मे रहती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक मे चन्द्रगुप्त के हृदय मे भावो और अभावो का प्रबल द्वन्द्व चल रहा था। मालविका के यह कहने पर कि अभी कितने ही भयानक सघर्ष सामने है, चन्द्रगुप्त

उत्तर देता है—"सघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो हृदय फाडकर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध । भावो का अभावो से द्वन्द्व । कोई कमी नही, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची मे रिक्त चिन्ह लगा देता है। मालविका, तुम मेरी ताम्बूल-वाहिनी नही हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो । देखो मै दरिद्र हूँ कि नही । तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नही । मेरे हृदय मे कुछ है कि नही टटोलने से भी नही जान पडता ।"

वैभव के समस्त उपकरणो के बीच चन्द्रगुप्त अपना कोई अन्तरग न होने के कारण घोर एकाकी अनुभव करता है । नारी ऐसे ही एकाकी पुरुष के जीवन को अपने स्नेह और सद्भावना के स्पर्शो से भर देती है । इतना ही नही—आध्यात्मिक ऊचाईयो के शिखरो को भी पुरुष ने नारी के अवलब से ही छुआ है । 'कामायनी' मे समस्त मानवीय दुर्बलताओ के प्रतीक, पथभ्रष्ट मनु श्रद्धा के अनुराग की छाया मे ज्ञान, इच्छा और कर्म का गोलक छूने की क्षमता रखते है । जिस श्रद्धा ने जीवन के प्रभात में मनु के हृदय के अभावो को भरा वही श्रद्धा दु खी मनु के जीवन मे अपने हृदय की समस्त शान्ती उढेलती है । जिस महाकाव्य का आरम्भ नारी के अभाव मे प्रलय की विभीषिका या विनाश की छाया मे हुआ उसका पर्य्यवसान आनन्द या निर्माण की पीठिका मे नारी के सहयोग से ही होता है । अत नारी पुरुष की सदा से ही पूरक रही है। नारी के अभाव ने पुरुष के जीवन को प्रलय के समान मथा है । नारी केवल पुरुष से इतना ही चाहती है कि इस तथ्य की अनुभूति पुरुष को हो जाये और उन क्षणो मे नारी कितनी महिमामयी गरिमामयी और दिव्य-प्रभा से आलोकित हो उठती है !

नारी का दूसरा रूप शक्ति भाव मे प्रकट होता है । इस शक्ति का प्रवाह विनाश और निर्माण दोनो ओर बहा है । निर्माण रूप मे वह प्रेरणा-मयी, ममतामयी एव असम्भव स्वप्नो को वास्तविक बनाने वाली है और उसका विनाशकारी रूप जहाँ एक ओर काली की महानता पाकर पापो को भस्म करता है दूसरी ओर कलह और द्वेष का कारण भी बन जाता है । वासवी, देवकी, नारियो के नही देवियो के चित्र है । घोर यन्त्रणाओ को सहने की उनमे असीम शक्ति है । जीवन भर अन्याय-जन्य कटुता का विषपान करके महान होकर वे हमारी श्रद्धा की पात्री बन उठी है । छलना, मागन्धी नारियो के नही दानवी के चित्र हैं, जिनके हृदय मे करुणा के लिए कोई अवकाश नही । नारी के जीवन मे पतन की पराकाष्ठा देखनी हो तो इन चरित्रो मे ! राजनीतिक कुचक्रो और कुमन्त्रणाओ का केन्द्र भी यही नारी हृदय बना । राजमद की लालसा ने छलना को सात्त्विक वृतियो से रहित बना दिया—रूप की ज्वाला ने मागन्धी को काशी की वार—विलासनी बनाया । इन रूपो मे नारी ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया । सात्त्विक और राजसी प्रवृतियो के द्वन्द्व, आदर्श

और यथार्थ का सघर्ष, अथवा श्रद्धा और इडा के रूप मे अध्यात्म और भौतिकता के द्वन्द्व मे शक्ति रूपिणी नारी का विश्लेषण भली प्रकार किया जा सकता है। इन दोनो प्रकार के द्वन्द्वो मे नारी की शक्ति के दोनो पार्श्व—आदर्श नारी के रूप मे शक्ति की उपासिका, अपने नग्नरूप मे शक्ति की विनाशिका —देखने मे आते है। पर अन्त मे प्रसाद की कोई भी नारी कलक नही रह जाती। किसी न किसी सत्पात्र की छाया मे अपने जीवन के कलुष को धोकर सद्मार्ग पर लग जाती है। सम्भवत यथार्थ पर आदर्श की, असत्य पर सत्य की, अन्याय पर न्याय की, कुप्रवृत्तियो पर सुप्रवृत्तियो की और श्रद्धा और इडा के रूप मे अध्यात्म की भौतिकता, पर विजय दिखाना ही 'प्रसाद' का अभीष्ट रहा है। नारी की महानता का पूर्ण परिपाक श्रद्धा के रूप मे हो पाया है जो हृदय की समस्त उदात्त प्रवृतियो की प्रतीक है। नारी के इसी उज्ज्वल पार्श्व को देखकर ही 'प्रसाद' जी कह उठे —

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥

नारी मे जो कुछ भव्य है, सुन्दर है, वह आदर्श नारी का प्रतीक बनकर प्रसाद के साहित्य मे अवतरित हुआ है। ये आदर्श नारी-पात्र आदि से अन्त तक सात्विक भावनाओ से आनुप्राणित है। आत्म-बलिदान और उत्सर्ग की भावना से ही उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व आच्छादित है। 'प्रसाद' के ये आदर्श नारी-पात्र ही नैतिक आदर्श के आश्रय समझे जा सकते है। ये पात्र देश काल निरपेक्ष है क्योकि जीवन के आदर्शवादी सिद्धान्त इनके मनोभावो के आलम्बन है। इनका विशेष गुण करुणा, उदारता और सहानुभूति है। 'प्रसाद' का यह नारी-वर्ग उनका आदर्शवादी वर्ग है जो मगल और कल्याण की वर्षा करता है।

नारी का दूसरा वर्ग जीवन की सुख-समृद्धि का, शोभा और शृगार का प्रतीक है। 'चन्द्रगुप्त' मे कार्नीलिया, 'स्कन्दगुप्त' मे विजया और जयमाला, 'ध्रुवस्वामिनी' मे ध्रुवस्वामिनी--इन पात्रो मे राजसी-गरिमा के साथ अवसर पडने पर सघर्ष मे जूझने की भी अपार शक्ति है। इनके मानसिक जगत् मे भी सघर्ष है और बाहरी जगत् मे भी। सहनशक्ति द्वारा ही इन सघर्षों पर वे विजय प्राप्त करती है।

प्रसाद के नाट्य-गीत

सुरेन्द्र माथुर

नाटकीय रचना मे गीत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीत के ही द्वारा कवि अपने काव्य की भावनाओ को व्यक्त कर सकता है। हृदय मे जिस प्रकार की भावनाओ का उतार-चढाव होता है, ठीक उसी प्रकार गीत की तन्मयता मे, उसकी लय मे एव उसके स्वर मे उतार-चढाव होता है। मानव की भावना-परिधि मे दो प्रकार की भावनाएँ निहित है — एक सुख की, दूसरी दु ख की। जहाँ एक ओर मानव सुख एव आनन्द के सागर मे अपनी जीवन-तरी को छोडता है वही दूसरी ओर उसकी जीवनतरी जटिल एव विकट समस्याओ मे अपनी सास गिनती रहती है। ससार के झझट, विश्ववेदना एव भाग्य-विडम्बना से मुक्ति पाने की एकमात्र औषधि गीत ही है। गीन एक अनुभूतिनिष्ठ आत्म-सवेदनात्मक व सूक्ष्म रचना है। उसमे विषय या तो निमित्त मात्र होता है या होता ही नही। गीतो मे जितने प्रकार होते है उनमे से कुछ प्रकार के गीत अपनी गेय शक्ति के कारण गीत भले ही कहलाये किंतु विषय-प्रधानता, वर्णनात्मकता एव व्याख्या आदि के कारण उनमे अवश्य ही ऐसे तत्वो का अभाव होता है जो गीत मे समाविष्ट होकर उसके मार्मिक-प्रभाव को हृदय के गूढतम स्तरो तक पहुँचाने मे समर्थ होते है। गीत की तन्मयता मे कठोरता पर कपल्ना का परदा पड जाता है और दु:ख उस रागधारा के प्रवाह मे मधुमय हो जाता है। सुख को सुखातिरेक और दु ख को आनद मे परिवर्तित करने वाला अलौकिक आह्लाद-गीतो मे ही मिलता है।

गीत की उत्पत्ति का एकमात्र आधार है जीवन की तन्मयतामयी अनुभूतियाँ। उसकी प्रगति मे जितना सतोष सुख होता है उससे भी अधिक उसके अभाव मे असन्तोष और दुःख। दु ख ही मे गीत की उत्पत्ति है। अपूर्वता, अभाव और वेदना एक ही भाव की भिन्न भिन्न स्थितियाँ है। मनुष्य की महत्ता उसकी चेतना है और जब दु.ख से, वेदनासे, अभाव से, चेतना उद्वेलित हो उठती है तभी गीत की सृष्टि होती है। गीत का प्रमुख लक्षण उसकी सकेतात्मकता, प्रतीकत्व, ध्वन्यात्मकता, अनुभूति की सूक्ष्मता व कोमलता, लाघव तथा अन्विति आदि है। गीत एक उच्चकोटि की साहित्यिक सृष्टि है जिसमे कवि की सगीतमयी वाणी उसकी आँतरिक भाव-विभूति एव उसका अर्जित कला-कौशल एक साथ ही दिखाई देता है। कवि की सारी मनोग्रथियाँ गीत मे आकर स्वत खुल जाती है।

जिस प्रकार ीवन का सम्बन्ध हर्ष और विषाद मे है उसी प्रकार

गीत का शरीर भी सुख-दुःख के ताने बाने से बुना गया है। युग की इन्ही नैराश्य-मयी भावनाओ से प्रभावित होकर एव कष्टमय वातावरण को देखकर हिन्दी कवियों के हृदय मे भी करुणा और वेदना की मंदाकिनी बही और राष्ट्रीयता का भी आगमन हुआ जिसमे नाटककार प्रसादजी अग्रदूत बनकर आये।

भारत के प्राचीन नाटको मे भी गीत अवश्य रहे, परन्तु आधुनिक नाटकों मे गीतो की अधिकता रहती है। अधिकाशत. नाटककारो ने इन गीतो को मनोरजन के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप मे उपस्थित किया है। नाटक मानवीय चेष्टाओ का क्रियात्मक प्रदर्शन है। अभिनय मे नाटकीय पात्रो की वाह्य-स्थूल क्रियाओ की अभिव्यक्ति तो होती ही है उनके मन की सूक्ष्म स्थितियो का व्यक्तीकरण भी होता है और मानव-जीवन मे ऐसी स्थिति आती है जब मनुष्य भावनाओ मे इस प्रकार तन्मय रहता है। जब वह हर्ष अथवा विषाद से इस प्रकार पीडित रहता है कि उसकी मारी स्थूल प्रक्रियाएँ शिथिल पड जाती है और उसकी बौद्धिक विश्लेषण की शक्ति मूक हो जाती है। गीत ही, जो भाव को आकार देने की क्षमता रखता है, उस अवस्था का सजीव चित्रण, प्राणमय प्रकाशन कर सकता है। चित्र और काव्य की इसी सन्धि का नाम नाटक है। अतः गीतो को नाटक मे न रखना उसके एक आवश्यक तत्व से वचित करना है, क्योकि नाट्यगीत, नृत्य, काव्य और चित्र की सयुक्त कला है। नाटक मे गीतो की यही उपयोगिता है।

प्रसादजी के नाटको मे 'नाट्यगीत' उनके पात्रो के द्वारा गाये जाने वाले गाने के रूप मे सग्रहीत है। ये सभी गीत शुद्ध साहित्यिक है। राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, एक घूंट, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी आदि नाटको मे प्रसाद के नाट्यगीतो की सामग्री उपलब्ध है। ये गीत प्राय: सभी प्रकार के है—शृगारिक, दार्शनिक, भक्ति-परक, राष्ट्रीय व प्रकृति-सौन्दर्यमूलक, किन्तु प्रधानता शृगारिक गीतो की है। प्रसादजी ने अपने नाटको मे गीतो को स्थान दिया है, वह किसी विशिष्ट उद्देश्य या धारणा को लेकर नही। वस्तुतः उन्होने गीतो के ऐतिहासिक एव शास्त्रीय महत्त्व को समझा था। ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए यह स्पष्ट है कि भारत के प्राचीन नाटको मे गीतो का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से भी गीतो का महत्त्व कम नही है। नाटको मे गद्य-सवादो के रहने से जो शिथिलता छाई रहती है उससे पाठक या दर्शक का मन ऊब जाता है इसीलिए नाटको मे गीतो की आवश्यकता होती है। पडित शाति प्रिय द्विवेदीजी के शब्दो मे—"जीवन-यात्रा के शुष्क मरु-प्रदेश से थककर मनुष्य किसी न किस क्षण कुछ गुनगुनाना चाहेगा ही।" वास्तव मे गीतो के रहने से नाटक की दुरुहता दूर हो जाती है। इसका अर्थ यह नही कि नाटको मे गीतो की सख्या अधिक हो वरन् उनका उपयोग उचित अवसरो पर हो। प्रसाद के गीत-

चरित्र-चित्रण मे भी सहायक है क्योकि वे पात्रो की प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन कराते है। नाटक मे गीत ही उनके पात्रो के प्राण है। इतना ही नही प्रसाद के गीत रस के उद्रेक एव परिणाम की परिणति मे भी सहायक हुए है। प्रसाद का कवि-हृदय मचल उठता है और वे काव्य-प्रवृत्तिके वश मे होकर नाटको मे गीतो का समन्वय करते है। गीतो की स्थानीय उपयुक्तता और भाव-प्रदर्शन नाटक के दृश्यो को और भी अधिक तीव्र बना देते है। प्रसाद मे सौदर्य, प्रेम और यौवन अपनी पूरी मादकता से छलकते से प्रतीत होते है। अभाव की वेदना पीछे छूट जाती है। उन्ही के शब्दो मे—"अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाय।" प्रसाद के कल्पना-लोक मे एक अद्भुत मादकता है, उल्लास है, वैभव है, वही पर अनन्त प्रेम है, यौवन है, सौन्दर्य है। कितना अनन्त सुख है इस कल्पना मे—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यो ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि भी गुञ्जारों में
मधुसरिता - सी यह हँसी
तरल अपनी पीते रहते हो क्यो ?"[1]

भावोत्कर्ष मे कवि-कल्पना कल्पना के अतीन्द्रिय लोक मे ही जाकर विश्राम करती है। उपर्युक्त गीत मे कल्पना की प्रौढता एव रसात्मकता के दर्शन होते है। यौवन के उन्माद का, उसके असगत प्रवाह का एक चित्र देखिए –

"आज इस यौवन के माधवी कुञ्ज मे कोकिल बोल रहा !
मधु पीकर पागल हुआ, करता प्रेम प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय, जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा !
बिछल रही चाँदनी, छवि - मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से, बहकाने की बात।
कौन मधु मदिरा घोल रहा?"[2]

१—चन्द्रगुप्त मौर्य—प्रथमाक--पृ० ६३, स० २०१५ सस्करण
२—चन्द्रगुप्त मौर्य—तृतीय अक--पृ ११५

असफल प्रेम, अतृप्त सौन्दर्य की झलक से खिन्न होकर भी कवि की उत्कट इच्छा होती है—

"सुधा - सीकर से नहला दो।
लहरें डूब रही हों रस मे,
रह न जायें वे अपने बस में,
रूप - राशि इस व्यथित हृदय-सागर को—
बहला दो !"[1]

'प्रसाद' की कल्पना मे उनका ऐन्द्रिय-सुख स्पन्दित होता सा प्रतीत होता है। उनका स्पर्श-सुख, स्मृति का अनुराग, समय और स्थल का अस्तित्व ये सब मानो एक ही भाव मे डूबकर नीरव, निश्चल और अनन्त प्रकृति के अनादि तत्वो मे मिल जाते है। यही कारण है कि प्रसाद के नाट्य-गीतो की अन्तिम पक्तियाँ प्रायः प्रकृति मे 'भव-विभव-पराभव' की शाश्वत क्रियाओ मे गीत का सार प्रकट कर देती है। देवसेना अपनी सूनी वेदना को हृदय की करुणा के आवरण मे और देर तक नही छिपा सकती —

"लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती।
विश्व ! न सम्भलेगी यह मुझ से,
इससे मन की लाज गँवाई॥"[2]

स्कन्दगुप्त नाटक मे, जहाँ गीत रूप मे पात्रो के हृदय के उद्गार उनके जीवन की गतिविधियो की व्यापक पृष्ठभूमि मे व्यक्त किये जाते है वहाँ उनकी अनुभूति का सवेदन और भी तीक्ष्ण व मर्मस्पर्शी होता है। किन्तु उन स्थलो पर जहाँ असफल प्रेमियो, प्रणय वचिताओ, जीवन पथ के श्रान्त-क्लात किन्तु कर्मठ वीरों, जीवन-सग्राम के व्रणो को सहलाते हुए अतीत की स्मृतियो के सम्बल पर जीवित रहने वाले सदाशय पात्रो, जीवन और जगत् का तटस्थ सिंहावलोकन करने वाले दार्शनिको और चोट खाकर तडपने वाले आर्त्त हृदयो की पुकारे उठती हैं वहाँ पर प्रसाद के हृदय की अनुभूति का सारा स्रोत खुल पडता है। देवसेना अपनी कोमल भावनाओ का सागर लेकर जीवन के भावी सुख, आशा और आकाक्षा सबसे विदा लेती है। उसका प्रेम जीवन-गीतो मे ही अनुप्राणित है, उस टूटे हुए प्रेम-पल्लवित स्त्री-हृदय मे कितनी कसक है और है कितनी वेदना, जो श्रोता के हृदय को भी एक बार मथ डालती है —

आह ! वेदना मिली विदाई !

१—चन्द्रगुप्त मौर्य—चतुर्थ अङ्क पृ० १७५

२—स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—पचम अङ्क प० १५४ स २००८ सस्करण

मैने भ्रमवश जीवन सञ्चित,
मधुकरियो की भीख लुटाई ।

छलछल थे सन्ध्या के श्रमकरण,
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण ।
मेरी यात्रा कर लेती थी —
नीरवता अनन्त अँगड़ाई ॥

श्रमित स्वप्न की मधुमाया मे,
गहन-विपिन की तरूछाया मे,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने —
यह विहाग की तान उठाई ॥

लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी ।
मेरी आशा आह ! बावली,
तूने खो दी सकल कमाई ॥"[1]

एक के बाद दूसरी पक्ति देवसेना के असफल प्रेम की वेदना को उसके जीवन की असार्थकता को, जगत् से बचा-बचाकर प्रेम के कोमल किसलय को पा लाने की थकान व्यक्त करती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन-शक्ति आज बुझ जावेगी। यहाँ तक कि अन्त मे देवसेना अपने भावो का विलयन विश्व मे कर देती है और एक ही भाव की तन्मयता मे प्रसादजी के पात्र, स्थल, गीत समय और दर्शक सभी वह जाते है।

प्रसाद के कुछ गीतो मे मर्म वेदना के चित्र भी मिलते है। अजात शत्रु मे श्यामा का यह गीत इसी प्रकार है। देखिए—

बहुत छिपाया, उफन पडा अब,
सँभालने का समय नहीं है।
अखिल विश्व मे सतेज फैला,
अनल हुआ यह प्रणय नही है ॥
कही तडप कर गिरे न बिजली,
कही न वर्षा हो कालिमा की।
तुम्हे न पाकर शशांक मेरे,
बना शून्य यह, हृदय नहीं है ॥

× × ×

जली दीपमालिका प्राण की;

१—स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—पचम अक पृ० १५३ सम्बत् २००८ सस्करण

हृदय-कुटी स्वच्छ हो गई है।
पलक-पाँवड़े बिछा चुकी हूँ,
न दूसरा और, भय नहीं है ॥
चपल निकलकर कहाँ चले अब,
इसे कुचल दो मृदुल चरण से।
कि आह निकले दबे हृदय से,
भला कहो, यह विजय नहीं है।[1]

अथवा, मातृगुप्त का यह गीत—

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
'वह उच्छृङ्खलता थी अपनी'—कहकर मन मत बहलाना ॥
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले मे उठती लहरी।
मेरे निश्वासो से उठकर अधर चूमने को ठहरी ॥
× × × ×
तुम अपनी निष्ठुर क्रीडा के विभ्रम से, बहकाने से,
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने- से।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना,
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना।"[2]

प्रसाद के ऐसे गीतो मे उनके हृदय की अनुभूति समरस होकर आकाश मे नीलिमा की भाँति फैल गई है। इन गीतो मे निर्वेद, दैन्य, मद, मोह, स्मृति, विषाद, अमर्ष, उन्माद आदि सभी गम्भीर भावनाओ की मार्मिक व्यजना हुई है। कवि का हृदय इन गीतो मे निखर आया है।

कल्पना की उडान, अनुभूति की तीव्रता एव प्रकृति की क्रियाओ में मानव की पूर्णता को दिखाने के पश्चात् भी प्रसाद किसी तथ्य तक नहीं पहुँच पाते क्योंकि वहाँ इतनी ऊँचाई पर फिर अत्यन्त शून्यता है, कल्पना निष्प्राण है और है बुद्धि से परे। देखिए—

क्षणिक वेदना अनन्त सुख बन, समझ लिया शून्य मे बसेरा।
पवन पकड कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई ॥[3]

कथोपकथन और अभिनय से हृदय के सम्पूर्ण भावो की अभिव्यक्ति नही हो पाती। मनुष्य के हृदय मे छिपे भावो की अभिव्यक्ति करना गीत का लक्ष्य है। प्रसाद के नाट्यगीतो की यह प्रधान विशेषता है। नाटक मे होने के कारण गीतो और पात्रो

१—अजात शत्रु—द्वितीय अक—पृ० ७८-७९, सम्बत् २००५ सस्करण
२—स्कन्द गुप्त विक्रमादित्य—प्रथम अङ्क पृ० २३
३—अजातशत्रु—तृतीय अङ्क—पृ० १४९

का अटूट सम्बन्ध चरित्र के चित्रपट पर उनका सौन्दर्य और निखार देता है—

मीड मत खींचे बीन के तार .... ।

जितनी कोमलता से भाव की ग्रन्थि खुली है, पीडा की कसक और असमर्थता का दुख उतनी ही करुणा से व्यक्त हुआ है—

निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
पल-भर अनुकम्पा से भर जा।
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी,
निकलेगी निस्सार।

छेड-छेड कर मूक तन्त्र को—
विचलित कर मधु मौन यन्त्र को—
बिखरा दे मत, शून्य पवन में,
लय हो स्वर-संसार।

मसल उठेगी सकरुण वीणा,
किसी हृदय को होगी पीड़ा।
नृत्य करेगी नग्न विकलता ,
परदे के उस पार !"[1]

प्रसाद के ये गीत केवल गीत ही नही, अपितु सगीत की कसौटी पर भी पूरे खरे उतरते है। ये उनके सगीतज्ञ होने का परिचय देते है।

अनुभूति की सहजता और गम्भीरता उनके दार्शनिक, राष्ट्रीय व प्रकृति-प्रेम के गीतो मे भी मिलती है। दार्शनिक भावना का एक चित्र 'स्कन्दगुप्त' मे देखिये—

सब जीवन बीता जाता है, धूप छाँह के खेल-सदृश ।
समय भागता है प्रतिक्षण मे,
नव-अतीत के तुषार-कण मे,
हमे लगाकर भविष्य-रण मे,
आप कहाँ छिप जाता है ?
सब जीवन बीता... ..... ।
बुल्ले, लहर, हवा के झोंके,
मेघ और बिजली के टोके।
किसका साहस है कुछ रोके,
जीवन का वह नाता है। सब जीवन बीता ......![2]

इसी प्रकार एक दूसरे गीत मे देश प्रेम का चित्रण चित्रित किया गया है—

१—अजातशत्रु—प्रथम अङ्क पृ० ६२।
२—स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—तृतीय अङ्क पृ० ९०

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर—नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर—मंगल कुंकुम सारा।
× × × ×
हेम कुम्भ ले उषा सबेरे—भरती ढुलकाती सुख मेरे,
मदिर ऊँघते रहते जब—जगकर रजनी भर तारा॥"[1]

इस गीत मे प्रसादजी ने देश-प्रेम के अतिरिक्त अर्थ गरिमा, भावो की उदात्तता, कल्पना की रमणीयता व सौन्दर्य-चित्रण को एक स्थान पर समाहित कर दिया है। इन दृष्टियो से प्रसाद का यह श्रेष्ठ गीत है।

वीरत्व भावना से अनुप्राणित करने वाले गीत मे प्रसादजी ने लिखा है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से,
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वय प्रभा समुज्जवला
स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पथ है—बढे चलो, बढ़े चलो॥
असंख्य कीर्तिरश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के—
रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धु मे—सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो।[2]

प्रसाद का यह गीत ओज-भावना के सचार के साथ-साथ छन्द-प्रवाह, पद-सौष्ठव से भी पूर्ण है।

प्रसाद के सजीव चित्र कही-कही धरातल पर स्पष्ट उभर नही सके हैं परन्तु फिर भी उनकी आकृति हृदय मे अङ्कित हो जाती है और ज्ञात होने लगता है मानो गीत के शब्द स्वय चित्र बन गये हो। शैलेन्द्र की आलस्यपूर्ण तृष्णा श्यामा गाती ही है—

निर्जन गोधूली प्रान्तर मे खोले पर्णकुटी के द्वार,
दीप जलाये बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटमारो से ठगे हुए की ठुकराये को लाखों से,

१—चन्द्रगुप्त मौर्य—द्वितीय अङ्क पृ० १००
२—चन्द्रगुप्त मौर्य—चतुर्थ अक पृ० १९४

किसी पथिक की राह देखते अलस अकम्पित आँखो से —

× × × ×

बीती बेला, नील गगन तम, छिन्न विपञ्ची, भूला प्यार,

क्षपा-सदृश छिपना है फिर तो परिचय देंगे आँसू-हार ।।[1]

इस गीत का एक-एक शब्द पाठक के हृदय मे सुनसान बीहड मे बैठे हुए व्याकुल चित्त किन्तु बाहर मे शान्त और सयत वियोग का चित्र स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित कर देता है ।

प्रसाद प्रकृति की क्रियाओ को मानवीय भावो तथा मूर्त-चित्रो द्वारा उपस्थित करने मे निपुण है । वे पार्थिव और अपार्थिव दोनो प्रकार के सौन्दर्य को सचेत कर देते है । प्रेम जितना ही सुन्दर है, उतना ही मधुर । मालविका उतना ही सुन्दर, कोमल, स्निग्ध और पवित्र चित्र अपने नेत्रो मे उतारने का प्रयत्न करती है —

"ओ मेरी जीवन की स्मृति ! ओ अन्तर के आतुर अनुराग !

बैठ गुलाबी विजन उषा मे गाते कौन मनोहर राग ?

चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी कम्पनमय तान,

यों अधीरता से न मीड लो अभी हुए है पुलकित प्रान ।।"[2]

कलाकार प्रसादजी यह जानते है कि अनुराग का वर्ण क्या है किन्तु मालविका के अनुराग मे क्या वही लाली थी, वह लाल न होकर गुलाबी था । रक्तिम मालविका के प्राण उत्सर्ग के कगारे पर बैठे हुए प्राण अनुराग बनकर गाते-गाते उषा की गुलाबी झलक मे विलीन हो जाते है ।

प्रसादजी की कल्पना सर्वत्र भावानुसारिणी है । गीतो मे रसमूलक रमणीय कल्पना के ही दर्शन होते है । प्रभात की किरणो से सरावोर सुनहले कल्पना चित्र बहुत सुन्दर बन पडे है । कवि कल्पना का सुन्दर-सौष्ठव ध्रुव स्वामिनी के इस गीत मे दिखाई देता है—

अस्ताचल पर युवती सन्ध्या को खुली अलक घुँघराली है ।

लो, मानिक मदिरा को धारा अब बहने लगी निराली है ।।

भरली पहाड़ियो ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली ।

झुक चलो चूमने वल्लरियो से लिपटी तरु की डाली है ।।[3]

ध्रुवस्वामिनी मे इसी प्रकार के बहुत सुन्दर गीत भरे पड है । इन गीतो मे कल्पना, भावुकता चित्रमयता, लाक्षणिकता एव रसात्मकता का सुन्दर समन्वय है । प्रसाद के नाट्य-गीतो मे एक आकर्षण शक्ति है जिससे हमारा हृदय खिचता है, मन एकाकार हो

---

१ —अजात शत्रु —द्वितीय अक—पृ० १०४-१०५

२—चन्द्रगुप्त मौर्य — चतुर्थ अक—पृ० १८६

३ — ध्रुवस्वामिनी —

जाता है। मदाकिनी के गान मे करुणा, वेदना और अतीत का दिग्दर्शन है। इस गीत मे एक दर्दीला स्वर है, उसमे तड़पती एव अतृप्त आत्मा की पुकार है। विश्व कल्याण की कामना करती हुई वह पुकार उठती है—

"यह कसक अरे आँसू सहजा,
बनकर विनम्र, अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा।
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।"[१]

इसी प्रकार की भावनाये प्रसाद के चन्द्रगुप्त मे भी मिलती है। सुवासिनी गाती है—

"निकल मत बाहर दुर्बल आह!
लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच,
तड़प ले चपला-सी भयभीत।
× × × ×
हिला कर धड़कन से अविनीत
जगा मत, सोया है सुकुमार।
देखता है स्मृतियो का स्वप्न
हृदय पर मतकर अत्याचार॥"[२]

उपर्युक्त पक्तियो से यही ज्ञात होता है कि प्रसाद के पात्रो की आत्मा इन गीतो में एकाकार हो गई है। इस सम्बन्ध मे प्रसादजी ने स्वय ही लिखा भी है— "दुःख और करुणा मानव हृदय की कोमल एव सूक्ष्म वृत्तियाँ है। मानव हृदय को ये जितना छू सकती है उतनी अधिक दूसरी नही।" उन्होने अपनी इसी धारणा की पुष्टि अपने नाट्य-गीतो मे की है।

प्रसाद के गीत नाटक मे अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते है। वे स्थान, पात्र एव समयानुकूल है। डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने प्रसाद के नाट्य गीतो मे कुछ अनौचित्य व त्रुटियाँ भी बताई है। वे है—

१—गीतो का अतिरेक जिसके कारण सगीत भी अरुचिकर हो जाता है।
२—गीतो का लम्बा व अव्यावहारिक होना जिसके कारण रगमच पर उनकी अनुपयुक्तता।

१—ध्रुवस्वामिनी (सम्वत् २००५ सस्करण) पृष्ठ १६
२—चन्द्रगुप्त मौर्य—प्रथमाक पृष्ठ ६५

वस्तुतः उक्त आरोप उनके कुछ ही गीतो पर अशत. लागू किया जा सकता है । समष्टि रूप से प्रसाद के नाट्यगीत प्राय. साभिप्राय दिखाई पडते हैं और कथा के मेल मे है ।

इसके अतिरिक्त प्रसाद के नाट्य-गीतो की एक विशेषता यह भी है कि यदि वे नाटको से अलग करके सग्रहीत कर दिये जाये तो उनके गीति-तत्व (Lyric element) मे कोई कमी नही आती । यह विशेषता हमे अन्य नाटककारो के नाटको मे नही मिलती । प्रसाद इस क्षेत्र मे भी अग्रगण्य है ।

इनके नाट्य-गीतो की भाषा सस्कृतनिष्ट परिष्कृत खडी बोली है । यह बडी ही सरस है और इसके भावो को समझना भी दुष्कर नही । कोमल स्निग्ध शब्दो का चयन, पद योजना, छन्द प्रवाह उनकी अपनी ही वस्तु है । प्रसाद के नाट्य-गीतो मे सगीत की धारा पूर्ण यौवन के साथ मदमाती-सी अपना मार्ग स्वय निर्मित करती चलती है । प्रत्येक शब्द मे कोमलता ने अपना स्थान ग्रहण किया है । शब्द-विन्यास मधुर एव हृदयग्राही है । नाट्य-गीतो की मार्मिकता काव्यगत न होकर कथागत है । उसमे उनका आदर्श है । प्रसादजी ने स्वय ही अपने इस आदर्श को व्यक्त किया है—

"कविता वह वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण सगीत गाती है । अधकार का आलोक से, जड का चेतन से और बाह्य-जगत का अन्तर्जगत से सम्बन्ध करना उसका मुख्य उद्देश्य है ।"

प्रसाद के नाट्यगीत एक के बाद इसी आदर्श को छूते चले जाते है ।

उपन्यास
कहानी

'प्रसाद' के उपन्यास और युगीन शिल्प-विशेषतायें

प्रताप नारायण टण्डन

हिन्दी उपन्यास के विविध विकास युगो मे एक स्पष्ट क्रमबद्धता लक्षित होती है। उसी को आधार बनाकर प्रत्येक युग की शिल्प-विषयक विशेषताओ का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है। जिस युग में जयशकर "प्रसाद" का आविर्भाव हुआ, वह हिन्दी उपन्यास के विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल है। इस युग की सामान्य विशेषताएँ सक्षेप मे यही है कि इस युग के उपन्यासो के कथानक और पात्र काल्पनिकता के जाल से मुक्त होकर यथार्थता और व्यवहारिकता की ओर बढते प्रतीत होते है। पूर्वयुगीन कथापरम्परा के फलस्वरूप वे आदर्शवाद का अनुगमन तो करते है, परन्तु उनमे नवीन युग की समस्याओ के प्रति उदासीनता नही मिलती। इस दृष्टि से इस युग के उपन्यासो की एक प्रधान विशेषता यह है कि उनमे सामूहिक रूप से अनावश्यक आदर्शवादिता का बहिष्कार किया गया है।

वर्तमान युग मे हिन्दी उपन्यास की जो नई प्रवृत्तियाँ देख पडती हैं, अपने बीज रूप मे वे इस युग के उपन्यासो मे न्यूनाधिक मात्रा मे विद्यमान हैं। इस युग के उपन्यासो मे जो समस्याएँ उठाई गई है, वे व्यक्तिगत या पारिवारिक न होकर समाज-व्यापी है और सामाजिक सीमाओ का स्पर्श करती हैं। इस युग के प्रमुख उपन्यासकारो ने भारतीय नागरिक एव ग्रामीण जीवन के अनेक महत्वपूर्ण पक्षो तथा उनसे सम्बन्धित विविध प्रश्नो पर मानसवादी दृष्टिकोण से विचार किया। यही कारण है कि उनकी कृतियाँ जनता का साहित्य है, जिनमे जनता का जीवन प्रतिबिम्बित होता है।

कथानक मे नाटकीयता के तत्व के समावेश की दृष्टि से इस युग के उपन्यासो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे वे उपन्यास आते है, जिनमे घटना-संयोजन मे अपेक्षाकृत नाटकीयता का बहिष्कार किया गया है और दूसरे वर्ग मे वे उपन्यास आते हैं, जिनमे नाटकीय तत्व बहुलता से मिलते है। इस दूसरे वर्ग के उपन्यासो मे भावनात्मकता का भी प्राधान्य हो गया है। प्रसाद के लिखे हुए उपन्यास इसी वर्ग के अन्तर्गत है।

प्रसादजी के उपन्यासो मे शिल्प की दृष्टि से यह उल्लेखनीय बात है कि उनके कथानक मे अनावश्यक उलझाव अतिशय रूप मे मिलता है। इसका कारण भी पूर्वयुगीन उपन्यास साहित्य का प्रभाव ही है। क्योकि उसमे अधिक से अधिक उलझाव कथा मे उत्पन्न करने की प्रवृत्ति थी और यह प्रवृत्ति पूर्व-युगीन

उपन्यासो की प्रमुख विशेषता के रूप मे स्वीकार की जाती है। जहाँ तक पूर्वयुगीन उपन्यासो का ही सम्बन्ध है, उनमे इस प्रवृत्ति के विद्यमान होने के कारण कथा मे उत्सुकता-वृद्धि का उद्देश्य था। उस युग मे प्रधानता जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासो की बडी सख्या मे रचना का भी यही कारण है। परन्तु प्रसाद के उपन्यासो मे यही प्रवृत्ति कुछ परिवर्तित रूप मे मिलती है।

प्रसादजी का महत्त्व हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे एक नाटककार तथा कवि के रूप मे ही मुख्यतः है, एक उपन्यासकार के रूप मे कम, यद्यपि प्रसाद की लिखी हुई कतिपय औपन्यासिक कृतियाँ इस क्षेत्र विशेष मे उनकी प्रौढता और क्षमता की परिचायिका है। कथा-विषय और उपन्यास-परम्परा की दृष्टि से प्रसाद एक विशेष औपन्यासिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत आते है। यह प्रवृत्ति है प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित यथार्थपरक विचार-दृष्टि, जिसमे आदर्शवादी तत्वो की झलक भी यत्र-तत्र मिलती है। जहाँ तक केवल प्रसादजी का सम्बन्ध है, वह न केवल प्रवृत्ति की दृष्टि से, वरन् भाषा-शैली और वैचारिक दृष्टिकोण के कारण भी इसी कथा-परम्परा मे आते है। "प्रसाद" का सर्वप्रथम उपन्यास "ककाल" था, जिसका प्रकाशन सन् १९२९ मे ही हुआ था। उस समय तक हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र मे ऐसी कृतियाँ अपवादस्वरूप ही मिलती थी, जिनसे किसी क्षेत्र मे कोई प्रेरणा ग्रहण की जा सकती हो। इसलिए स्वभावत हिन्दी मे आदर्शवादी उपन्यासो का ही प्रचलन अधिक था। आदर्श-भावना से ओत-प्रोत उपन्यास बडी संख्या मे लिखे जाते थे और उनसे हट कर किसी मौलिक दृष्टि-कोण के समावेश की ओर कोई ध्यान देने की आवश्यकता नही समझी जा रही थी। यद्यपि किसी समन्वित दृष्टि-कोण से युक्त कृति को पूर्णतः आदर्शवादी या यथार्थवादी घोषित करना बहुत उचित नही लगता, पर इतना निश्चित है कि यथार्थपरक दृष्टिकोण तब तक उपन्यासो मे समाविष्ट नही हुआ था। किसी सीमा तक इस प्रवृत्ति का कारण भी पूर्वयुगीन प्रभाव ही था।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे यह स्वीकार करना चाहिये कि प्रौढ यथार्थवादी दृष्टिकोण का समावेश हिन्दी उपन्यास के लिये एक असामान्य कथा-तत्व था। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के अतिरिक्त प्रसादजी ही ऐसे उपन्यासकार थे, जिन्होने इस तत्व पर विशेष गौरव दिया। उनका लिखा हुआ उपर्युक्त उपन्यास सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास है, जिसमे सामयिक परिस्थितियो के विरुद्ध असन्तोष और विद्रोह का स्वर है। कहा जा सकता है कि यह उपन्यास हिन्दी उपन्यास की ठेठ यथार्थवादी परम्परा की प्रवर्तक कृतियो मे है।

यहाँ एक दूसरी बात भी ध्यान मे रखने योग्य है। वह यह कि परम्परागत औपन्यासिक कथा-निर्माण की दृष्टि से देखने पर "ककाल" भारतेन्दुयुगीन सुधारवादी आदर्शपरक दृष्टिकोण प्रधान उपन्यास कहा जायगा।

कथा-रूपो और रचनात्मकता की दृष्टि से 'ककाल की कथा दो भागो मे विभक्त की जा सकती है। उनका आधार दो प्रधान कथा-सूत्र है। इन दोनो कथा-सूत्रो को लेखक ने समानान्तर विकास की ओर अग्रसर किया है। उत्तरी भारत के अनेक धार्मिक-ऐतिहासिक नगरो के जीवन को यथार्थ रूप मे चित्रित किया गया है और मार्मिक अनुभूतियो को अभिव्यक्ति दी गई है। स्पष्ट है कि यह प्रेमचन्दयुगीन बहुत से अन्य उपन्यासो की आधार-भूमि से भिन्नता रखता है। जैसा कि अभी कहा गया है, इसमे प्रधान कथा-सूत्र दो ही है, पर उनके साथ अनेक सहायक कथा-सूत्र भी है, जिनका आधार विविध प्रासगिक घटनाये है। भारतेन्दुयुगीन उपन्यासो की कथा मे जो घटना-वैचित्र्य मिलता है, उसका इस उपन्यास मे अभाव नही है। इन्ही कुछ कारणो से कही-कही ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास के कथानक का विकास स्वाभाविक रूप मे नही हो पा रहा है। कुछ स्थल तो ऐसे है, जहाँ भारतेन्दु युग के तिलिस्मी उपन्यासो के समान ही घटनाओ का ज्वार उठता है। लेकिन यह उल्लेखनीय बात है कि यह घटना-वैचित्र्य किसी सीमा तक अपने पीछे उद्देश्य लिये हुए है—उदाहरणार्थ उपन्यासकार का वर्णाश्रम धर्म विषयक दृष्टिकोण।

"ककाल" की कथा का आरम्भ श्रीचन्द्र और किशोरी के चरित्र को आधार बनाकर विकसित हुआ है। बीच मे पूर्व-कथा का भी आभास लेखक ने दिया है, जो उसकी पृष्ठभूमि को स्पष्ट करता है। मगलदेव के चरित्र को आधार बनाकर यही से दूसरा सूत्र भी समावेशित हो जाता है, जो विविध प्रासगिक चरित्रो को सहायक बनाकर विकसित हुआ है। कथा मे विविध नगरो का उल्लेख आता है, जहाँ उसकी अनेक घटनाएँ घटित होती है। 'घण्टी', 'तारा', 'गुलेनार', 'बाथम', 'यमुना', 'नन्दा' आदि के चरित्र भी विविध प्रासगिक कथाओ की आधार-भूमि है। 'गाला डाकू' तथा उसकी कन्या की कथा को स्फुट अश के अन्तर्गत रखा जा सकता है। 'विजय' द्वारा हत्या हो जाने के पश्चात् उपन्यास के घटना-चक्र मे अपेक्षाकृत तीव्रता आ जाती है। उपन्यास के अन्तिम कथा-भाग मे नाटकीयता का समावेश बहुलता से हुआ है और भारत सघ की स्थापना के साथ कथा की समाप्ति होती है।

'प्रसाद' जी का दूसरा उपन्यास "तितली" भी तत्वगत एकता के कारण इसी परम्परा मे आता है। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् १९३४ मे हुआ था। लेखक के पूर्व प्रकाशित उपन्यास "ककाल" मे यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य आदर्शवाद का पोषण न होने की दृष्टि से उल्लेख्य था। यह एक विशिष्ट तथ्य है कि "तितली" का स्थान भी उसी की परम्परा मे है। इस उपन्यास मे भारतीय ग्राम्य और नागरिक जीवन की पृष्ठभूमि मे कुछ पारिवारिक समस्याओ को उठाया गया है। इसकी कथा मे ग्राम-सुधार आदि की भावनाएँ भी मिलती है, जो प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यासो की सुधारवादी भावना से साम्य रखती है। इस कारण से "तितली" का यथार्थवादी

स्वर भी हल्का पड गया है। उपन्यास की कथा के सगठन मे उस तत्व का अभाव है, जिसकी 'ककाल' मे प्रधानता थी। इन्ही कारणो से यह भ्रम होता है कि यह उपन्यास उस आदर्शवादी उपन्यासो की परम्परा मे आने वाली कृति है, जो भारतेन्दु-युगीन उपन्यासकारो द्वारा आविर्भूत होकर परवर्ती युगो मे प्रशस्त हुई।

भारतीय आदर्श-भावना और ग्राम-सुधार के दृष्टिकोण को भी इसमे देखा जा सकता है। परन्तु यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इस प्रकार की कथा-वस्तु को आधार-रूप मे ग्रहण कर जो उपन्यास लिखे गये, उनका प्रसार प्रेमचन्दोत्तर युग तक है।

"तितली" का कथानक भी कई धाराओ मे विभाजित होकर विकसित हुआ है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि इसमे भी दो प्रधान कथा-सूत्र है। विविध स्थलो पर इन दोनो प्रधान-सूत्रो मे अनेक सहायक कथा-सूत्र विभिन्न प्रासगिक कथाओ का आधार लेकर समावेशित होते चलते है। परन्तु घटनाओ का जो बाहुल्य और वैचित्र्य ककाल मे मिलता है, इसमे वह कुछ भिन्न रूप मे है, यद्यपि इसमे प्रासगिक और गौण कथाओ के प्रति उदासीनता प्रकट की गई लगती है।

"तितली" मे 'बजो' (तितली) और 'मधुआ' (मधुवन) के चरित्र की प्रधानता उपन्यास के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक है। यही कथा के प्रधान सूत्र का आधार है। कथा का दूसरा सूत्र 'इद्र देव' और 'शैला' से सम्बन्ध रखने वाले अश को लेकर विकसित होता है, जिसमे उपन्यासकार ने पूर्व-कथा का परिचय स्पष्टता के लिए दिया है। 'श्यामदुलारी', 'अनवरी', 'सुखदेव', 'राजो', 'मैना', 'रामजस' तथा 'श्यामलाल' आदि पात्र सहायक कथा-सूत्रो के आधार है। उपन्यास की कथा के मध्य भाग के पश्चात् उसमे अतीव गतिशीलता आ जाती है। कथा का अन्त अनेक नाटकीय मोडो के पश्चात् 'तितली' और 'मधुवन' के मिलन से होता है।

हिन्दी उपन्यास मे कथा-शिल्प के क्षेत्र में जो क्रमिक विकास हुआ है, वह उसकी प्रगति रेखा को स्पष्ट करता है। हिंन्दी उपन्यास विकास के प्रथम दो युगो मे कथा-शिल्प के रूपो की दृष्टि से जो नवीनता मिलती है, वह एक महान कथा परम्परा के शिल्प-रूपो के प्रभाव के फलस्वरूप ही, अवश्य ही इस कथन का यह अर्थ नही कि इन युगो मे कभी हिन्दी उपन्यास ने स्वय अपने रूप-निर्माण और शिल्प के क्षेत्र मे कोई प्रयत्न नही किया। इसका तात्पर्य केवल इतना ही समझना चाहिये कि हिंदी उपन्यास की पूर्व कथा-परम्परा बहुत विस्तृत थी। इसलिये उसकी विविध प्रवृत्तियो मे शिल्पगत इतनी अनेकरूपता मिलती है कि उसका प्रभाव भावी विकास-युगो पर उतनी विशदता ही से पडा।

कथा-तत्वो के विकास और परिवर्तन की दृष्टि से यह बात स्वीकार की जानी चाहिये कि जहाँ इस युग का पूर्ववर्ती उपन्यास-साहित्य घटना प्रधान होता था और

उसमे पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ के उद्घाटन का प्रयत्न बहुत कम किया जाता था, वहाँ इस परवर्ती युग के उपन्यास साहित्य के विषय मे यह सत्य नही है। पूर्व-युगो के उपन्यासो मे लेखक अपनी दृष्टि केवल उपन्यास के कथानक पर रखता था, पात्र-तत्व को गौण समझ कर। इसी कारण उन उपन्यासो मे कथानक की बोझिलता इस सीमा तक बढ जाती थी कि न तो उसका निर्वाह हो पाता था और न चरित्र-चित्रण तथा अन्य तत्वो मे कलात्मकता का समावेश होता था, इसलिये उनमे कथा-शिल्प के नवीनतर रूपो के स्थान पर एक ही ढाँचे के दर्शन सब स्थानो पर होते है। इस परवर्ती युग के उपन्यासो मे कथानक, पात्र तथा अन्य तत्वो में जो सतुलन परिलक्षित होता है, वह इस दृष्टि से औपन्यासिक उपलब्धि का परिचायक है।

प्रसाद का कहानी-साहित्य

अभया गोयल

अपरूप सौन्दर्य के स्रष्टा कवि तथा सास्कृतिक गरिमा के चित्रण मे सिद्धहस्त नाटककार होने के साथ ही प्रसादजी का व्यक्तित्व कथाकार के रूप मे भी उतना ही सचेतन और प्रभादीप्त है। उसका महत्त्व इस दृष्टि से भी अधिक है कि कहानीकार प्रसाद मे यत्र-तत्र कवि का सहज भावुक स्वरूप भी उभरा है, नाटककार का नाट्य-कौशल भी और दार्शनिक तत्ववेत्ता का गम्भीर चिन्तन भी। इस समन्वित योगदान ने उनके कहानीकार रूप को एक विशिष्टता और कला को अधिक मौलिकता तथा विलक्षणता प्रदान कर दी है। यो समग्र रूप से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जीवन की शाश्वत भावनाओ के कलाकार है, सामयिकता का चित्रण उनमे उतना नही है। इसलिए प्राय ऐसा भासित होने लगता है कि कहानीकार प्रसाद पलायनवादी है, उनकी कहानियाँ जीवन के लिये उपादेय न होकर, केवल कल्पना-विलास की वस्तु है और काव्य की श्रीसुषमा से युक्त भावो की विशद मजूषा मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि उनके कहानी-साहित्य मे विशिष्टता अवश्य है किन्तु पलायन न प्रसादजी की प्रकृति मे था और न उनकी कला मे प्रकट हुआ है। ऐसा भासित होने का मूल कारण सभवत स्वय उनके व्यक्तिगत सस्कारो मे सन्निहित है। अपने शैशव मे प्रसादजी ने आभिजात्य का सम्पूर्ण गौरव देखा था पर वय की चढती वेला मे उन्हे अनेक सघर्षों और सासारिक विषमताओ से टकराना पडा। इसके फलस्वरूप यद्यपि उनका जीवन एक अविराम गति, एक माधुर्यपूर्ण अवसाद के रूप मे परिणत हो गया किन्तु 'व्यथा की नीली लहरो' के बीच भी द्युतिमान सुख-मणियो का दर्शन करने वाले प्रसाद ने निराशावादी होने की अपेक्षा हर कष्ट को हँस कर सहा, हर आघात को सस्मित स्वीकार किया और अतस् के आलोडन को छिपाकर, साहित्य मे सुखद चित्र ही अधिक प्रस्तुत किये जो निर्बाध कल्पना के कारण कही धरती से दूर और कही वैभव के प्रसन्न वातावरण के कारण अधिक चटकीले जान पडते है। कहानियो के अन्तर्गत कल्पनामय चित्रो, ऐश्वर्यपूर्ण दृश्यो की बहुलता और अभिजातवर्गीय भाषा का रहस्य उनकी इस सतुलित मनोवृत्ति एव कवि सुलभ सहज भावुकता के पीछे खोजा जा सकता है। जिस अविराम सघर्ष को प्रसादजी ने झेला था और जिस आधुनिक विषमता से उनका साक्षात्कार हुआ था, साहित्य मे भी उसका यथातथ्य निरुपण करके, उसे इतिवृत्तात्मक धूमिल पोर्ट्रेट' के रूप मे प्रस्तुत करना सभवत उन्हे प्रिय नही था। आनन्द की निरन्तर

प्राप्ति और जीवन मे उसका प्रतिफलन ही उनका सबसे बडा सुख और सबसे महत् सन्देश था । "इरावती" मे एक पात्र के माध्यम से इसी धारणा का स्पष्ट निरूपण है—

"हाँ मेरी विचारधारा पगु नही, उन्मुक्त नील आकाश की तरह विस्तृत सब को अवकाश देने के लिये प्रस्तुत । चारो ओर आनन्द की सीमा मे प्रसन्न और वह प्रसन्नता प्रत्येक अवस्था मे रहने वाले प्राणी के विरुद्ध न होगी । .. विश्व का उज्ज्वल पक्ष अधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दीख पडे, सब को आलिंगित करके आत्मा का आनन्द, स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे, यह स्थिति क्या अच्छी नही ?"

यह स्वय प्रसाद का जीवनादर्श है और उनका जीवन-सन्देश, अत उनके साहित्य के अन्तर्गत सामग्री का चिंतन-मनन इसी के परिपार्श्व मे करना वाछनीय है । कहानी साहित्य का मूल्याकन भी इसी की पृष्ठभूमि मे अपेक्षित है । इसका कारण है कि किसी भी साहित्यकार का कृतित्व उसके अपने व्यक्तित्व, रुचि तथा परम्परागत सस्कारो पर बहुत कुछ निर्भर है । इस दृष्टि से प्रसादजी का व्यक्तित्व बिविधपक्षीय है । काव्यकार की दृष्टि से तो उनके व्यक्तित्व का प्रतिरूप है— "शात गभीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गो को दबा कर धूप मे मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झझा और विद्युत् को हृदय मे समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है ।[2]" इसी कारण उनके काव्य मे जो कुछ है, सब प्रच्छन्न रूप मे है । युग के प्रति असन्तोष अथवा उसकी विषमताओ को भी बाडव की तरह हृदय मे दबा कर, उन्होने काव्य मे आनन्द के सुन्दर मोती ही भेट किए हैं । नाटककार के रूप मे उनका व्यक्तित्व अपेक्षाकृत मुखर है क्योकि अपने नाटको मे उन्होने अतीत को माध्यम बनाकर, उसमे युगीन समस्याओ का प्रतिफलन किया है । कहानीकार की दृष्टि से उनका व्यक्तित्व बहुरगी है जिसने कही प्रणय-पुलक को दुलराया है, कही सवेदना के सजल कणो को बिखराया है और यथार्थोन्मुख कहानियो को छोड कर सर्वत्र सूक्ष्म रूप मे ही सामयिक चेतना की अभिव्यजना की है । इन समस्त विशिष्टताओ के कारण कहानीकार प्रसाद की पूर्ण समता हिन्दी साहित्य मे कही नही खोजी जा सकती । उनकी कहानियो मे जो 'प्रसादत्व' है उसी के कारण उनके नाम के पीछे भी प्रेमचन्द के समान किसी स्कूल की परम्परा नही जुड सकी, यद्यपि आशिक रूप मे उनकी शैली के अनुकरण का प्रयास हुआ अवश्य ।

हिन्दी कहानी-क्षेत्र मे प्रसादजी के अवतरण से पूर्व "सरस्वती" का प्रकाशन प्रारम्भ हो चुका था और कहानी की धारा तीव्र वेग से आगे बढ रही थी । जीवन की व्यस्तता और सघर्ष उत्तरोत्तर वृद्धि पर थे । ऐसी स्थिति मे अवकाश के क्षण

१—"इरावती" पृष्ठ १०४ ।

२—डा० नगेन्द्र, "आधुनिक हिन्दी नाटक', पृष्ठ ७

स्वत ही सिमट रहे थे और विस्तार पूर्ण उपन्यासो के स्थान पर छोटी कहानियो के प्रति जनता की रुचि विशेष रूप से बढ रही थी। सन् १९०९ मे प्रसादजी की प्रेरणा से प्रकाशित "इन्दु" पत्रिका ने इस दिशा मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। "सरस्वती" मे प्रकाशित कहानियो की परम्परा इसके द्वारा और अधिक पुष्ट हुई। "सरस्वती" की प्रारम्भिक कहानियो को आख्यायिका के नाम से अभिहित किया गया था क्योकि इनकी शैली प्रधान रूप से वर्णनात्मक थी और स्वरूप कहानियो के समान न होकर आख्यायिकाओ के अधिक निकट था - ऐसे समय "इन्दु" ने विशेष रूप से कहानी की एक नवीन धारा का सूत्रपात किया। इस क्षेत्र मे प्रसादजी का आगमन "इन्दु" के द्वारा ही हुआ। उनकी सर्वप्रथम कहानी 'ब्रह्मर्षि' इसमे अप्रैल १९१० ई० (किरण ९, चैत्र स० ६७) मे तथा दूसरी कहानी 'पचायत' (कला २ किरण १, श्रावण ६७) मे प्रकाशित हुई। उनकी प्रथम उल्लेखनीय कहानी 'ग्राम' का प्रकाशन इसमे सितम्बर १९१० के अक मे हुआ। इस कहानी मे सर्वप्रथम जीवन का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। क्रम-विकास की दृष्टि से प्रसादजी के कहानी-साहित्य मे तीन सोपान अत्यन्त स्पष्ट है। उनके प्रारम्भिक कहानी-सग्रह "छाया" (१९१२) तथा "प्रतिध्वनि" (१९२६) काव्यात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित है। इनमे सगृहीत कहानियो मे कथावस्तु कम और भावात्मकता अधिक है, अत वे कहानी की अपेक्षा गद्यगीत तथा रेखा-चित्र अधिक हो उठी है। जिस प्रकार प्रारम्भ मे कोई निश्चित लक्ष्य न होने के कारण "चित्राधार" व "झरना" आदि की कविताए — प्रेम, भक्ति, दर्शन आदि विभिन्न प्रवृत्तियो को ग्रहण करके लिखी गई, उसी प्रकार कोई सुनिश्चित आदर्श सम्मुख न होने के कारण इन कहानियो की रचना भी प्रयोग रूप मे हुई। इनमे युगीन सकेत अत्यन्त अस्फुट रूप मे प्राप्त होते है। अब तक की कहानियाँ प्रमुख रूप से घटना प्रधान और इतिवृत्तात्मक होती थी किन्तु प्रसादजी ने सर्वप्रथम भावात्मक कहानियो का सूत्रपात किया, जिनमे बौद्ध दर्शन का अधिक प्रभाव होने के कारण, उत्सर्ग व करुणा की अत सलिला निरन्तर प्रवाहित है। सन् १९१६ मे हिन्दी-कहानी-क्षेत्र मे प्रेमचन्दजी का आविर्भाव भी एक युगातरकारी घटना है जिनकी कहानियो मे वस्तुतः एक युग सिमट आया है। प्रसाद से विपरीत अपनी प्रारम्भिक कहानियो मे वे अधिकतर सुधारवादी और उपदेशक रहे, साथ ही उनमे आदर्श का पूर्ण प्रस्फुटन है। प्रसादजी का तीसरा कहानी सग्रह "आकाशदीप" सन् १९२९ ई० मे प्रकाशित हुआ, जिसमे १९२६ ई०से १९२९ ई०तक की 'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खडहर मे', 'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक' आदि उन्नीस कहानियाँ सगृहीत है। कहानी की दृष्टि से यह काल वास्तव मे मध्यम सोपान है क्योकि "आकाशदीप" में जहाँ एक ओर गतकाल की कहानियो की अस्पष्ट मोहमयी छाया है, वहाँ अनागत की कहानियो के यथार्थ की कलात्मक व सकेत-पूर्ण आयोजना भी। वस्तुत यह वह मध्यस्थल है जिसमे पूर्व-

निश्चित भावुकता का योग होने के साथ ही यथार्थ दृष्टि का अवतरण भी है। 'हिमालय का पथिक', 'कला', 'रूप की छाया' आदि कहानियाँ "प्रतिध्वनि" सग्रह के अधिक निकट है क्योकि कथावस्तु की सूक्ष्मता के कारण वे गद्य गीतो व रेखाचित्रो का आभास देती है। इसके उपरान्त तृतीय सोपान के अन्तर्गत "आँधी" (१९३१) एवम् 'इन्द्रजाल" (१९३६) सग्रह आते है, जिनमे जीवन का तलदर्शी अनुभव विद्यमान है। इस स्थल पर पहुँच कर प्रसाद की कवि-दृष्टि यथार्थ मे आवेष्ठित सामाजिक विभीषिकाओ और जीवन की कटुताओ की ओर भी सकेत करती है। उनके कलाकार मन पर हुई प्रचलित सामाजिक दुर्व्यवस्थाओ की तीव्र प्रतिक्रिया 'बेडी', 'मधुआ', 'घीसू' आदि कहानियो मे प्रकट हुई है, पर उसका रूप सर्वत्र सयमित है। इन वर्णनो मे वीभत्सता या उछृखलना कही नही है। अपनी रसवादी दृष्टि के अनुकूल अब तक कला के जो प्रतिमान प्रसादजी ने सुस्थिर किये थे, वे भी इनमे निखर कर आये हैं।

साहित्य के विविध क्षेत्रो मे अपनी प्रतिभा का दान देने वाले कलाकार से कहानी के क्षेत्र मे भी एकागिता की अपेक्षा नही की जा सकती। उनके साहित्य मे जीवन का बहुविध स्वरूप अपनी समस्त चेतना और अनुभूति लेकर उतरा है जिसमे धूप-छाँहमय जीवन के अनेक रग अत्यन्त सतुलित रूप मे पुरे हुए है। स्वभावत: कहानी के क्षेत्र मे भी विषय-वस्तु का वैविध्य दृष्टिगत होता है। उनकी कुछ कहानियाँ प्रेम को पाथेय बनाकर चली है, कुछ का केन्द्र-बिन्दु कोई भाव विशेष है और कुछ प्रतीकात्मक शैली मे लिखी गई है। कुछ कहानियो का आधार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है और कुछ सामाजिक विषमताओ से प्रेरित होकर लिखी गई है। इस प्रकार विषय के दृष्टिकोण से उनकी कहानियो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

पौराणिक कहानियाँ—'ब्रह्मर्षि' तथा 'पंचायत'—(चित्राधार) प्रसादजी की प्रारम्भिक कथा है जिनकी कथावस्तु पौराणिक आधार-भूमि पर सगठित है। अनेक सस्कृत ग्रथों व पुराणो आदि के मनस्वी अध्येता होने के कारण सभवतः उनकी रुचि प्रारम्भ मे पुराणो से सूत्र लेकर कथा-निर्माण के लिए बढी। इन दोनो ही कथाओ मे उत्तर-कालीन कलात्मक सौष्ठव और मार्मिकता का अभाव है, पर उनकी दीर्घ कहानी-माला के प्रथम पुष्प होने की दृष्टि से यह उल्लेखनीय अवश्य है।

प्रागैतिहासिक कहानी—'चित्रमदिर' (इन्द्रजाल) इसी कोटि की कहानी है जिसमे प्रसाद की कल्पना काल की दीर्घ सीमा पार कर, अतीत के उस छोर पर पहुँच गई है, जहाँ मानव-सभ्यता अपनी सुप्तावस्था मे थी और भावनाओ की अभिव्यक्ति से अनभिज्ञ मनुष्य जडवत् था। एक दिन अकस्मात् प्रकृति के नाना व्यापारों से उद्वेलित होकर नारी की आँखो मे आँसू और अधरो पर हँसी फूट पडी और इस प्रकार मानव ने सर्वप्रथम सुख और दुख की प्रधान अनुभूतियो की अभिव्यजना सीखी।

कथा-वस्तु लघु है किन्तु उसका सयोजन कलात्मक रूप मे हुआ है। इस प्रकार की कहानियाँ हिन्दी साहित्य मे एक-दो ही लिखी गई। 'चित्र मन्दिर' को श्री रायकृष्णदास रचित कहानी 'अन्त पुर का आरम्भ' के समकक्ष रखा जा सकता है।

भाव-प्रधान कहानियाँ—प्रसादजी की अधिकाश भाव-प्रधान कहानियाँ "प्रतिध्वनि" मे सग्रहीत है। "छाया" की कहानियो के बाद सभवत उनकी रुचि कहानी के क्षेत्र मे नवीन प्रयोगो की ओर झुकी जिसके फलस्वरूप उन्होने अनेक भावचित्र और रेखाचित्र प्रस्तुत किये। शिल्प-विधान, विषय आदि की दृष्टि से यह प्रयोग तत्कालीन स्थिति मे अनूठा था। इस प्रकार की कहानियो मे न कथा-वस्तु का विस्तार होता है और न चरित्र-चित्रण का आग्रह, प्रत्युत कहानीकार एक भाव विशेष पर ही अपनी अनुभूति केन्द्रित करके, एक भावमय चित्र प्रस्तुत कर देता है। प्रसादजी इस कला मे सिद्धहस्त थे। वैविध्य पूर्ण जीवन से किसी एक भाव, स्थिति अथवा भगिमा को ग्रहण कर, उसे शब्दो मे बाँध लेना उनके लिये सहज कार्य था। "प्रतिध्वनि" की अधिकाश कहानियाँ—'प्रसाद','अघोरी का मोह','पाप की पराजय', 'करुणा की विजय', 'दुखिया','कलावती की शिक्षा','सहयोग' एव 'प्रतिमा' इसका उदाहरण है। "आधी" की 'अमिट स्मृति' भी इसी वर्ग की कहानी है। ये सभी कहानियाँ कहानी-कला की दृष्टि से पूर्ण प्रतीत नही होती क्योकि इनमे कथानक का सर्वथा नही तो पर्याप्त अभाव है।

प्रतीकात्मक कहानियाँ—हिन्दी-साहित्य मे प्रतीकात्मक कहानियो की सख्या अत्यन्त अल्प है और वे भी प्रयोग रूप मे लिखी गयी है। इन कहानियो मे वर्णित कथावस्तु के अतिरिक्त एक रूपक भी चलता है और वर्ण्य वस्तुएँ अथवा पात्र प्रतीक रूप मे प्रस्तुत किए जाते है। वास्तव मे उनके द्वारा परोक्ष रूपक की ही व्यजना होती है। "प्रतिध्वनि" प्रसाद की प्रयोग-कालीन कहानियो का सग्रह है जिसकी अनेक कहानियाँ गद्यकाव्य तथा प्रतीकात्मक कहानियो के निकट की वस्तु है। इसमे सगृहीत 'गूदड-साईं','पत्थर की पुकार' और 'प्रलय' के अतिरिक्त 'आकाशदीप' सग्रह की 'कला', 'वैरागी' और 'ज्योतिषमती' भी प्रतीकात्मक कहानियाँ है। प्रतीक-योजना तथा निर्वाह की दृष्टि से 'प्रलय' और 'कला' प्रौढ व सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ है जिनमे आद्योपात रूपक का सफल प्रतिफलन है।

'प्रलय' पर शैव-दर्शन का प्रभाव है तथा इसका नायक युवक व नायिका युवती, क्रमश शिव व शक्ति अथवा पुरुष व प्रकृति (ब्रह्म तथा माया) के प्रतीक हैं। सृष्टि के विघटन के उपरान्त, प्रलय की भयावह पृष्ठभूमि मे पुरुष और प्रकृति के सयोग के दार्शनिक सत्य को ही कहानी के रूप मे सगठित किया गया है। इसमे परवर्ती महाकाव्य कामायनी की भूमिका का भी आभास मिलता है।

'कला' कहानी में रूपनाथ बाह्य सौन्दर्य, रसदेव आन्तरिक सौदर्य

तथा नायिका कला स्वय कला की प्रतीक है। रूपनाथ कला के बाह्य सौन्दर्य का अकन करके प्रचुर यश व अर्थ की प्राप्ति करता है किन्तु रमदेव एकात वातावरण मे निरन्तर कला की मूक व आन्तरिक साधना करता है और अन्तत एक दिन कला को स्वरचित पद पर नृत्य करते देखकर, हर्ष-विभोर हो जाता है। वास्तव मे बाह्य अलकरण तथा कृत्रिम रूप-सज्जा से कला का स्वरूप उतना नही सँवरता जितना वह रस के पूर्ण परिपाक से निखरता है। रस ही कला का मूल व अतर्निहित तत्व है जिसके द्वारा कला को नवोन्मेष प्राप्त होता है। कहानी मे इसी तथ्य की व्यजना प्रतीक रूप मे की गई है।

'ज्योतिष्मती' भी एक सफल प्रतीकात्मक कहानी है जिसमे युवती सभवत: प्रबुद्ध, चेतन आत्मा और ज्योतिष्मती ब्रह्म का प्रतीक है। साहसिक अनुमानत: वासनायुक्त आत्मा के रूप मे प्रयुक्त हुआ है, जिसके लिए ब्रह्म की प्राप्ति स्वप्नवत् है।

शेष प्रतीकात्मक कहानियो की प्रतीक-योजना उतनी सुन्दर व स्पष्ट नही है। अनुमान के आधार पर भी 'वैरागी', 'गूदड साई' और 'पत्थर की पुकार' के प्रतीको के सम्बन्ध मे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। 'पत्थर की पुकार' कथानक-शून्य गद्यकाव्य और 'गूदड साई' रेखाचित्र की कोटि की रचनाएँ है।

प्रेममूलक स्वच्छदतावादी कहानियाँ—वैसे तो काव्य के समान प्रसादजी की अधिकाश कहानियो मे प्रीति की धारा अप्रतिहत गति से प्रवाहित है किन्तु कुछ कहानियाँ केवल प्रेम को ही आधार बनाकर चली हैं और इस प्रकार यौवन की ऊष्मा से आपूर्ण, विशुद्ध प्रेम कहानियाँ है। "छाया" सग्रह की 'चन्दा', 'रसिया बालम', 'मदन-मृणालिनी', "आकाशदीप" सग्रह की 'सुनहला साप', देवदासी', 'चूडी वाली', 'अपराधी', 'बिसाती' और 'आधी' सग्रह की 'आधी' 'ग्राम गीत' ऐसी ही कहानियाँ है। इनमे से कुछतो वस्तुत: रोमास की कोटि मे आती है। अवास्तविक वातावरण, साहस व जीवट की प्रधानता, अद्भुत घटनाएँ, वर्तमान सघर्षो से पलायन और उद्देश्य—प्रेम, ये रोमाँस की विशेषताएँ है। 'चदा', 'रसिया बालम', 'सुनहला साप', 'देवदासी', 'अपराधी' तथा 'आधी' रोमास अथवा स्वछदतावादी कहानियाँ है जिनमे अत्यन्त अस्त-व्यस्त क्षणो की भयावहता मे भी प्रणय के फूल महक उठे है और विषम परिस्थितियो मे भी अन्तम् की स्निग्ध आशा-आकाक्षा के स्वप्न मचल रहे हैं। रसिया बालम फारसी की शीरी—फरहाद और लैला-मजनू जैसी प्रेम-कथाओ से अधिक साम्य रखती है। प्रारम्भिक कृति होने के कारण यो भी इसमे प्रेम का अपरिपक्व रूप दृष्टिगत होता है। 'चदा' भी इसी कोटि की कहानी है जिसमे नायक-नायिका का प्रेम, रक्त व मृत्यु की छाया मे पलता है। रोमास के विषय में स्टीवेंसन की उक्ति—'परिस्थितियो का काव्य' (Poetry of circumstances) इन पर अक्षरश चरितार्थ होती है। 'मदन-मृणालिनी', 'चूडी वाली' तथा 'अपराधी' मे प्रसाद ने त्याग-समन्वित प्रेम का

आदर्श उपस्थित किया है ।

परिणाम की दृष्टि से इस वर्ग की अधिकाश कहानियाँ दुखात है और वे ही अधिक मार्मिक भी है। 'देवदासी', 'अपराधी'. 'आँधी' और 'बिसाती' इस दृष्टि से उत्कृष्ट कहानियाँ है जो मर्म को छूकर समाप्त हो जाती है। 'आँधी' कहानी के अन्त मे लैला को चिर आकुल आत्मा ने मृत्यु की छाया मे विश्राम पाया है और 'बिसाती' मे शीरी की आसू भरी आखो ने अपनी व्यग्र वेदना बुलबुल के बहाने छिपाई है। इस प्रकार दुखात ने इन कहानियो को अधिक प्रभावशाली बना दिया है ।

ऐतिहासिक कहानियाँ—ऐतिहासिक कहानीकार के रूप मे प्रसादजी विशेष रूप से स्मरणीय है क्योकि इस प्रकार की कहानियो मे उन्होने विगत जीवन के विशृखल सूत्रो को कुशलतापूर्वक कल्पना से सरस बनाकर प्रस्तुत किया है। 'पुरस्कार', 'सालवती', ममता', 'आकाशदीप' आदि कहानियाँ इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके प्रथम सग्रह "छाया" मे ही सात ऐतिहासिक कहानियाँ 'तानसैन', 'शरणागत', 'सिकन्दर की शपथ' आदि सगृहीत है। "प्रतिध्वनि" मे 'खडहर की लिपि' व 'चक्रवर्ती का स्तभ' और "आकाशदीप" मे 'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खडहर मे', "आधी" सग्रह मे 'दासी', 'पुरस्कार', 'व्रतभग' और "इन्द्रजाल" मे सगृहीत 'नूरी', 'गुडा', 'देवरथ' तथा 'सालवती' भी इसी वर्ग के अतर्गत है ।

ये समस्त ऐतिहासिक कहानियाँ ऐतिहासिकता की दृष्टि से वस्तुतः तीन प्रकार की है—शुद्ध ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक और किंचित् ऐतिहासिक। इनमे से प्रथम कोटि की कहानियाँ वे है जिनमे ऐतिहासिक सत्यो की प्रचुरता है और उनमे वर्णित घटनाओ व प्रसगो का स्वय इतिहास साक्षी है, यथा 'सिकन्दर की शपथ', 'चित्तौर-उद्धार', 'अशोक', 'गुलाम', 'जहानारा', 'नूरी' आदि। अर्ध ऐतिहासिक कहानियो की श्रेणी मे 'शरणागत', 'चक्रवर्ती का स्तभ', 'ममता', 'स्वर्ग के खडहर मे', 'दासी' 'व्रतभग', 'गुण्डा' व 'देवरथ' है, इन कहानियो की घटनाएँ यद्यपि पूरी तरह इतिहास-सापेक्ष नही है किन्तु वे इतिहास से सबद्ध अवश्य है क्योकि इतिहास के विराट् रगमच पर ही उनका निर्माण हुआ है। 'शरणागत' मे वर्णित सन् १८५७ की क्राति ऐतिहासिक घटना है। इसी प्रकार 'ममता' मे मुगल सम्राट हुमायू और शेरशाह का पारस्परिक विद्वेष भी ऐतिहासिक सत्य है। ममता के प्रसग को इसमे कुशलतापूर्वक जोडकर प्रसाद ने एक मार्मिक कहानी की अवतारणा की है। सम्भवत इस प्रसग को उन्होने किसी ऐतिहासिक किवदती से ग्रहण किया था अथवा स्थानीय लोक-प्रचलित किसी कथा से। इसी प्रकार गुण्डा भी अर्ध-ऐतिहासिक रचना है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का विचार है कि कथा मे इतिहास के मिल जाने से जो एक विशेष रस उत्पन्न हो जाता है, कथाकार उसी रस के इच्छुक होते है। प्रसाद की ये कहानियाँ इसी प्रकार के ऐतिहासिक रस से आवेष्ठित है। तृतीय श्रेणी के अतर्गत वे कहानिया है

जो ऐतिहासिक तथ्यो से शून्य होने पर भी ऐतिहासिक वातावरण से सयुक्त है—'खडहर की लिपि', 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' ऐसी ही कहानियाँ है। इनकी सृष्टि मे कल्पना तथा भावुकता का विशेष योग है।[1] यद्यपि 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' ऐतिहासिक तथ्यो से रहित, हृदय की स्निग्ध भावनाओ की मधुरतम अभिव्यक्ति है किन्तु ऐतिहासिक वातावरण मे पूरी तरह घुल-मिल जाने के कारण ऐतिहासिक ही प्रतीत होती है, वस्तुत: इन्हे ऐतिहासिक रोमास भी कहा जा सकता है।

इन समस्त कहानियो की कथा-वस्तु का प्रसार दीर्घ काल-सीमा मे हुआ है। ये कहानियाँ बौद्ध-काल से लेकर सन् १८५७ तक की क्राति का समय अपने आँचल मे समेट कर चलती है। काल की दृष्टि से इनमे बौद्ध-युग, मौर्य-युग, मुगल-युग तथा राजपूत-युग का समावेश है। भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग ही प्रसादजी की दृष्टि को अधिक प्रभावित कर सका था इसीलिए उन्होने अन्य युगो को छोड कर अपनी प्रतिभा के द्वारा उसी की उज्ज्वल गरिमा का साहित्यिक अभिषेक किया है। बौद्ध-काल, मौर्यकाल व गुप्तकाल ही वे युग हैं जब भारतीय संस्कृति चरम उन्मेष की गरिमा से मडित थी। 'अशोक', 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' और 'सालवती' बौद्ध-युग से सम्बधित है। 'सिकदर की शपथ', 'खडहर की लिपि', 'चक्रवर्ती का स्तभ' तथा 'व्रतभग' मौर्यकालीन और 'गुलाम', 'जहाँनारा', 'ममता', 'स्वर्ग के खडहर मे', 'देवरथ', 'दासी' तथा 'नूरी' मुगलकाल की कहानियाँ हैं। राजपूत-युग प्रसाद को अधिक आकृष्ट नही कर सका था, इसीलिये उससे सबद्ध केवल एक ही कहानी—'चित्तौर-उद्धार' उपलब्ध होती है। 'शरणागत' की कथावस्तु १८५७ ई० की क्राति और 'गुण्डा' की विषय-सामग्री अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध से ग्रहण की गई है।

प्रसादजी के नाटको मे कहानियो की अपेक्षा ऐतिहासिकता का निर्वाह अधिक है क्योकि कहानियाँ ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि पर रची जाने पर भी अपने मूल मे करुणा, उत्सर्ग तथा प्रेम का लक्ष्य छिपाए है। प्रसाद-साहित्य की मूल चेतना प्रेम होने के कारण उनकी अधिकाश ऐतिहासिक कहानियाँ भी इससे अछूती नही हैं और उनमे प्रेम के विभिन्न स्वरूप अपने समस्त गाभीर्य और सरसता को लिए उपस्थित है। 'आकाशदीप','पुरस्कार','सालवती','स्वर्ग के खडहर मे','देवरथ','नूरी' तथा 'दासी' मे प्रणय की मृदुलतम अभिव्यक्ति है;'आकाशदीप' और जहानारा' मे पितृ-प्रेम का सुन्दर

१—ऐतिहासिकता मे कल्पना का प्रवेश एक प्रकार का 'प्रत्यभिज्ञान' है जिसमे भावुकता का अश कही न कही अवश्य रहता है। इस प्रत्यभिज्ञान के जग जाने पर कलाकार के आत्मपरितोष के लिए तथा कृतित्व की नई उपलब्धि के लिये अनंत द्वार खुल जाते है। —डा० जगदीश गुप्त,
'इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार',आलोचना,"उपन्यास विशेषाँक" अक्टूबर १९५४, पृष्ठ १७८

निर्वाह है और दूसरी ओर 'चित्तौर-उद्धार','पुरस्कार','दासी' व 'गुण्डा' मे राष्ट्र-प्रेम की प्रेरक अभिव्यजना है। प्रेम का सबल लेकर ये ऐतिहासिक कहानिया भी सवेदनशील बन गई है, अत. उनमे कठोर पाषाण-खण्डो के समान शुष्क ऐतिहासिक तथ्यो की विवेचना नही वरन् अतीत के कुछ प्रसगो की पृष्ठभूमि मे मानवता का रसपूर्ण उद्घोष है।

इनमे से कई कहानिया ऐसी भी है जो एक युग तथा उसकी सस्कृति को मूर्त्त रूप से उपस्थित करती है–जैसे 'पुरस्कार','देवरथ' और 'सालवती'। दो-एक कहानियो में ऐतिहासिक सत्यो का अतिक्रमण भी है किन्तु उनकी प्रौढ कृतियाँ— 'पुरस्कार', 'आकाशदीप','गुण्डा','सालवती' आदि प्रसाद-साहित्य की ही सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ न होकर स्वय हिन्दी साहित्य की सर्वोत्तम कहानियो मे से है। कवि-हृदय की कल्पना, पुरातत्व-वेत्ता की पर्यवेक्षण बुद्धि और कथाकार की सृजनात्मक प्रतिभा के समन्वित उपकरणो से इनका निर्माण हुआ है।

यथार्थोन्मुख कहानियाँ—'आँधी' और 'इन्द्रजाल' तक आते-आते प्रसादजी की कला अधिक जीवन्त एव दृष्टि अधिक तथ्य-परक हो गई थी। यहा आकर उनकी आकाशगामी कल्पना को मानो धरा के अभावपूर्ण दैन्य ने पुकार लिया है और उनकी भावुकता ने यथार्थ जीवन की विषमताओ को आत्मसात् कर लिया है। सुन्दरम् की मीठी धुन के स्थान पर इस वर्ग की कहानियो मे सत्य और शिव का अक्षय शखनाद है इसीलिये वे 'स्वर्ग के खडहर मे', 'रमला', 'समुद्र-सतरण' आदि की भाँति दिग्भ्रम उत्पन्न नही करती, दिवा-स्वप्न दिखलाने का भी प्रलोभन नही देती, वरन् दिशा-इगित करके, सुप्त चेतना को झकझोर कर छोड देती है। 'मधुआ', 'बेडी', 'छोटा जादूगर','घीसू','नीरा','विराम चिन्ह आदि इसका श्रेष्ठ प्रमाण है। इन्हे देखकर ही यह अनुभूति होती है कि प्रसादजी ने समाज रूपी सागर के तट पर बैठकर केवल लहरो को ही नही गिना वरन् उनमे प्रवेश करके उसके उद्वेलन और हलचल की खोज भी वे कर आये है। उनकी यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति प्रारम्भिक कहानी ग्राम से ही स्पष्ट है जो जमीदार के अत्याचारो से त्रस्त एक परिवार की करुण कथा है। प्रारभिक रचना होने के कारण यह अप्रौढ कृति है और यथार्थ चित्रण का प्रयास होते हुए भी इसमे विषयगत व शैलीगत कई त्रुटियां दृष्टिगत होती है। "प्रतिध्वनि" मे सगृहीत 'गुदडी मे लाल' व 'दुखिया', "आधी" की 'अमिट स्मृति' और "इन्द्रजाल" की 'परिवर्तन', 'सदेश' एवम् भिखारिन' कहानियाँ वस्तुतः पूर्ण रूपसे यथार्थवादी श्रेणी के अतर्गत न होते हुए भी यथार्थ की ओर उन्मुख अवश्य है। किसी न किसी रूप मे 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' इनमे सन्निविष्ट है। 'भिखारिन', 'प्रतिध्वनि' और 'आकाशदीप' सामाजिक कहानियाँ है जिनमे व्यग्य रूप मे सामाजिक विषमताएँ और दुर्वस्थाएँ इगित है।

प्रसाद जी ने अपने कथा-साहित्य मे समाज की सर्वतोमुखी समस्याओ को उठाया है, यह दूसरी बात है कि उसमे कल्पना व भावुकता का रग भी गहरा हो उठा है। उन्होने जिस युग मे जन्म लिया था, वह भारतीय समाज की ह्रासोन्मुख स्थिति का युग था। उन्होने अनेक सामाजिक सस्थाओ के विनाशकारी परिणामो को देखा था और विभिन्न समाज-सुधार सम्बन्धी आन्दोलन भी उनकी दृष्टि से निकल चुके थे। तत्कालीन भारतीय समाज कृत्रिम विधि-निषेधो मे बँध जाने के कारण, जड होकर अपनी स्वाभाविक गतिशीलता को खो चुका था। इसके विपरीत प्रसादजी का मत था कि समाज मनुष्यकृत एक परिवर्तनशील सस्था है। अपनी कहानियो मे उन्होने विभिन्न सामाजिक समस्याओ व जातीय विभेद, साम्प्रदायिकता आदि पर दृष्टिपात किया है। गाधी जी द्वारा प्रवर्तित हरिजन-आन्दोलन उनके जीवन-पर्यन्त चलता रहा। 'विराम-चिह्न' कहानी उसी से प्रेरित होकर लिखी गई है जिसमे राधे नामक अछूत के मन्दिर मे बलपूर्वक प्रवेश करने की घटना का चित्रण है। जातीय विभेद मे आस्था न होने के कारण 'मदन-मृणालिनी','आधी' व 'तानसेन' आदि कहानियो मे अस्फुट रूप से इस ओर सकेत किया गया है। साम्प्रदायिकता के प्रश्न को लेकर भी प्रसादजी ने 'सलीम' नामक कहानी की रचना की थी जिसका लक्ष्य मनुष्यता के उस पक्ष का चित्रण करना है जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य को प्यार करता है। 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' मे भी इस दूषित मनोवृत्ति की ओर सकेत है।

प्रसादजी के काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी—सभी मे नारी के विभिन्न स्वरूपो तथा द्वन्द्वो की समाज-सापेक्ष दृष्टि से व्यजना हुई है अत नारी-जीवन के उतार-चढाव, आशा-आकाक्षा, अनुराग-विराग, उल्लास और पीडा सभी का सम्मिश्रण उनके साहित्य मे उपलब्ध है। ऐसा लगता है कि वे युगीन सामाजिक परिस्थितियो का अवलोकन करके इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि नारी के जीवन मे सदैव वसत ही नही खिलता वरन् पतझड का सूनापन भी बहुधा वेदना की सृष्टि करता रहता है। यह सत्य है कि उन्होने अपने कहानी-साहित्य मे नारी के रूप-यौवन के मनोरम शब्द-चित्र दिये है, मीठी हँसी और चचल चितवन का रूप खडा किया है किन्तु साथ ही उसकी पीडा के मौन कोलाहल को भी वाणी दी है। प्रसाद ने जिस युग मे जन्म लिया था, उस समय नारी-जागरण की चेतना वातावरण मे अपना तीव्रतर प्रभाव घोलती जा रही थी। नारी की हीनावस्था और दीन दशा ने समाज के विवेक पर इतना गहरा आघात किया था कि वह पूर्ण रूपेण चैतन्य न होने पर भी, अपनी अर्धसुषुप्ति की अवस्था मे ही नारी-कल्याण के मगल-स्वप्न अवश्य देखने लगा था। ब्राह्मसमाज, प्रार्थना-समाज तथा आर्यसमाज द्वारा नारी शिक्षा और विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। प्रसादजी ने देखा था कि विधवा-विवाह निषिद्ध होने के कारण समाज अनेक दुष्परिणामो से ग्रस्त हो रहा है। 'आधी'' की 'विजया', ''आकाशदीप''

की 'प्रतिध्वनि', ममता', 'चित्तौर-विजय' और 'चित्र वाले पत्थर' ऐसी ही कहानियाँ है, जिनमे इस अभिशाप का सकेत है। प्रसाद को बलपूर्वक आरोपित सयम अथवा वैराग्य-भावना मान्य नही थी और न ही जीवन के स्वाभाविक प्रवाह को वे अप्राकृतिक रीति से मोडने के पक्षपाती थे, फलतः उन्होने सर्वत्र विधवा-विवाह का समर्थन किया है। कुछ कहानियो मे रूपाजीवा-समस्या का भी समावेश है। 'आधुनिक युग की सभ्य तथा सुसकृत परिस्थितियो मे वेश्यावृत्ति मनोवैज्ञानिक स्खलन व नैतिक पतन की प्रतीक है।' प्रसादजी इसे सामाजिक विकृतियो का ही परिणाम मानते थे और इसके समाधान-स्वरूप उनकी कहानियो मे आई लगभग सभी वारवनितायें—चूडी वाली, सालवती आदि कुलवधू की गरिमा को प्राप्त करने की आकांक्षिणी है।

नारी-जीवन की समस्याओ के अतिरिक्त प्रसादजी ने समाज से बहिष्कृत ऐसे प्राणियों पर भी दृष्टि डाली थी जिनका कोई सगठन नही, कोई पुकार नही और जो तिरस्कृत व दुर्बल है। भिक्षुक, अनाथ बालक, दरिद्र मद्यप, अज्ञातकुल-शील शिशु और कुली आदि ऐसे ही असहाय प्राणी है। इनकी विपन्नता मे भारतीय समाज के निम्न वर्ग की निर्धनता का प्रतिबिंब देखकर प्रसादजी की सवेदना यद्यपि शतधा होकर उमडी हे किन्तु बरसी है अपने स्वभावानुकुल सकेतो के विन्दु रूप मे ही। 'मधुआ', 'बेडी', 'अनबोला', 'छोटा जादूगर' और 'करुणा की विजय' मे क्रमश. मधुआ, बालक, जग्गैया, छोटा जादूगर और मोहन ऐसे पात्र है जो अनाथ और असहाय है, ससार जिन्हे हेय दृष्टि से देखता है। उनका शैशव ममता के आँचल की ओट मे छिप जाना चाहता है किन्तु जीवन-यापन की समस्या उन्हे विदग्ध करके, सघर्ष की भूमि पर लाकर खडा कर देती है। 'बेडी' कहानी की प्रेरणा प्रसादजी को एक प्रत्यक्ष घटना से मिली थी। यह कहानी समाज की व्यवस्था पर बडा गहरा व्यग है। भिक्षुक-वर्ग के जीवन की झलक भी इसमे और भिखारिन' आदि दो-एक कहानियो मे प्राप्त होती है। 'नीरा' कहानी मे एक प्रवासी कुली का चित्रण है जो कुली-वर्ग के शोषित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। अपनी जिस लेखनी से प्रसाद ने रूप व यौवन के मादक स्वरूप अकित किये, राजकुलो का आभिजात्य वर्णन किया और स्निग्ध भावनाओ के स्वप्न सजाये, उसी से उन्होने समाज के कुरूप पक्षो का भी यत्र-तत्र चित्रण किया है। नीरा मे ऐसा ही एक चित्र है—

"साइकिल के तीव्र आलोक मे झोपडी के भीतर का दृश्य दिखाई दे रहा था। बुड्ढा मनोयोग से लाई फाँक रहा था और नीरा भी कल की बची हुई रोटी चबा रही थी। रूखे ओठो पर दो-एक दाने चिपक गये थे जो उस दरिद्र मुख मे जाना अस्वीकार कर रहे थे। लुक फेरा हुआ टीन का गिलास अपने खुरदरे रग का नीलापन नीरा की आँखो मे उंडेल रहा था।"[1]

---

१ आँधी, पृष्ठ १०३

प्रसादजी की कहानियो मे सामयिक राजनीतिक आन्दोलनो के विस्तृत चित्रो का अभाव है क्योकि स्वतन्त्रता-सग्राम सम्बन्धी आलोडन का प्रभाव उनके हृदय पर पडा अवश्य किन्तु साहित्य मे उसकी प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष रूप मे न होकर परोक्ष रूप मे प्रकट हुई। वस्तुतः अपने उपन्यासो व कहानियो मे वे समाज-नीति व धर्मनीति की सामयिक समस्याओ के चित्रण मे अधिक दत्तचित्त रहे। वैसे भी राजनीति प्रसादजी के स्वभाव मे नही थी और मानवतावाद के अतिरिक्त वे अन्य किसी भी रजनीतिक-वाद पोषक या समर्थक नही थे। फलत. केवल 'शरणागत', 'गुन्डा', 'पुरस्कार', 'नूरी' तथा 'छोटा जादूगर' ऐसी कहानियाँ है जिनमे देश-प्रेम सम्बन्धी चित्रण द्वारा परोक्ष रूप मे स्वतन्त्रता-सग्राम का प्रभाव आभासित होताहै।

इस प्रकार प्रसाद के कहानी-साहित्य मे सामयिक समस्याये भी है और युगीन परिस्थितियो का चित्रण भी, किन्तु जो कुछ है अधिकतर साकेतिक रूप मे। सामयिक समस्याओ से अधिक वे जीवन की शाश्वत भावनाओ के कलाकार थे अतः उनमे युगीन प्रश्नो का विस्तृत विवेचन कम और चिरतन वृत्तियो की अभिव्यक्ति अधिक है। सामयिक जीवन को अभिव्यक्त करने की विधा भी प्रसाद की अपनी है, उसमे उनका निजत्व और अनन्य मौलिकता है। उन्होने अपने युग के प्रश्नो को उठाया भी तो उनकी व्यजना अधिकतर परोक्ष रूप मे करके, उन्हे शाश्वतता का अधिक व्यापक धरातल प्रदान कर दिया। उनका युग इतने आलोडन-विलोडन का युग था कि उसमे सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य दोलायमान था अतएव यह तो अस्वाभाविक ही होता है कि प्रसाद के कथा-साहित्य मे एक हल्का सा कपन भी प्राप्त न हो। यह अवश्य है कि युग-जीवन के चित्रण मे उनकी तुलना प्रेमचन्द से नही की जा सकती। इसका कारण है कि जन-मन के कलाकार प्रेमचन्द केवल गद्यकार थे और उसी धरातल से उन्होने साहित्य रचना की थी।

गद्य मे जितनी भी भावुकता हो सकती है वह उनके साहित्य मे विद्यमान है किन्तु कवि का स्निग्ध कल्पना-विलास और तरल रसात्मकता गद्य के बौद्धिक स्तर पर वे कहाँ प्राप्त कर सकते थे। स्वभावत. उनमे वर्णनात्मकता अधिक है। उनकी 'उद्धार' कहानी मे दहेज-प्रथा पर दो पृष्ठो का भाषण दिलवाया गया है। वर्णनो का ऐसा विस्तार और सुधार-प्रचार की ऐसी आकाक्षा प्रसाद को ग्राह्य हो ही नही सकती थी। जो व्यक्ति अपने मूल रूप मे यौवन व प्रेम का कवि था, उससे जन-आन्दोलनों के विस्तृत चित्रो और सामाजिक समस्याओ पर दीर्घ भाषणो की अपेक्षा करना न्याय-सगत भी नही है। अपने उपन्यासो 'ककाल' व 'तितली' मे वे अवश्य इतने सयमित और तटस्थ नही रह सके है। उनमे प्रसादजी का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक व्यवहारिक तथा यथार्थवादी है किन्तु कहानियो मे बहुधा सामाजिक व्यग्य केवल ध्वनित होता है, उसका स्थूल रूप प्राय दृष्टिगत

नही होता।

जहा तक कहानी की टेकनीक का प्रश्न है, प्रेमचन्द टेकनीक के स्थान पर वस्तु को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे अतएव उनके कथा-साहित्य मे वस्तु का आग्रह अधिक प्रबल है। इसके विपरीत प्रसाद ने दोनो को समन्वय की दृष्टि से देखा था। एक बार उन्होने कहा था—

" मै विच्छेद को नही मानता—टेकनीक को विच्छिन्न करके क्यो देखा जाय। अविच्छिन्न ही रखिए, तभी कुछ उपलब्ध हो सकता है। यो पूछिये तो टेकनीक जैसी किसी चीज को मै नही मानता। मेरे सामने तो दो बाते रहती है—रसानुभूति और भाषा। रसावेग और शब्द-शक्ति का जब सयोग होता है, तो व्यजना के सहस्त्र-सहस्त्र प्रकाश फूट निकलते है। वस्तु और शिल्प, सत्य और सौदर्य यही एकप्राण होकर 'शिव' बन जाते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि अभिप्रेत वस्तु की अभिव्यजना के लिए उन्होने टेकनीक के पूर्व-निश्चित मापदण्डो को स्वीकार नही किया अत. उनकी कहानिया परम्परागत धारा से विलग प्रतीत होती है। कला के अतरग व बहिरग के मध्य प्रसाद ने जीवन का मर्म खोजा था और इस खोज मे उनकी मौलिकता व निजत्व अत्यत स्पष्ट रूप मे प्रकट हुये है। प्रारभिक काल मे जब उनकी कला प्रौढत्व को प्राप्त नही हुई थी, उन्होने अवश्य परम्परागत शिल्प-विधान और सस्कारो को ग्रहण किया। फलतः उस समय की कहानिया अव्यवस्थित वाक्य-विन्यास, व्याकरण की भूलो, शिथिल भाषा, लम्बे वाक्यो और प्रभावहीन कथावस्तु से युक्त है। 'चन्दा' कहानी मे कथोपकथन का स्वरूप इस प्रकार है—

उसने गम्भीर स्वर से युवती से पूछा—" चदा तू यहा क्यो आई ?"

युवती—"तुम पूछने वाले कौन हो ?"

आगंतुक युवक—"मैं तुम्हारा भावी पति 'रामू' हूँ।"[2]

सवाद शैली का यह अत्यन्त शिथिल रूप है जिसमे अनावश्यक वार्तालाप के द्वारा रामू का परिचय कराया गया है। प्रारम्भिक कहानियो मे सवादो का वह नाटकीय कौशल अप्राप्य है जिसने परवर्ती अनेक कहानियो मे असीम श्री-वृद्धि की। आकाशदीप ऐसी ही कहानी है जिसके प्रारम्भ ने कहानी मे एक आकर्षक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है—

"बन्दी ?"

"क्या है ? सोने दो।"

१—कुमार योगी, कहानी की जीभ हजार, नवनीत हिन्दी, डाइजेस्ट, फरवरी, १६६० पृष्ठ २७

२—छाया, पृष्ठ १२

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नही, निद्रा खुलने पर, चुप रहो ।"

"फिर अवसर न मिलेगा ।"[१]

इस सम्पूर्ण सलाप-योजना से एक गहन कुतूहल की सृष्टि होती है और पात्रो से परिचित होने की तीव्र जिज्ञासा पूरी कहानी पढने के लिए प्रेरित करती है । नूरी का आरम्भ भी इसी प्रकार हुआ है—

"ऐ ! तुम कौन ?"

" .. "

"बोलते नही ?"

" ..... "

"तो मै बुलाऊँ किसी को ?"· ·· ·[२]

'चूडी वाली','व्रतभग','मधुआ', 'रूप की छाया' भी इसी प्रकार की कहानियाँ है । कहानियो का यह नाटकीय प्रारम्भ और साकेतिक्त अन्त बडी स्वभाविक और प्रभावपूर्ण रीति से उनकी कहानियो मे प्रतिफलित हुआ है । 'पुरस्कार', 'बेडी', 'अलबेला', 'बनजारा', 'गुदडी मे लाल', 'गूदड साई' और 'बिसाती' का अन्त विशेष मार्मिक है । बिसाती कहानी का अन्त प्रसाद इस प्रकार करते है--

"बिसाती अपना सामान छोड गया, फिर लौट कर नही आया । शीरीं ने बोझ तो उतार लिया पर दाम नही दिया है ।"[३]

समसामयिक कहानीकारो मे कोई भी इस कौशल को इतने प्रभावपूर्ण ढग से ग्रहण व प्रस्तुत नही कर सका ।

भाषा की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रसाद का कवि व्यक्तित्व उनके कहानी साहित्य मे भी बार-बार जाग उठा है और बहुधा गद्यात्मक वातावरण के बीच मे काव्य का भावुक राग छेड कर, फिर नेपथ्य मे विलीन हो गया है इसीलिए उनकी कहानियो मे यत्र-तत्र गद्यगीतो का सयोजन प्राप्त होता है । बनारसी लोक-गीतो की भी अनेक पक्तिया उनकी कहानियो मे बिखरी पडी है जिनके विषय में प्रसादजी को विशद ज्ञान भी था । कही उन्होने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जहा कवि की भावुक्ता अविरल रूप मे बरस रही है । अघोरी का मोह यद्यपि प्रारम्भिक कहानी है किन्तु भाषा की लक्षणिकतायुक्त काव्यात्मकता दर्शनीय है—

"बरौनियो की जाली से इन्दु की किरणो मे घुस कर, फिर कोर मे से मोती बन-बन कर निकल भागने लगी ।"[४]

---

१ – आकाशदीप पृष्ठ १
२ — इन्द्रजाल पृष्ठ ३१
३—आकाशदीप, पृष्ठ १७०
४—प्रतिध्वनि, पृष्ठ १९

इसी प्रकार बिसाती मे वे लिखते है—

"पवन अपने एक-एक थपेडे मे सैकडो फूलो को रुला देता है।"[1]

आकाशदीप कहानी मे भी ऐसी ही काव्यात्मक भाषा का प्रयोग है जिसके माध्यम से प्रकृति की साध्य-वेला का नीलाभ वातावरण प्रस्तुत किया गया है। काव्य की भाति कहानी-साहित्य मे भी प्रसादजी ने प्रकृति के उपकरणो और व्यापारो का प्रस्तुतीकरण पात्रो के मनोभावो को पृष्ठभूमि मे रख कर किया है। प्रस्तुत दृश्य का विधान चपा की उन्मादपूर्ण मनःस्थिति को पार्श्व मे रखकर किया गया है --

" सामने शैल माला की चोटी पर, हरियाली मे विस्तृत जल, देश मे नील पिगल सध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलो से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनो हाथ पकड लिए।"[2]

शब्द-शोधन की यह कला और वातावरण-निर्माण का यह कौशल प्रसाद की अपनी वस्तु है। इसका प्रत्येक रग इतना चटक, प्रत्येक रेखा इतनी सूक्ष्म तथा प्रत्येक स्पर्श इतना स्निग्ध है कि वह प्रसाद-साहित्य मे ही नही वरन सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य मे अकेली वस्तु है। वातावरण-निर्माण की इस कला मे प्रसाद पटु थे, विशेप कर सम्पन्न व विलासपूर्ण वातावरण के चित्र उपस्थित करने मे उनकी कला अनुपम है। 'स्वर्ग के खण्डहर मे', 'बिसाती', 'पुरस्कार' 'समुद्र-सतरण', 'आकाशदीप' व 'सालवती' की वातावरण-योजना इसकी साक्षी है। ऐतिहासिक कहानियों मे ऐसे वर्णनो की प्रचुरता है और यह स्वभाविक भी है क्योकि उनमे वातावरण-निर्माण मुख्य वस्तु है, जिसकी किसी भी प्रकार उपेक्षा नही की जा सकती।

कहानी साहित्य मे चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत प्रसादजी ने पात्रो की द्वद्वात्मक स्थिति को सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है। तत्कालीन कहानी-साहित्य मे उपलब्ध आतरिक सघर्ष के चित्रण को देखते हुये वह महत्वपूर्ण वस्तु है। 'आकाशदीप', 'मधुआ' 'सालवती', 'पुरस्कार' आदि अनेक कहानियो मे उन्होने जिस कुशलता से पात्रो के हृदय मे उठते दो परस्पर विरोधी भावो का चित्रण किया है, वह दर्शनीय है। आकाशदीप की नायिका चम्पा का अन्तर्द्वन्द्व, जो पिता के घातक बुद्धगुप्त के प्रति प्रेम अकुरित होने के कारण उत्पन्न हुआ है, उसके इन शब्दो मे मुखर हो उठा है—

"विश्वास ? कदापि नही बुद्धगुप्त। जब मै अपने हृदय पर विश्वास नही कर सकी, उसी ने धोका दिया, तब मै कैसे कहू। मै तुम्हे घृणा करती हू।" फिर भी

१—आकाशदीप, पृष्ठ १६८

२—आकाशदीप, पृष्ठ ११

तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु ! तुम्हे प्यार करती हू।" चम्पा रो पडी।[1]

इस प्रकार अपने समय तक चली आती हुई कहानी-साहित्य की परम्परा मे प्रसादजी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लगभग सभी विद्वानो ने एकमत स्वीकार किया है कि उनकी कहानिया इस क्षेत्र मे नवीन रचना-विधान तथा अभिव्यक्ति की अभूतपूर्व विधा लेकर अवतीर्ण हुई। प्रसादजी ने साहित्य के अन्तर्गत जिन परम्परागत सस्कारो को ग्रहण भी किया, उन्हे एक सीमित परिधि मे और अपने मनोनुकूल ढाल कर किया जिनमे मौलिकता का विशेष योग है। इसीलिये सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनकी कहानियो मे अनेक स्थलो पर वस्तु व शिल्प सम्बन्धी विलक्षण सौदर्य के दर्शन होते है। प्रसादजी ने अपने साहित्य का निर्माण सवेदना प्रेम, मानवता आदि शाश्वत भावनाओ को आधार बना कर किया था और इसके फलस्वरूप उनकी कृतियो मे जीवन के विविध पक्षो एव युगीन समस्याओ का समावेश और प्रतिफलन भी स्वत. ही हो गया। शाश्वत साहित्य देश-काल की सीमा पार कर व्यक्ति को समान रूप से मुग्ध करता है और उसका सौदर्य तथा उपयोगिता देश अथवा काल विशेष के लिये न होकर, सर्वव्यापी और सर्वकालिक होती है किन्तु सामयिकता पर अवलबित साहित्य की शक्ति इतनी व्यापक नही है। किसी युग विशेष का ज्वलत प्रश्न कुछ समयोपरात महत्वहीन बन सकता है। और इस प्रकार वह उतना सर्वग्राह्य नही रहता, जितना अपने प्रणयन-काल में। यदि सामयिकता मे ही चिरतनता का रस भी घुला हो अर्थात वह विशिष्ट मानवीय व साहित्यिक सौदर्य से भी सयुक्त हो तो अवश्य उसकी महत्ता द्विगुणित हो जाती है। विश्व-साहित्य मे टॉल्सटाय का 'अन्ना केरेनिना', 'वार एण्ड पीस', विक्टर ह्यूगो का 'लामिजरेबिल्स' गोर्की का 'मा' आदि ऐसी कृतिया है जो तत्कालीन घटनाओ एव समस्याओ पर आधारित हैं किन्तु इन सबसे भी ऊपर है उनमे मानवता का उत्कृष्ट जयघोष और इस कारण वे हर देश काल के लिये अपनी तथा अमर है।

प्रसाद के कहानी साहित्य मे भी चिरतन तत्वो और वर्तमान प्रभावो का जो मणि-काचन सयोग है वह स्पृहणीय है। वस्तुत उस पर उनके उदात्त सास्कृतिक दृष्टिकोण, गम्भीर दार्शनिक प्रवृत्ति, स्निग्ध काव्यानुभूति और आभिजात्यापूर्ण व्यक्तिगत सस्कारो का स्पष्ट प्रभाव है। अतएव जन-जीवन से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बन्धित न होते हुये भी प्रसादजी की कहानियो की महत्ता इससे घटती नही. वरन् अपनी विशिष्टता के कारण हिन्दी साहित्यकी विशाल चित्रपटी पर वे विशेष रूप से शोभनीय है।.

●

१—आकाशदीप, पष्ठ

निबन्ध

प्रसाद के निबन्ध

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

प्रसाद के निबन्ध तीन प्रकार के है। प्रथम प्रकार के निबन्ध वे है जो लेखन के आरभिक काल मे लिखे गये थे। ये निबन्ध 'चित्राधार' मे मुद्रित हो चुके है। इनकी सख्या तीन है—प्रकृति-सौदर्य, सरोज और भक्ति। 'प्रकृति-सौदर्य' भावात्मक निबन्ध है, 'सरोज' वर्णनात्मक और भक्ति', विचारात्मक। इन निबन्धो मे से प्रथम दो मे सम्बोधन-शैली का व्यवहार मिलता है। 'सरोज' और भक्ति' मे सस्कृत के उद्धरण भी दिये गये है जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रसादजी निबन्ध लिखने के पूर्व उस विषय का यथोचित अध्ययन कर लिया करते थे। यद्यपि ये उनके आरम्भिक निबन्ध है तथापि सच्चे अर्थ मे उनके निबन्ध ये ही है। इसका तात्पर्य यह है कि निबन्ध लिखने के प्रयोजन से ही ये लिखे गये है, निबन्ध-लेखन के अतिरिक्त कोई और प्रयोजन इनका नही है। इन निबन्धो मे किसी प्रकार की कोई नूतन स्थापना करने का प्रयास नही है। जिस विषय पर ये लिखे गए है उन्ही विषयो का रूप स्पष्ट करना इनका उद्देश्य है। ये उस समय लिखे गये जब प्रसादजी की प्रवृत्ति रहस्योन्मुख तथा छायोन्मुख नही हुई थी। इसी से इनमे उस प्रकार की शब्दावली का व्यवहार नही है जो गूढ हो। नूतन स्थापना का प्रयास न होने के कारण भक्ति के सम्बन्ध मे सुमुखता दिखाई देती है। आगे चल कर उन्होने भक्ति को द्वैतवादी घोषित किया है। फिर भी लेखक का अभिनिवेश इन निबन्धो मे भी दिखाई देता है। 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैहि' उद्धरण मे आए हुए श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान और योग इन चारो मे उन्होने तारतम्य माना है। श्रद्धा की अपेक्षा भक्ति को पूर्ण कहा है। उन्होने लिखा है कि "उस धाराप्रवाह मे श्रद्धा जल है, भक्ति वेग है तथा उसका गमन ही ज्ञान है और उसका योग हो जाना ही महा सम्मेलन है।"

इनके दूसरे प्रकार के निबन्धो को अनुसधानात्मक लेख या प्रबन्ध कहा जा सकता है। ये वस्तुत अपने ग्रन्थो के ऐतिहासिक पक्ष के स्पष्टीकरण के लिये लिखे गये है। इनमे खडन-मडन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। खडन का अश अपेक्षाकृत कम है, मडन का पक्ष अधिक। इन लेखो से प्रमाणित हो जाता है कि प्रसादजी अत्यधिक अध्ययन करने के अनन्तर ये लेख प्रस्तुत किया करते थे। इन लेखो मे अधिकतर ऐतिहासिक तथ्यो का सीधे ही विचार किया गया है, केवल 'विशाख', 'अजात शत्रु' एव कामायनी' मे लेख के आरम्भ मे कुछ प्रस्तावना रूप मे भी कथित है। पर वह भी बहुत अधिक नही है, एक अनुच्छेद मे ही प्रस्तावना समाप्त कर दी गई

है। ये लेख वस्तुतः प्रसादजी के ऐतिहासिक तथ्यो पर वक्तव्य है। इनका प्रयोजन तत् ग्रन्थो मे स्वीकृत ऐतिहासिक घटना-सरणि का समर्थन करना है। इतिहास के उलझे हुए तथ्यो मे से अपनी कल्पना के अनुरूप समन्वयात्मक स्थिति ढूढ निकालना सहज कार्य नही है, किन्तु प्रसादजी ने अपनी सघटनात्मक शक्ति के आधार पर इस कठिन कार्य की परिपूर्ति कुशलतापूर्वक की है। इतिहास के विवादाग्रस्त प्रसगो मे नवीन मौलिक कल्पना करना प्रसाद जी की विशेषता है और उस कल्पना के समर्थन के लिये आधारभूत ग्रन्थो से सामग्री सकलित कर लेना, उनकी विवेक बुद्धि का प्रमाण है। इतिहास की सामग्री सस्कृत भाषा मे ही नही, अग्रेजी भाषा मे भी पुष्कल रही है। इन्होने अग्रेजी भाषा के ग्रन्थो का भी यथा स्थान आलोडन और उपयोग किया है। सबसे प्रथम 'स्कन्‍गुप्त' मे अग्रेजी-ग्रथो का उल्लेख मिलता हैं। 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' मे भी अग्रेजी-भाषा मे लिखित सामग्री का उपयोग किया गया है। इसका सबसे अधिक उपयोग 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' नामक प्रबन्ध मे किया गया है जो नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कोशोत्सव स्मारक सग्रह' में तथा उसकी मुख-पत्रिका मे मुद्रित हुआ था। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि यह प्रबन्ध भी उनके द्वारा लिखे जाने वाले उस 'सम्राट् इद्र' नामक नाटक की ऐतिहासिक भूमिका ही है जो किसी कारण से प्रस्तुत नही किया जा सका।

इन वक्तव्यो के शीर्षक उन्होने भिन्न भिन्न दिये है—प्राक्कथन, परिचय, कथा-प्रसग, परिशिष्ट, सूचना तथा आमुख। 'परिशिष्ट' 'स्कन्दगुप्त' मे मिलता है जो ग्रथ के अन्त मे सकलित है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के आरम्भ मे 'मौर्य्य-वश' नाम से तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यो का विवेचन किया गया है। कुछ वक्तव्यो के अत मे इन्होने अपना नाम नही दिया है, कही उपनाम दिया है, कही पूरा नाम दिया है, कही तिथि का उल्लेख नही है और कही विशेष प्रकार की तिथि का उल्लेख है जैसे 'कामायनी' मे 'महारात्रि १९९२' लिखा है। 'महारात्रि' शब्द यहाँ सप्रयोजन है। यो आश्विन शुक्ला अष्टमी का नाम महारात्रि है, पर महारात्रि का एक दूसरा अर्थ भी है 'प्रलय की रात्रि'। यह बतलाने की आवश्यकता नही कि कामायनी का आरभ प्रलय के दृश्य से किया गया है।

इन ववतव्यो मे कल्पित पात्रो के सम्बन्ध मे भी कुछ न कुछ कहा गया है। केवल 'कामायनी', अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त' और ध्रुवस्वामिनी' मे कल्पित पात्रो का विचार नही किया गया है। कल्पित पात्रो के नाम बहुत विमर्शपूर्वक रखे गये हैं। कही-कही इन्होने स्वय इसका उल्लेख कर दिया है, जैसे 'स्कन्दगुप्त' मे उसकी माता का नाम देवकी रखा गया है। इसका आधार 'हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमुभ्यपेत' है। यद्यपि यह नही लिखा गया है कि देवसेना और विजया नाम किस आधार पर रखे

गये है, तथापि ध्यान देने से इनकी सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है। 'स्कन्देन साक्षा-दिव देवसेनाम्' से देवसेना नाम की और 'श्री स्वय य वरयाचकार' के आधार पर विजया नाम की कल्पना की गई है। 'विजया' श्री (लक्ष्मी) का पर्यायवाची नाम है। इस विषय मे मैं विस्तृत विचार पहले कर चुका हूँ।[1]

इनके तीसरे प्रकार के निबन्ध साहित्यिक-आलोचनात्मक निबन्ध कहे जा सकते है। ये भी विशेष प्रयोजन से लिखे गये है। प्रसादजी ने साहित्य की जिन-जिन शाखाओ मे कार्य किया है उन-उनके सम्बन्ध मे इन निबन्धो मे कर्ता का पक्ष स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। कविता के क्षेत्र मे प्रसादजी स्वच्छन्दतावादी कवि के रूप मे सामने आते है। इनकी आरम्भिक रचनाएँ, वे चाहे ब्रजभाषा की हो, चाहे खडी बोली की, इनकी स्वच्छन्द मनोवृत्ति का परिचय देती है। धीरे-धीरे ये उस सरणि पर चले जो हिन्दी मे छायावाद के नाम से विख्यात है। छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति रहस्यवाद की प्रवृत्ति थी। इनकी कविताओ मे रहस्यवाद की जो झलक आरम्भ मे दिखाई देती है, वह तसव्वुफ या सूफीमत से प्रभावित है जैसा इनकी 'आँसू' की रचना मे स्पष्ट दिखाई देता है और जिसकी कुछ झलक 'कामायनी' मे भी रह गई है। रहस्यवाद की प्रवृत्ति के समर्थन के लिये प्रसादजी ने कश्मीरी शैव दर्शन का विशेष रूप से अध्ययन किया। साथ ही उपनिषद आदि मे जो रहस्यात्मक अश दिखाई पडे, उन सबका आकलन करके प्रसादजी ने यह स्थापना की कि रहस्य-वाद भारतवर्ष के जीवन मे विकसित होता आया है। छायावाद की वर्तमान कविता मे यही रहस्यवाद गृहीत हुआ है। यह स्थापना प० रामचन्द्र शुक्ल की उस धारणा के विरोध मे की गई है जिसमे उन्होने यह प्रमाणित किया है कि रहस्यवाद की प्रवृत्ति साहित्य के क्षेत्र मे अग्रेजी और बगला के साहित्यो के माध्यम से आई। अग्रेजी साहित्य मे उनके अनुसार रहस्यवाद की प्रवृत्ति सन्तो की देखादेखी आई और सन्तो मे वह रहस्यात्मक प्रवृत्ति सूफीमत का परिणाम है। शुक्लजी भारतवर्ष मे हठयोगियो का साधनात्मक रहस्यवाद ही स्वीकार करते है। तान्त्रिक साधना के बीच रहस्यात्मक साधना भी उन्हे स्वीकार्य है, पर अग्रेजो के सुझाव पर वे उपनिषदो मे रहस्यवाद मानने को प्रस्तुत नही है। प्रसादजी ने अपने निबन्ध मे जिस पक्ष का समर्थन किया है, उसका खंडन शुक्ल जी ने अपने 'सूरदास' नामक ग्रन्थ मे विस्तार से किया है। शुक्लजी के इस कथन मे अवश्य सत्य है कि भारतवर्ष मे रहस्यात्मक साधना चाहे जितनी रही हो, पर साहित्य की परम्परा मे उसका ग्रहण नही किया गया। हिन्दी मे रहस्यात्मक प्रवृत्ति का बीज सूफी कवियो के द्वारा ही बोया गया है। इसको ग्रहण करने का प्रयास हिन्दी की मध्यकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों

१—देखिये हिन्दी का सामयिक साहित्य' मे 'स्कन्दगुप्त और देवसेना' नामक निबन्ध।

ने अवश्य किया, पर वे केवल उमे ग्रहण करके ही रह गये और जो भी प्रवृत्ति उनमे दिखाई पडी उसका पर्यवसान श्रीकृष्ण की सगुण भक्ति मे आप से आप हो गया। रहस्यवाद की प्रवृत्ति सगुण ब्रह्म को लेकर दूर तक चल नही सकती, उनके लिये निर्गुण ब्रह्म की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है। आधुनिक कविता मे यदि सगुणवाद प्रतिष्ठित रहता तो उतना भी रहस्यवाद न आता जितना इन छायावादी कवियो मे दिखाई पडा। कही-कही कुछ कवियो ने रहस्यवाद की झलक भर दिखाई है। देव कवि का जो उदाहरण प्रसादजी ने उद्धृत किया है, वह रहस्यवाद की झलक भर देता है। ऐसा प्रयत्न तो स्वय तुलसीदास ने भी किया है। 'विनय-पत्रिका' मे उन्होने शरीर के अन्तर्गत लका और उसके राक्षसो की स्थिति बताकर रहस्यात्मक झलक भर दी है। इसे साहित्य की व्यवस्थित रहस्यात्मक प्रवृत्ति का अग नही माना जा सकता। अस्तु प्रसादजी की स्थापनाओ और शुक्लजी की मान्यताओ का खण्डन-मण्डन प्रस्तुत प्रसग मे अनपेक्षित है। यहाँ केवल दोनो महानुभावो का पक्ष समझाने के लिये स्पष्टीकरण किया गया है।

जैसा कहा जा चुका है, ये साहित्यिक निबन्ध [illegible]चित काव्यशाखाओ के पक्ष-स्थापन के लिये लिखे गये हैं। 'काव्य और कला' निबन्ध मे पश्चिमी दृष्टि से कला के अन्तर्गत काव्य को गृहीत करने का खण्डन किया गया है। निश्चय ही भारतवर्ष मे कविता कला नही मानी गई है। राजशेखर ने साहित्य को 'पचमी विद्या कहा है, और कलाओ को इसका सहायक तथा उपविद्या। दूसरा निबन्ध रहस्यवाद पर है जिसकी कुछ चर्चा पहले की जा चुकी है। रहस्य-सम्प्रदाय का वास्तविक स्वरूप प्रसादजी आत्मवादी एवम् अद्वैतवादी स्वीकार करते है। यह आत्मवाद विशुद्ध आनन्दवादी प्रवाह है। तीसरे निबन्ध मे रस का विचार किया गया है। यह निश्चित है कि रस-प्रवाह और अलकार-प्रवाह दो भिन्न-भिन्न प्रवाह है। प्रसादजी रस-प्रवाह से अपना सम्बन्ध रखने वाले है। मेरी धारणा है कि रस का सम्बन्ध नाट्य-प्रवाह से है और अलकार-प्रवाह का सम्बन्ध मूल रूप से श्रव्य-प्रवाह से। चौथा निबन्ध जिसका श्रव्य-काव्य या पाठ्य-काव्य से सीधा सम्बन्ध है, 'आरम्भिक पाठ्य-काव्य' नाम का है। इसमे प्रसादजी ने सगुण-प्रवाह मे मिलने वाले भगवत्-सकेत को मिथ्या रहस्यवाद कह कर अपने को उस प्रवाह से पृथक् घोषित किया है। मिथ्या रहस्यवाद के उदाहरण मे रसखानि के प्रसिद्ध सवैये का यह चरण उद्धृत किया है—

'ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत'

ऐसे ही उन्होने मिथ्या आदर्शवाद मे पद्माकर की निम्नलिखित पक्ति उद्धृत की हैं—

जानते न अधम-उधारन तिहारो नाम,
और को न जानें पाप हम तो न करते'

प्रसादजी जो कुछ कहना चाहते है, वह यह है कि वक्रोक्ति आत्मानुभूति से सम्बद्ध होनी चाहिये। इन कवियो ने जो कुछ कहा वह सत्य नही है। अर्थात् उनकी सच्ची आत्मानुभूति नही है। अर्थात् यो कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने अपने आनन्दवादी रहस्यवाद की ओर से इस प्रत्यक्षवाद का खण्डन किया है। इन चारो निबन्धो के द्वारा उन्होने यही सिद्ध और प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि काव्य की वास्तविक धारा रहस्यवाद की ही धारा है। शुक्लजी ने इसी बात का खण्डन किया है कि काव्य की वास्तविक धारा रहस्यवाद ही है। काव्य की वह भी एक शाखा हो सकती है, इसमे शुक्लजी को उतनी आपत्ति नही है। मेरी धारणा है कि भारतीय काव्य-प्रवाह मे रहस्यवाद के लिये स्थान नही है। यह दूसरी बात है कि रहस्यवादी काव्य भी उस प्रवाह के साथ जोड लिया जाय।

'नाटको मे रस का प्रयोग', 'नाटको का आरम्भ' और 'रगमच'—तीनो निबन्ध अपने नाटको की सरक्षा मे उन्होने लिखे है। प्रसादजी नाटको के सम्बन्ध मे भारतीय दृष्टि की यह स्थापना करना चाहते है कि यहाँ रस और उसका साधारणीकरण अभेदवादी कल्पना है। पश्चिमी देशो मे उपनिवेशस्थापन के लिये जो पुरुषार्थ दिखलाया गया, उसमे सघर्ष के कारण इस जीवन को 'ट्रेजेडी' या दुःखमय समझा गया। भारतीय नाटको या काव्यो मे जो सुखान्त स्थिति दिखाई देती है, उसका कारण उन्होने भारतीय आर्यों का निर्विकार आनन्द माना है। इसी लिये उन्होने यह बतलाया कि चरित्र-वैचित्र्य साधन हो सकता है, स्वयम् काव्य का साध्य नही। यह भी शुक्लजी की उस स्थापना का खण्डन है जिसमे उन्होने वाट्स डटन की मान्यता का खण्डन-मण्डन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि काव्य मे लोकमगल की सिद्धावस्था और साधनावस्था, दो अवस्थाएँ हो सकती है। लोक मगल की सिद्धावस्था को आधार बनाकर चलने वाले काव्यो को उन्होने उतना उत्कृष्ट नही माना जितना साधनावस्था वाले काव्यो को माना है। धर्म या कर्म की अभिव्यक्ति उसी क्षेत्र मे विशेष होती है। काव्य मे लोकमगल की सिद्धावस्था को मानकर चलना योगाभ्यास अथवा उन्मुक्त विलास की दृष्टि के अधिक अनुकूल पडता है। प्रसादजी के मित्र तथा हिंदी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प० केशवप्रसाद मिश्र ने प्रसादजी को 'तटस्थ विलासी' कहा था। यदि प्रसादजी के आनन्दवाद का वस्तुवादी विश्लेषण किया जाय तो कोई कह सकता है कि यह वस्तुतः उनके विलास मे विश्वास का दार्शनिक विश्लेषण है। इसी से शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा कि 'इनकी रहस्यवादी रचनाओ को देख, चाहे तो यह कहे कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिये रहस्यवाद का पर्दा मिल गया अथवा यो कहे कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूद कर असीम पर जा रही।'

'नाटको का आरम्भ' मे इन्होने नाट्य और नृत्य के एकीकरण से अभिनय

की पूर्णता मानी है। प्रसादजी के नाटको मे गीतो की भी योजना है, यथास्थान नृत्य भी नियोजित है जिनका सबध लोग पारसी कम्पनियो के नाटको से जोडते है। अर्थात् उनका कहना है कि प्रसादजी के नाटको मे गान ऊपर से चिपकाये हुए है। उनके रखने का वास्तविक कारण यह है कि उस समय जैसे नाटक थियेटरो के लिये लिखे जाते थे, उनमे गान और नृत्य का विनियोग मनोरजन की दृष्टि से किया जाता था। इसी का साहित्यिक परिष्कार प्रसादजी के नाटको मे दिखाई देता है। अपने पक्ष के स्पष्टीकरण के लिये उन्होने भारतीय नाटको के आरभिक स्वरूप और उनकी कथा का इसमे विवेचन किया है।

'रगमच' नामक निबध मे यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि रगमच के अनुरूप नाटको का निर्माण होने के बदले नाटको के अनुरूप रगमचो का निर्माण होना चाहिए। नाट्य-निर्माण और अभिनय दो भिन्न-भिन्न प्रकार के कौशल है। अभिनय एक प्रकार की कला है, इसलिये उसे साहित्य का सहायक होना चाहिये। प्रसादजी का यह पक्ष ठीक है। हिन्दी मे अभिनय-कला का उत्थान और उन्नत रग-शालाओ का निर्माण न हो सकना हिंदी के हितचिंतको के दोष के कारण है। बगला और मराठी भाषा वालो ने जिस प्रकार का विकास इस दृष्टि से किया है, वह हिन्दी वालो के लिये अनुकरणीय है। हिन्दी का क्षेत्र आधुनिक साज-सज्जा से समृद्ध नगरो से कुछ पृथक पडता है, यह भी कारण है जिससे आधुनिक रगमच की सारी सुविधाओ के सदुपयोग और समन्वय से प्राचीन रगशालाओ का हिन्दी के अनुरूप विकास करने मे हिन्दी वालो को कुछ बाधा होती है। कलकत्ते मे माधव शुक्ल ने हिन्दी रगमच के विकास के लिये अच्छा उद्योग किया था, पर वह परपरा वहा अनेक कारणो से न जीवित रह सकी और न समृद्ध हो सकी।

'यथार्थवाद और छायावाद' के अन्तर्गत उन्होने एक साथ कविता और कथा-कहानी के वादो का विचार किया है। यथार्थवाद की विशेषताओ मे वे प्रधान मानते है 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात'। उनकी दृष्टि मे वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। उनकी दृष्टि मे 'दु:खदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।' इसलिए वे आदर्शवादी और यथार्थवादी सिद्धान्त के सम्बन्ध मे स्पष्ट कहते है कि जहा आदर्शवाद सिद्धान्त के रूप मे आता है वहा साहित्यकार धार्मिक प्रवचन-कर्ता बन जाता है और जहा सिद्धान्ततः यथार्थवाद आता है, वहा वह इतिहासकार-मात्र होता है।

छायावाद का विचार करते हुए उन्होने 'छाया' शब्द का सस्कृत अर्थ लिया है जो 'सौन्दर्य' है। इस प्रकार वे 'छायावाद' को मुख्य रूप मे एक प्रकार की शैली ही स्वीकार करते है। पर उनका लक्षण है कि 'जब वेदना के आधार पर स्वानुभूति

मयी अभिव्यक्ति होने लगी तब उसे हिन्दी मे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया'। पूर्व की कविता बाह्य-उपाधि से युक्त थी। छायावाद ने आन्तरहेतु की ओर कविकर्म को प्रेरित किया।

प्रसादजी के निबन्धो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भारतीय परपरा के श्रद्धालु थे और उसमे विकास या नूतन उन्मेष चाहते थे। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे उन्होने जो कार्य किए, उनमे नूतन उन्मेष का यह प्रयत्न सर्वत्र दिखाई देता है। कविता मे आनन्दवाद और रहस्यवाद का जो नूतन उन्मेष उन्होने दिखाया उसे इस रूप मे भी समझा जा सकता है कि वे नई प्रवृत्तियो को अपनी ही परपरा मे ढूढने के अभिलाषी थे। भारत की यह प्रवृत्ति प्राचीन है और सस्कृत के पडितो मे बहुत अधिक पाई जाती है। इतना ही कह सकते है कि प्रसादजी मे वह अभिरुचि परिष्कृत रूप मे दिखाई देती है। नाटक के क्षेत्र मे भी उन्होने नूतन उन्मेष लाने का प्रयास किया था। उसी के परिणामस्वरूप उन्होने 'एक अक और एक दृश्य' की भारतीय पद्धति अपने आगे के नाटको मे गृहीत की जिसे प्रसादजी के आलोचक भ्रम से अग्रेजी का प्रभाव मानते है। 'स्कन्दगुप्त' मे पाँच अक भारतीय नाट्यशास्त्र की पचसधियो को ध्यान मे रखकर रखे गए है, इसे उनके अनुसधायको ने भी स्वीकार किया है। कथा-कहानी मे नूतन उन्मेष दो विभिन्न आलबनो के प्रति प्रेम के सघर्ष के रूप मे कई स्थानो पर दिखाया गया है। 'आकाशदीप' 'पुरस्कार' आदि मे यह स्थिति स्पष्ट है। यथार्थवाद के नाम पर 'ककाल' मे वर्णसकरी सृष्टि को जिस प्रकार उन्होने अधिकाश मे एकत्र किया है वह नूतन उन्मेष की दृष्टि से पृथक ही दिखाई देता है। इन्ही नूतन उन्मेषो के समर्थन मे ये निबन्ध लिखे गए है।

निबध-लेखन की प्रसादजी की पद्धति निश्चय ही नितराम् बधवाली है। उसमे कसावट पूरी है। शुक्लजी निबध को बौद्धिक श्रमसाध्य मानते है। प्रसादजी के यह निबध सचमुच बौद्धिक श्रमसाध्य है। यह दूसरी बात है कि विषय की स्थापना के लिये उन्होने अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई है। निबंध-लेखन की कसावट वाली शैली मे विषयान्तर के लिये स्थान नही है। इसी से इनके विचार सुविभक्त हैं और किसी प्रकार का फालतू विस्तार कही नही है। सर्वत्र भेद-भाव-शून्यता, राष्ट्रीय विचार की पोषणता और परपरा की नूतन मान्यता का ही प्रयत्न दिखाई देता है।

शैली दो प्रकार की होती है—आगमन और निगमन की। जहा सिद्धान्त की स्थापना पहले करके उसके पोषण मे दृष्टात उदाहरण आदि दिये जाते है, वह निगमन शैली कहलाती है और जहा दृष्टान्तो आदि से किसी सिद्धान्त पर पहुँचते है वह आगमन शैली होती है। प्रसादजी मे दोनो प्रकार की शैलिया पाई जाती है। आगमन शैली उनके लिये इसलिये भी विशेष अनुकूल थी कि उन्होने अपनी अभि-

व्यक्ति की सरक्षा के लिये इन निबधो का प्रणयन किया है। प्राचीन सस्कृत साहित्य का विशेष अध्ययन और उसका इन निबधो मे उपयोग होने का परिणाम यह भी हुआ कि इनकी रचना मे सस्कृत शब्दो का अत्यधिक प्रयोग है। अरबी फारसी के शब्द ढूँढने पर ही कही मिल सकते है। मुहावरो का प्रयोग भी क्वचित् ही है। बडे आश्चर्य की बात है, जिन प्रसादजी के नाटको, कहानियो तथा कविता तक मे, व्याकरण-च्युति दोष बहुधा मिल जाता है, उनके इन निबधो मे यह दोष ढूँढने पर भी नही मिलता। इसका एक ही कारण हो सकता है। वह यह कि प्रसादजी की कारयित्री प्रतिभा भाव-सबन्धित रही है। उस भाव के वेग मे व्याकरण की चितना प्रवेश नही पा सकी है। पर ये निबध उनकी भावयित्री प्रतिभा अथवा मनीषा के परिणाम है। इसी से इनमे शास्त्र-चिन्तन सजग रहा है। प्रसादजी के ये निबध हिन्दी मे अपने ढग के निबध है। उनकी छायावादी शैली ऐसी विशिष्ट शैली है जिसके कारण उनका व्यक्तित्व इनमे भरपूर झलकता है। छायावादी शैली के कारण यथास्थान उनमे गूढता हो सकती है, पर उसके कारण उनका स्वरूप ऐसा विशिष्ट है कि किसी प्रकार का मेल कथमपि नही किया जा सकता। हिन्दी मे गम्भीर एव पुष्ट विचारात्मक निबधो की कमी है। उनके अन्तर्गत जिन निबन्धो की गणना होगी उनमे इन निबधो का स्थान विशिष्ट निबधो मे होगा, इसमे सन्देह नही।

प्रसाद की भाषा-सम्बन्धी धारणायें

देवकी नन्दन श्रीवास्तव

प्रसाद आधुनिक भारतीय भाषाओ के उन सजग सामर्थ्यवान साहित्यकारो की परम्परा मे आते है जिन्होने पाश्चात्य विचारधारा के सपर्क से समुचित लाभ उठाते हुए भी अपने जातीय एव राष्ट्रीय सस्कारो को उमसे अभिभूत नही होने दिया। अतीत के रगीन वैभव की ओर आकर्षण रखते हुए भी जर्जर रूढियो से चिपटे रहने से उन्हे चिढ थी। साथ ही नवीनता और मौलिकता के अतिनाटकीय आग्रह से भी वे दूर थे। उनकी आस्थाये जीवन और साहित्य की अनेक दिशाओ मे बिखरी होने पर भी स्वाध्याय एव आत्म-निरीक्षण के सुदृढ आधार पर टिकी हुई थी। लगे हाथ लिख या रच देने की चलताऊ प्रतिभा के पाश से उनका व्यक्तित्व मुक्त था। विभिन्न साहित्यागो के क्षेत्र मे अद्भुत सृजनात्मक शक्ति रखते हुए भी प्रकाशित प्रयोगो मे सस्कार-परिष्कार लाने की चेष्टा का तिरस्कार उनमे नही था। कालक्रम से उनकी कृतियो मे उत्तरोत्तर प्रौढता के विकास की आधारशिला उनकी यही प्रयोगशीलता है जो खडीबोली और छायावाद की समूची प्राण-शक्ति को 'कामायनी' के उस सास्कृतिक स्तर पर अधिष्ठित कर गई जो इस बीसवी शताब्दी मे हिन्दी की भाषा-शक्ति के प्रतीक रूप मे उपस्थित किया जा सकता है।

वस्तुत. प्रसादजी की प्रत्येक कृति एक विशिष्ट दिशा मे उनका प्रयोग कही जा सकती है। सर्वथा एक ही ढाचे पर और एक ही साचे मे रचनाओ को ढालने की प्रवृत्ति मानो उनके बहुमुखी मानस मे विरसता का सचार करती थी। क्या कविता, क्या नाटक, क्या कहानी, क्या निबध और क्या उपन्यास सर्वत्र उन्होने कोई न कोई मार्मिक सकेत दिया है। ऐतिहासिक अनुसधान और सामाजिक चिन्तन के प्रति उनकी निरन्तर जागरूकता के कारण ये सकेत कही कही बडे गहरे एव रहस्योद्‌घाटक सिद्ध हुये है। उनकी यह विशेषता भाषा के क्षेत्र मे भी प्रत्यक्ष है।

प्रसादजी की धारणा बडे ऊहापोह के बाद आस्था का रूप धारण करती थी एक बार जम जाने पर उसे डावाडोल कर देना असभव था। इसी मूलबद्ध आत्म-विश्वास के बल पर अपने समकालीन कई चोटी के समीक्षको के घोर विरोध के वातावरण मे भी आजीवन उनकी असाधारण मेधा तीव्र स्वरो मे मुखरित होती रही और उसने कितने ही मेधावी समीक्षको को आत्मसमीक्षण के लिये विवश किया।

प्रसाद की भाषा-विषयक मान्यताओ को भी अनेक केन्द्रो से कटु आलोचना का आलम्बन बनना पडा और किसी न किसी सीमा मे आज भी उनके विषय मे आरोपो की

संख्या कम नही यद्यपि लगभग उन सभी आरोपो का निराकरण कही न कही प्रसादजी स्वय कर चुके है और बचे खुचे अश उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा के प्रवाह मे लुप्त हो चले है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, और निबध इन सभी क्षेत्रो मे उनकी भाषा भावानुकूल एव पात्रानुकूल बदलती चली है और उसके अतरग एव वहिरग दोनो ही पक्षो का विश्लेषण कलात्मक, व्याकरणिक, काव्यशास्त्रीय, भाषा-वैज्ञानिक एव सास्कृतिक दृष्टि से सभव है, फिर भी उनमे एक प्रकार की सस्कारगत एकसूत्रता सर्वत्र व्याप्त है। यह एकसूत्रता उनकी ओजमयी भावुकता, बहुरगी कल्पना, नाटकीय कुतूहल-वृत्ति, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता मे तथा इन सब मे बिखरी हुई एक दार्शनिक की बौद्धिकता की छाप मे देखी जा सकती है।

समष्टि-रूप से प्रसाद की भाषागत उद्‌भावनाओ को हृदयगम करने के लिये इस विषय मे उनके स्वत. अभिव्यक्त उद्‌गारो का परिचय आवश्यक है जिनके गर्भ मे ब्रज भाषा के छदो से लेकर खड़ीबोली के नवीनतम चतुर्दशपदियो एव गीत-विधान तक के उनके नानाविध प्रयोगो के बीच चलते हुये मथन का इतिहास छिपा हुआ है। प्रस्तुत प्रसग मे उनके 'काव्यकला तथा अन्य निबध' मे अभिव्यक्त विचार विशेष प्रामाणिक एव महत्वपूर्ण है।

सिद्धान्त रूप मे 'कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता न मानने के कारण अनुभूति के लिये शब्द-विन्यास-कौशल की प्रसादजी अत्यन्त आवश्यकता नही समझते। उनकी दृष्टि मे 'व्यञ्जना वस्तुत अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वय परिणाम है क्योकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। . काव्य मे, जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरक है, वही सौन्दर्यमयी और सकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति मे रमणीय आकार मे प्रविष्ट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना विन्यास मे कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है।[1]

स्पष्ट है कि प्रसादजी अभिव्यक्ति की पूर्णता को आत्माभिव्यक्ति की तीव्रता का ही परिणाम मानते है। दूसरे शब्दो मे भाषा की सामर्थ्य मूलत वे भाव की गहराई मे ही सन्निहित समझते है। अपनी इस धारणा को उन्होने एक उदाहरण द्वारा पल्लवित करना चाहा है:—

'कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति मे तुलसीदास सूरदास से पिछड गये है। तो क्या यह मान लेना पडेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नही थी जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नही कर सके ? किन्तु यह बात तो नही है। सोलह मात्रा के छन्द मे अन्तर्भावो को प्रकट करने की जो विदग्धता उन्होने दिखाई, वह कविता-ससार मे विरली

१. 'काव्य और कला' तथा अन्य निबन्ध पृ० ४४

है। फिर क्या कारण है कि रामचन्द्र के वात्सल्य रस की अभिव्यजना उतनी प्रभावशालिनी नही हुई, जितनी सूरदास के श्याम की। मै तो कहूगा यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य मे सकल्पात्मक एव मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण .. ..दोनो कवियो के शब्द-विन्यास-कौशल पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानूभूति की प्रधानता है वही अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र मे पूर्ण हो सकती है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्यशरीर सुन्दर हो सका है।[1]

काव्य-भाषा की रमणीयता की आधारशिला व्यापक रूप मे कवि की आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति ही हो सकती है– ऐसा उनका निश्चित मत है। साथ ही विषय विशेष के अनुरोध से भाषा की शक्ति उभर सकती है यह सकेत भी यहा ध्वनित है।

साहित्य मे प्रयुक्त एक एक शब्द के पीछे अनेक परम्पराओ का इतिहास होता है भाषा के इस सास्कृतिक पक्ष के प्रति भी प्रसादजी की सूक्ष्म सजगता यत्र-तत्र प्रत्यक्ष है। भाषादर्श के शास्त्रीय धरातल पर इस दृष्टि से उनकी धारणा औचित्यपरक कही जा सकती है। रहस्यवाद के प्रसग मे 'काम' शब्द के अर्थ-विकास का विश्लेषण करते हुए उनके निम्नलिखित वाक्य उनकी भाषाविषयक गहरी पैठ के परिचायक है. —

'कुछ लोगो का कहना है मेसोपोटामिया या बाबिलन के बाल, ईस्टर प्रभृति देवताओ के मन्दिरो मे रहने वाली देवदासिया ही धार्मिक प्रेम का उद्‌गम हैं और वही से धर्म और प्रेम का मिश्रण, उपासना मे कामोपभोग इत्यादि अनाचार का आरम्भ हुआ तथा यह प्रेम ईसाई धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव धर्म को मिला किन्तु उन्हे यह नही मालूम कि काम का धर्म मे अथवा सृष्टि के उद्‌गम मे बहुत बडा प्रभाव ऋग्वेद के ही समय से ही माना जा चुका है—यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम शब्द से वह शब्द अधिक व्यापक भी है। जबसे हमने प्रेम शब्द को love या इश्क का पर्याय मान लिया, तब से 'काम' शब्द की महत्ता कम होगई। सम्भवत विवेकवादियो की आदर्शभावना के कारण इस शब्द मे केवल स्त्री पुरुष सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा।'[2]

शब्द-प्रयोग के औचित्य के प्रति प्रसाद की यह निष्ठा कही कही अर्थों के ऐतिहासिक अनुसधान की प्रबलता के साथ व्यक्त हुई है जैसे 'यवनिका' को लेकर उनका निम्नलिखित वाक्य —

''कुछ लोगो का कहना है कि भारत मे 'यवनिका' यवनो अर्थात ग्रीको से

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ४४-४५

२ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ४७

नाटको मे ली गई है, किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष मे-प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्कारिणी मा तथा हलायुध मे अपटी काडपट स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी।

इसमे 'य' से नही बल्कि 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। 'जव' का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब जवनिका उस पट को कहते है, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके।"[1]

अनेक प्राचीन भारतीय शब्दो को बिना सोचे समझे विदेशी स्रोतो से आया हुआ मान लेने की भ्राति के निराकरण की यह चेष्टा प्रसाद के प्रबल राष्ट्रीय एव जातीय सस्कार की द्योतक है जो उनकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि के निर्माण मे सहायक हुई है।

भाषा की सरलता एव क्लिष्टता के सबध मे भी प्रसाद का दृष्टिकोण बडे स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त हुआ है। विशेष रूप से नाटको की भाषा के प्रसग मे कुछ आलोचको के आरोपो का उत्तर देते हुए उन्होने कहा था कि '" प्रभाव का असवद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। .. ..

भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शको और समालोचको का अभाव नही, किन्तु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गाई गई गजलो के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर तीन बार तालिया पीटते है। क्या हम नही देखते कि बिना भाषा के अबोल चित्रपटो के अभिनय मे भाव सहज ही समझ मे आते है और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दो की व्याख्या ही है? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दो को समझाने का काम रगमच से अच्छी तरह करता है।'[2]

यहाँ प्रसादजी का निश्चित सकेत यह है कि नाटकीय प्रभाव की सुसबद्ध योजना के लिये भाषा की सरलता अनिवार्य नही कही जा सकती। वस्तुविन्यास की गम्भीरता के अनुकूल ही भाषा भी गूढ हो सकती है।

पात्रानुकूल भाषा के स्वरूप-विधान की स्वाभाविकता के सबध मे भी प्रसादजी का अपना दृष्टिकोण है जो पात्रो के स्थूल बहिरग भेद के आधार पर नही वरन् सूक्ष्म मनोवृत्तियो के आधार पर भाषा-भेद की व्यवस्था का पोषक है जैसा उनके निम्नलिखित वाक्यो से स्पष्ट है—

"एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रो की अपनी होनी चाहिये और इस तरह कुछ देहाती पात्रो से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत मे जिस प्राकृत का सस्कृत से सबध कराया गया था, वह बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम सी थी। सीता इत्यादि भी सस्कृत

---

१ 'काव्यकला' तथा अन्य निबन्ध—रगमच पृ० ९८

२ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० १०८-१०९

बोलने मे असमर्थ समझी जाती थी। वर्तमान युग की भाषा-सम्बन्धी प्रेरणा भी कुछ वैसी ही है किन्तु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक मे लखनवी उर्दू मुगलो से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नही है। फिर राजपूतो की राजस्थान भाषा भी आनी चाहिये। यदि अन्य असभ्य पात्र है तो उनकी जगली भाषा भी आनी चाहिये। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जाएगा ? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी नाटको के लिये ही है।'[1]

भाषा की देशकालपात्रानुसार स्वाभाविकता की सीमाओ का निर्देश करते हुए भाषा की साहित्यिक एकरूपता की मर्यादा की ओर प्रसादजी ने अपना जो आग्रह व्यक्त किया हैं वह आज भी हिन्दी भाषा से सबधित समस्याओ के समाधान मे सहायक सिद्ध हो सकता है।

भाषा की सरलता और क्लिष्टता का आधार भी प्रसादजी के अनुसार बहिरग प्रयोगो मे नही वरन् वर्णित भावो और विचारो के मूल मे ही विद्यमान है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि 'सरलता और क्लिष्टता पात्रो के भावो और विचारो के अनुसार भाषा मे होगी ही और पात्रो के भावो और विचारो के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटको मे होना चाहिये, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचडी भाषाओ का प्रयोग हिन्दी नाटको के लिये ठीक नही।'[2]

भाषा की एकतत्रता के प्रति प्रसाद का तीव्र ममत्व भाषा की जीवनीशक्ति एव गतिशीलता के क्षेत्र मे उनकी पैनी परख का परिचायक है।

प्रसादजी के अनुसार सास्कृतिक दृष्टि से भी भाषा मे पूर्ण एव सबल अभिव्यक्ति की क्षमता होनी आवश्यक है और यह तभी सभव है जब भाषा का व्यवहार पात्रगत सस्कृति का दृढ आधार लिये हो—उन्ही के शब्दो मे—

'पात्रो की सस्कृति के अनुसार उनके भावो और विचारो मे तारतम्य होना भाषाओ के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सास्कृतिक दृष्टि से भाषा मे पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिये।'[3]

युग की नवीन आवश्यकताओ के अनुरूप भाषा मे नवीन शब्दो की अवतारणा प्रसादजी उपयोगी ही नही वरन् अनिवार्य समझते हैं। छायावादी कविता के सूक्ष्म आभ्यतर भावो की अभिव्यक्ति के लिये नवीन शब्द-योजना की अपेक्षा पर बल देते हुए वे कहते है—

'आभ्यंतर सूक्ष्म प्रेरणा वाह्य स्थूल आकार मे भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। ...... हिन्दी मे नवीन शब्दो की भगिमा स्पृहणीय आभ्यंतर वर्णन के

१ 'काव्यकला तथा अन्य-निबन्ध' रगमच पृ० १०९

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० १०६-११०

३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ११०

लिए प्रयुक्त होने लगी । शब्द-विन्यास मे ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तडप उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया.... .. ।

'शब्दो मे भिन्न प्रयोग से एक स्वतत्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने मे सहायक होते है। भाषा के निर्माण मे शब्दो के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थबोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द शास्त्र मे पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण है। इसी अर्थ चमत्कार का महात्म्य है कि कवि की वाणी मे अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य मे मान्य हुए ।'[1]

इन वाक्यो से यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि प्रसादजी 'विलक्षण' अर्थ का चमत्कार उत्पन्न करने की कला को भाषा की शक्ति एव स्फूर्ति का एक प्रधान लक्षण मानते है।

प्रेम और सौन्दर्य के गायक प्रसाद की अभिरुचि भाषा के शृगार-क्षेत्र मे भी प्रत्यक्ष है। भाषा मे कान्ति एव वैचित्र्य का सृजन करना वे कवि-कौशल की अत्यन्त महत्वपूर्ण कसौटी मानते है। उनके अनुसार—

'शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। और इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है । वैदग्ध्य भगी भणिति मे शब्द की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप मे अवस्थित होती है।'[2]

इस छायामयी वक्रता की सृष्टि मे भाषा के व्याकरणिक रूपो के विशिष्ट प्रयोगो के योगदान का सकेत करते हुए प्रसादजी कहते है कि 'कभी कभी स्वानुभव सवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये सर्वनामादिको का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—वे आखे कुछ कहती है। .... केवल भगिमा के कारण 'वे आखे' मे 'वे' एक विचित्र तडप उत्पन्न कर सकता है।'[3]

यही पर यह भी सकेत कर देना अप्रासगिक न होगा कि भाषा-भगिमा के सबध मे प्रसाद की उक्त धारणा पर कुतक जैसे वक्रोक्तिवादी सस्कृत आचार्यों की प्रेरणाओ की छाप प्रत्यक्ष है।

प्रसादजी प्रमुखत जिस धारा के कवि समझे जाते है उसके स्रोत को पूर्णत पाश्चात्य कहकर उस धारा पर अभारतीयता का मिथ्या आरोप करने का दुस्साहस करने वाले समालोचको का मुँह बद करने के लिये अपनी धारणाओ को भारतीय आचार्यों की परपरा से जोड देने की प्रवत्ति अपनाना भी उनके लिये एक

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० १२३

२ वही पृ० १२५

३ वही पृ० १२५-१२६

प्रकार से अनिवार्य हो गया था । भाषा के नवीन कलापक्ष का आधार भी प्रसादजी को कदाचित् इसीलिये प्राचीन भारतीय साहित्य मे खोज कर रखना पडा ।

प्रसाद की अपनी रचनाओ की भाषा मे उनके द्वारा प्रस्तुत सारी मान्यताये भले ही पूर्णरूपेण चरितार्थ न हुई हो और यह भी सत्य है कि उनकी कई प्रारम्भिक कृतिया उनके स्वनिर्धारित भाषा की कसौटी पर खरी नही उतरती फिर भी उनका अधिकाश साहित्य उनके भाषादर्श का पूर्ण एवं सफल प्रतिनिधित्व करता है और इस दिशा मे भी उनकी आस्थाये हिन्दी जगत को ही नही वरन इतर भारतीय भाषाओ के साहित्य को भी अनेक अशो मे अपेक्षित प्रेरणा दे सकती है ।

"उस पार तमिस्र परिधियों के......"

दयाव्रत

जब 'प्रसाद' जी की आत्मा से प्रथम बार सम्पर्क स्थापित किया तो यह रहस्य अपने तक छिपाये रहा। सोचता था शीघ्र ही वह युग आएगा जब आत्माऽवाहन का सम्बन्ध विश्वास या आस्था से नही, तथ्य से होगा। युग आकर भी नही आया। क्या पता कब आये ! क्या प्रतीक्षा करना ठीक है ? सुना है युग आते नही, लाये जाते है. . . ।

आत्माऽवाहन एक सत्य है। मेरे निकट वह इतना प्रकट है जितना यह कि मै लिख रहा हूँ। आज, सयोग की बात है कि प्रसाद-जयन्ती है। रह रहकर मेरे मन मे उन रातो की स्मृतिया हलचल मचाती है, जब मै माध्यम के होठो से घण्टो तक उस प्रसादवाणी को सुनता था, उन आश्वासनो से आश्वस्त हो, उनकी मधुर समवेदना मे खोया रहता था।

जिस माध्यम के प्रयोगो की सफलता और सत्यता को मै ही नही अन्य अनेक तटस्थ व्यक्ति जाच चुके थे, एक दिन उसी ने सुझाया, प्रसादजी को बुलाये !

मुझे ऐसा लगा, मानो दूर विदेश मे मुझे अचानक पता चला हो कि उसी नगर मे मेरा एक घनिष्ट मित्र बहुत दिनो से अज्ञातवास कर रहा हो और मेरे सम्मुख यह प्रस्ताव रखा जा रहा हो कि, चलो उससे मिले।

प्रसादजी इस दृष्टि से भाग्यवान थे कि उन्हे हिन्दी पाठको की सर्वाधिक श्रद्धा मिली। पार्थिव निधन ने, उनके और हमारे बीच, जो स्थूल भीत थी वह भी ढा दी। हिन्दी-जगत ने प्रसाद का काव्य ही नही अपनाया प्रत्युत उस काव्य के माध्यम से उस विशाल हृदय को भी अपनाया है।

उनकी आत्मा का आवाहन मेरे अन्य आवाहनो मे सबसे अधिक स्फूर्तिमय था।

...... एक दिन जीवन के प्रति एक तटस्थ वितृष्णा का भाव देख कर मैंने उनकी आत्मा से प्रश्न किया,

—क्या आपने अपने जीवन मे अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया था ?

उन्होने उत्तर मे कहा

जीवन का लक्ष्य जीवन से इतर कुछ नही होता, जहा तक जीवन को ले जाया जाये। ऐसा भी कभी नही होता कि जिस प्राणी का जो लक्ष्य हो वह जीवन मे उसे प्राप्त न हो। जो कुछ प्राप्त करने के लिये एक आत्मा शरीर धारण करती है,

यदि उसे ही तुम जीवन का लक्ष्य कहते हो, तो वह तो उसे निश्चय ही प्राप्त हो जाता है। हाँ, जीवित अवस्था मे प्राणी जो कुछ प्राप्त करने का मनोरथ करता है, वह कल्पना के पूर्व-अङ्कित रूप मे कम प्राप्त होता है। उसके न मिलने से कुछ विशेष अन्तर भी नही पडता। सच तो यह है, जीवन-काल मे एक व्यक्ति जो कुछ प्राप्त कर लेता है, वही उसका लक्ष्य है।

—और जो कुछ वह प्राप्त नही कर पाता ?

—वह उसके अगले जीवन का लक्ष्य बन सकता है।

—किन्तु हम जो कुछ पा लेते है, उसे लक्ष्य नही कहते, जो पाना होता है, लक्ष्य तो उसे कहते है।

—जिसकी प्राप्ति निश्चित है आत्मा का लक्ष्य तो वही होता है, कहो कुछ भी। तुम मेरी बात समझो। आत्मा जो कुछ पाने के लिये जन्म लेती है, वह उससे कोई नही छीन सकता। हा, इस बीच मे अपनी स्वतन्त्र इच्छाए बना सकता है। पर उसकी वह सब इच्छाये पूर्ण ही होगी, ऐसी बात नही।

—आपकी पार्थिव मृत्यु हो चुकी है। अब भी आपके पास स्मृतियाँ है, निर्णयात्मिका बुद्धि है और बहुत कुछ है जो पार्थिव शरीर के साथ जुडा था। जो कुछ आपने पाना चाहा, और न पा सके, क्या इसका दुःख उन स्मृतियो मे न होगा ? स्मृतिगत दुःख या सुख दोनो ही, इस समय आपकी आत्मा के साथ है। उन्ही के आधार पर तो आत्मा अपना लक्ष्य स्थिर करेगी ?

—हा, इस प्रकार वह, जो मै न पा सका और यदि अब भी पाना चाह, तो वह पाने के लिये मुझे जन्म धारण करना होगा और मै वह अवश्य पा लूँगा। ऐसी स्थिति मे मेरे अगले जन्म का वही लक्ष्य होगा और मुझे अवश्य मिलेगा।

मै चाहता था कि यदि उनकी आत्मा मुझे तनिक अवसर दे तो मै उनके जीवन के विषय मे कुछ पूछूँ। पर, वह तो वार्तालाप को खे कर अपनी दिशा मे ले जाते थे और मै झुँझलाता रह जाता था।

एक दिन आवाहन चक्र पर बैठने से पहले ही दृढ विचार बना लिया कि आज सब कुछ पूछगा। यह बात मैने अपने हृदय मे ही रखी, माध्यम को नही बतायी।

चक्र पर उनकी आत्मा ने आते ही कहा,

—कोई व्यक्तिगत प्रश्न नही।

मै स्तब्ध रह गया कुछ खिसिया भी गया।

दुबारा फिर यही आदेश मिला,

—कोई व्यक्तिगत प्रश्न नही।

अब तक के आवाहनो की घनिष्ठता मानो उन्होने क्षण भर मे तोड दी। मानो यह वह प्रसादजी नही थे जो घण्टो मुझे तर्क मे उलझाये रहते थे, सम्बल भी देते रहते थे। अचानक बडे दूर-से लगने लगे। ... यह विचार मन मे कौंध गया, क्या इनकी आत्मा को उस स्मृति से कष्ट पहुचेगा, इसलिये मना कर रहे है।

मेरे अन्दर का हठी बालक जग गया। मैने उनके आदेश की चिन्ता न करते हुए, उनके असन्तुष्ट होने की चिन्ता न करते हुए, कुछ भी चिन्ता न करते हुए, मन्त्रवत् कहा,

—नहीं मुझे पूछना है 'आसू' ......

मैने सुना, माध्यम की ध्वनि तीव्र और गम्भीर हो गयी थी मानो कोई कुए मे से बोल रहा हो। वह कह रहे थे,

—काव्य की नायिका उस इष्ट प्रतिमा की भाति है जो अपने आराधक को मुक्ति तक देती है पर स्वय मिट्टी होने का शाप सदा शीस पर सभाले रहती है। . उसका पता क्यो चाहिये ? . उसकी मिट्टी अपवित्र हो जायेगी।

"उसकी मिट्टी अपवित्र हो जायेगी"–इस वाक्य मे निहित श्रद्धा की असीमता से मै जो कुछ समझ गया, वह उनके 'पता बताने' से न समझता।

वह कहते रहे,

— काव्य की वेदना से दुखी होने की मूर्खता करना मन्दिर मे रसोई बनाना है। 'आसू' मे वेदना तो व्याजमात्र है, काव्य को बल देने भर के लिये है। काव्य मे कवि अपने सुख-दुःख की चर्चा करता है क्योकि सुख दुःख सार्वभौम है। तुम उसे घर गृहस्थी की चर्चा समझ कर उनमे छिपे व्यक्तियो का परिचय खोजना चाहते हो।

उनकी आत्मा को साहित्यिक चर्चा अधिक प्रिय थी और अब भी है, व्यक्तिगत नही। मुझे समझाते हुए कहते रहे,

—वेदना के न रहने पर भी 'आँसू', 'आसू' रह सकता है क्या ?

मेरे मना कर देने पर बोले,

—'आसू' वेदना से उत्पन्न अवश्य हुआ है फिर भी वह वेदना पर पूर्ण आश्रित नही है। वह उससे मुक्त हो सकता है। 'आसू' तो एक काव्य-सृष्टि-विशेष का वातावरण है। वेदना ने उसका निर्माण किया हो इससे क्या ? उस वातावरण मे सुख भी रह सकता है। उसमे आनन्द को स्थान है। 'आसू' के प्रवाह मे कुछ और भी लिख सकता था जिसका वातावरण 'आसू' सा होता। सोचो, जिस रूप को 'आँसू' मे रोते हुए देखा है और वह प्रिय लगा है, वह रूप यदि मुस्काये तो क्या प्रिय नही लगेगा ?

मैने अचानक फिर व्यक्तिगत प्रश्न करते हुए कहा,

—आप अब क्यो नही लिखते ! जैसे अब बोल रहे है – ऐसे ही बोलते चले कैसा अच्छा हो ?

यह सुनकर उन्होने अपनी असमर्थता इन शब्दो मे व्यक्त की ·

—जब लिखना न श्रेय है और न प्रेय तो मै यह निराधार निर्माण क्यो करने लगा ? हाँ तुम लिखो मैं देखता चलूँगा ।

—आप क्यो नही लिखते ?

—तुम लिखोगे । मै देखता चलूगा । जिस दिन तुम वह लिखोगे, तुम्हे आभास भी न होगा कि तुम लिख रहे हो ।

वर्ष बीतते गये ।

इस बीच मे बहुत उथल पुथल रही । जीवन के शेषनाग ने कई बार फन बदला और मेरे जीवन मे भूचाल आगये । भूचाल भी ऐसे जिन्होने आकाश को धरती पर बिछा दिया । आत्माऽवाहन सम्बन्धी प्रयोगो के रहस्य-जालो ने मुझे चारो ओर से उलझा लिया । सकेत रूप मे उनका वर्णन मै अपने उपन्यास 'नही मरेगे' मे कर चुका हू । माध्यम पास रहते हुये भी बहुत दूर हो गया और वर्षो बाद कभी 'प्रसाद' जी की आत्मा से मिलना होता । क्या-क्या बाते हुई. उन सबके लिये यहाँ स्थान नही है । हिन्दी साहित्य के विषय मे उन्होने जो भविष्यवाणियाँ की, वह ज्यो की त्यो सत्य हुई । उनकी बाते या तो आत्मा सम्बन्धी होती या हिन्दी साहित्य सम्बन्धी, विशेषकर मेरे साहित्यगुरु प्रात स्मरणीय प० दुर्गादत्त त्रिपाठी के अप्रकाशित महान् साहित्य के विषय मे बहुत कुछ कहते थे । हा उनके साहित्य के विषय मे 'अप्रकाशित' शब्द के स्थान पर सदा 'स्वतः प्रकाशित' शब्द प्रयुक्त करते थे । आरम्भ मे तो उनके इस विशेष प्रयोग से वाक्य का अर्थ समझना भी कठिन हो जाता था । हिन्दी प्रकाशको के विषय-चर्चा चलने पर वह अपनी सयत भाषा की सीमा मे जितने कटु हो सकते थे, हो गये ।

लगभग बीस वर्ष पश्चात वह घटना घटी जब मैने 'अभियान' के अन्तिम चरणान्तर्गत यह पद लिखा,

> **तुम भावदूत हो, जाकर**
> **उनका एकान्त बुला दो,**
> **मेरे एकान्त प्रहर का**
> **यों कुछ तो मन बहला दो !**

जिसकी अर्थ-अस्पष्टता से मै अब भी असन्तुष्ट हूँ किन्तु अभियान के कई अन्य पदो की भाति इसे भी यो ही छपने दे रहा हू । 'प्रसादजी' की इच्छा ऐसी ही है ।

वैसे तो साहित्य-सृजन सदा ही प्रेरणा पर निर्भर होने के कारण आत्मविस्मृति की मनःस्थिति लेकर आता है। पर 'अभियान' यह सत्य है, एक सम्मोहित-सी स्थिति मे लिखा गया है।

मेरे एक मित्र यह चाहते है कि मै उपर्लिखित अनुभव को पुष्ट करने के लिए कुछ प्रमाण दू। मै प्रमाण ऐसे दे सकता हूँ, और दूगा कि ससार को अपनी आँखो और अपने कानो पर भी शायद विश्वास उठ जाये, पर इस समय इन बातो को लिखने के पश्चात मेरे मन मे एकमात्र इच्छा यह है कि शीघ्र से शीघ्र 'प्रसादजी' की आत्मा से फिर सम्बन्ध स्थापित करू, प्रमाण चाहने वाले प्रतीक्षा कर सकते है।